

प्रवचनसार का सार

(प्रवचनसार के सार विषय पर डॉ. भारिल्ल के २५ प्रवचनों का संकलन)

प्रवक्ता एवं संपादक

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पी-एच.डी.

संकलनकर्ता

ब्र. यशपाल जैन एम.ए.

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

फोन : २७०७४५८, २७०५५८१

प्रथम संस्करण : ५ हजार

(२२ अप्रैल, २००५)

महावीर जयन्ती

जैनपथप्रदर्शक के रूप में : ३ हजार ३००

योग : ८ हजार ३००

मूल्य : तीस रुपये

टाइपसेटिंग :

त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स

ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५

मुद्रक :

प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड

बाईस गोदाम, जयपुर

ध्यान दें...

अभिनन्दन ग्रंथ के रूप में प्रकाशित 'तत्त्ववेत्ता : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल' ग्रन्थ द्वितीय संस्करण भी छप कर तैयार है, जिसकी मुद्रित कीमत १५० रुपये है; वह अभी १०० रुपये मूल्य पर बिक्री के लिए उपलब्ध है।

राजस्थान विश्वविद्यालय के एम.ए. के छात्र अरुण कुमार जैन, बड़ामलहरा द्वारा लिखित लघु शोध प्रबंध 'डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल और उनका कथा साहित्य' मूल्य १० रुपये उपलब्ध है।

डॉ. महावीरजैन, उदयपुर का शोध प्रबंध 'डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' भी ३० रुपये में उपलब्ध है।

क्या है प्रवचनसार ?

जिनेन्द्र भगवान के प्रवचन (दिव्यध्वनि) का सार यह कालजयी 'प्रवचनसार' परमागम आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वाधिक प्रचलित अद्भुत सशक्त संरचना है। समस्त जगत को ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व (स्व-पर) के रूप में प्रस्तुत करनेवाली यह अमरकृति विगत दो हजार वर्षों से निरन्तर पठन-पाठन में रही है और अपनी महत्त्वपूर्ण विषयवस्तु के कारण आज भी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इसे स्थान प्राप्त है।

इस ग्रन्थराज की विषयवस्तु को तीन महाधिकारों में विभाजित किया गया है। 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका में आचार्य अमृतचन्द्र उन्हें ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन एवं चरणानुयोगसूचक चूलिका नाम से अभिहित करते हैं तो 'तात्पर्यवृत्ति' टीका में आचार्य जयसेन सम्यग्ज्ञानाधिकार, सम्यग्दर्शनाधिकार एवं सम्यक्-चारित्राधिकार कहते हैं।

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में अनन्त ज्ञान एवं अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति के एकमात्र हेतु शुद्धोपयोग का एवं उससे उत्पन्न अतीन्द्रियज्ञान (सर्वज्ञता) एवं अतीन्द्रिय आनन्द का तथा सांसारिक सुख और उसके कारणरूप शुभ परिणामों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करते हुए अशुद्धोपयोगरूप शुभाशुभ परिणामों को त्यागकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक शुद्धोपयोगरूप वीतरागचारित्र ग्रहण की पावन प्रेरणा दी गई है।

वस्तुस्वरूप के प्रतिपादनरूप ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में तीन अवान्तर अधिकार - द्रव्यसामान्याधिकार, द्रव्यविशेषाधिकार एवं ज्ञान-ज्ञेयविभागाधिकार के माध्यम से जैनतत्त्व की विस्तृत मीमांसा की गई है।

इसप्रकार प्रवचनसार की मूल विषयवस्तु ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन एवं ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन महाधिकारों में ही समाप्त हो जाती है; परन्तु चारित्र के धनी आचार्यदेव सम्यग्दर्शन-ज्ञान की निमित्तभूत वस्तु का स्वरूप प्रतिपादित कर शिष्यों को चारित्र धारण करने की प्रेरणा देने के लिए चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक तीसरे अधिकार की रचना करते हैं। इस अधिकार में जहाँ एक ओर शिथिलाचार के विरुद्ध चेतावनी दी गई है, वही अनावश्यक कठोर आचरण के विरुद्ध भी सावधान किया है।

ग्रन्थ के अंत में मंगल आशीर्वाद देते हुए आचार्य कहते हैं कि जो व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान के प्रवचनों के सार इस प्रवचनसार ग्रन्थ का भलीभाँति अध्ययन करेगा, वह प्रवचनसार के सार शुद्धात्मा को अवश्य प्राप्त करेगा।

विषय-सूची

१.	पहला प्रवचन	९-२६
२.	दूसरा प्रवचन	२७-४४
३.	तीसरा प्रवचन	४५-६२
४.	चौथा प्रवचन	६३-७९
५.	पाँचवाँ प्रवचन	८०-९६
६.	छठवाँ प्रवचन	९७-११४
७.	सातवाँ प्रवचन	११५-१२६
८.	आठवाँ प्रवचन	१२७-१४५
९.	नौवाँ प्रवचन	१४६-१५८
१०.	दसवाँ प्रवचन	१५९-१७१
११.	ग्यारहवाँ प्रवचन	१७२-१८७
१२.	बारहवाँ प्रवचन	१८८-२०३
१३.	तेरहवाँ प्रवचन	२०४-२१८
१४.	चौदहवाँ प्रवचन	२१९-२२९
१५.	पन्द्रहवाँ प्रवचन	२३०-२४३
१६.	सोलहवाँ प्रवचन	२४४-२५७
१७.	सत्रहवाँ प्रवचन	२५८-२७६
१८.	अठारहवाँ प्रवचन	२७७-२९३
१९.	उन्नीसवाँ प्रवचन	२९४-३०९
२०.	बीसवाँ प्रवचन	३१०-३२५
२१.	इक्कीसवाँ प्रवचन	३२६-३४३
२२.	बाईसवाँ प्रवचन	३४४-३६१
२३.	तेईसवाँ प्रवचन	३६२-३७६
२४.	चौबीसवाँ प्रवचन	३७७-३९३
२५.	पच्चीसवाँ प्रवचन	३९४-४०८

प्रकाशकीय

अध्यात्मजगत के बहुश्रुत विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल की नवीनतम कृति 'प्रवचनसार का सार' आपके हाथों में देते हुए हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

डॉ. भारिल्ल उन विद्वानों में अग्रगण्य हैं, जिनके प्रवचनों का प्रत्यक्ष लाभ तो समाज लेती ही है; अब साधना चैनल के माध्यम से देश-विदेश में बैठे लोग भी प्रातः ६.३५ पर आपके प्रभावी प्रवचनों का लाभ ले रहे हैं।

वे जितने कुशल प्रवक्ता हैं, लेखन के क्षेत्र में भी उनका कोई सानी नहीं है। यही कारण है कि आज उनका साहित्य देश की प्रमुख आठ भाषाओं में लगभग ४० लाख की संख्या में प्रकाशित होकर घर-घर में पहुँच चुका है। उन्होंने अबतक लगभग सात हजार पृष्ठों का सत्साहित्य रचा है और लगभग १० हजार पृष्ठों का सम्पादन किया है, जो सभी प्रकाशित है।

आपने आज के बहुचर्चित विषयों पर तो लिखा ही है, जैनदर्शन के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर कलम चलाकर उन्हें सर्वांग रूप से प्रस्तुत किया है। उन्होंने गत २९ वर्षों में आत्मधर्म एवं वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीय लेखों के रूप में जो कुछ भी लिखा है, वह सब पुस्तकाकार प्रकाशित होकर जिन-अध्यात्म की अमूल्य निधि बन गया है और स्थाई साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है।

आपकी अनेक कृतियों के हिन्दी भाषा के अतिरिक्त गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल तथा अंग्रेजी भाषा में अनुवादित पुस्तकों के संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं।

इस शताब्दी में डॉ. भारिल्ल की तुलना में जैन समाज का शायद ही कोई ऐसा विद्वान होगा, जिसका साहित्य देश की विभिन्न भाषाओं में विपुल भाग में प्रकाशित होकर पढा जाता हो।

गत वर्ष डॉ. भारिल्ल की 'समयसार का सार' पुस्तक प्रकाशित की गई

थी, जिसका समाज में समुचित समादर हुआ। इस पुस्तक से ऐसे जिज्ञासुओं ने अधिक लाभ उठाया, जो कम से कम समय में समयसार की विषय-वस्तु से परिचित होना चाहते थे। ऐसा भी अनुभव में आया है कि 'समयसार का सार' पढने से अनेक पाठक 'समयसार अनुशीलन' के पाँचों भाग पढने के लिए प्रेरित हुए हैं।

चूँकि प्रवचनसार का विषय गूढ, गम्भीर एवं सूक्ष्म है। इसे समझने के लिए बौद्धिक पात्रता की आवश्यकता भी अधिक है।

विशेष रुचि एवं खास लगन के बिना प्रवचनसार के विषय को समझना सहज नहीं है। प्रवचनसार अनुशीलन का प्रथम भाग समाज के हाथों में पहुँच चुका है। यदि वे उसका धैर्यपूर्वक अध्ययन करें तो रहस्य की गुत्थी सहज खुलती नजर आएगी।

यह तो सर्वविदित ही है कि प्रवचनसार ग्रन्थाधिराज के सार को डॉ. भारिल्ल ने २५ घंटों में प्रवचनों के रूप में प्रस्तुत किया था; जो इन्टरनेट पर भी उपलब्ध हैं और jainworld.com पर सुने जा सकते हैं।

उक्त प्रवचन पहले कैसेट से कागज पर लिखाये गये और फिर उनको कम्प्यूटर पर कम्पोज कराया गया। उसके बाद उसका गहराई से अवलोकन डॉक्टर साहब ने स्वयं किया और उक्त सम्पूर्ण सामग्री को संपादित कर इस रूप में प्रस्तुत कर दिया है। उनके अथक् परिश्रम का ही परिणाम है कि यह आपके हाथों में इस रूप में प्रस्तुत है।

प्रस्तुत प्रकाशन को लागत से भी कम मूल्य में उपलब्ध कराने में जिन दातारों का सहयोग प्राप्त हुआ है, उनकी सूची पृथक् से दी गई है।

कृति को आकर्षक कलेवर में प्रस्तुत करने का श्रेय प्रकाशन विभाग के मैनेजर श्री अखिल बंसल को जाता है एवं सुन्दर टाइपसेटिंग का कार्य श्री दिनेश शास्त्री के द्वारा किया गया है। अतः ट्रस्ट उनका आभारी है।

सभी पाठक प्रवचनसार का सार ग्रहण कर अपने जीवन को सार्थक करें - इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ। - ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

प्रकाशनमंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

प्रवचनसार का सार

पहला प्रवचन

प्रवचनसार परमागम आचार्य कुन्दकुन्ददेव का विशिष्टतम ग्रंथ है। जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि का सार यह प्रवचनसार ग्रंथ निरंतर २००० वर्ष से अध्ययन-अध्यापन का विषय बना हुआ है।

यद्यपि समयसार आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव की सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है, तथापि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में समयसार को स्थान प्राप्त नहीं हो सका; जबकि प्रवचनसार परमागम को सैंकड़ों वर्षों से विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में रहने का सम्मान प्राप्त है; क्योंकि इसकी जो प्रतिपादन शैली है, वह विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम के अनुकूल है।

जहाँ दर्शनशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन होता है, ऐसे जितने भी विश्वविद्यालय हैं; वहाँ दर्शनशास्त्र के पाठ्यक्रम को दो भागों में बाँटा जाता है, जिसे हम प्रमाणव्यवस्था एवं प्रमेयव्यवस्था कहते हैं।

इस प्रवचनसार ग्रन्थ में भी प्रथम महाधिकार ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन एवं द्वितीय महाधिकार ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन नाम से है। यह वर्गीकरण दर्शनशास्त्र के वर्गीकरण के अनुकूल ही है; इसीकारण इस ग्रन्थ को विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त रहा है।

सम्पूर्ण विश्व को उक्त दो भागों में विभाजित करके देखना आधुनिक दर्शनशास्त्र की प्रमुख विशेषता है और यह विधि जैनदर्शन के लिए भी सर्वाधिक अनुकूल है।

प्रथम वह जाननेवाला तत्त्व, जिससे सारे जगत का ज्ञान होता है, जिसे हम ज्ञानतत्त्व कहते हैं तथा दूसरा वह ज्ञेयतत्त्व, जो उस ज्ञान के द्वारा जाना जाता है।

जो कुछ भी ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, उन सभी को ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेय एवं प्रमाण की अपेक्षा प्रमेय कहा जाता है। प्रमेय अर्थात्

छहों द्रव्य, प्रमेय अर्थात् लोकालोक । जो कुछ भी जगत में है, वह सब प्रमेय है, ज्ञेय है ।

इसप्रकार संपूर्ण जगत को दो भागों में विभाजित कर देखनेवाला यह ग्रन्थाधिराज प्रवचनसार आचार्य कुन्दकुन्द की प्रौढतम कृति है ।

इस कृति को आचार्य जयसेन मध्यम रुचिवाले शिष्यों के लिए लिखी गई कृति मानते हैं । वे कहते हैं कि संक्षिप्त रुचिवाले शिष्यों के लिए पञ्चास्तिकाय और मध्यम रुचिवाले शिष्यों के लिए प्रवचनसार लिखा गया है ।

समयसार शुद्धात्मा का प्रतिपादक ग्रन्थाधिराज है और अष्टपाहुड़ में आचार्य कुन्दकुन्द के प्रशासकरूप के दर्शन होते हैं । नियमसार उन्होंने अपनी भावना के लिए बनाया है; वह उनके दैनिक पाठ का साधन था ।

इसतरह दार्शनिकों की दृष्टि में यदि प्रवचनसार सबसे महत्वपूर्ण है तो यह स्वाभाविक ही है; क्योंकि जैनदर्शन की जो वस्तुव्यवस्था है, वस्तु का स्वरूप है; उसका प्रतिपादन जितनी सूक्ष्मता से इस प्रवचनसार ग्रन्थाधिराज में प्राप्त होता है; वैसा प्रतिपादन कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों में तो अलभ्य है ही; संपूर्ण जिनागम में भी बहुत ही दुर्लभता से प्राप्त होता है ।

यह जगत जो ज्ञेयतत्त्व है, जिसे जानने की बात इस प्रवचनसार में अत्यंत गहराई से की गई है; उसे कैसे जाना जाय, उसे जानने का उपाय क्या है ? इसके उत्तर में आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र में निम्नांकित सूत्र लिखते हैं - 'प्रमाणनयैरधिगमः ।' प्रमाण व नयों के द्वारा वस्तु का स्वरूप जाना जाता है । नय जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी दर्शन में नहीं हैं; किन्तु प्रमाण सभी दर्शनों में हैं, चाहे भारतीय दर्शन हो, चाहे पाश्चात्य - सभी में प्रमाण पाया जाता है ।

जिसे हम न्यायशास्त्र कहते हैं; वे सब प्रमाणव्यवस्था के ग्रंथ हैं । परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्तण्ड, आप्तमीमांसा, अष्टशती तथा अष्टसहस्री ये जितने भी न्याय के ग्रंथ हैं या न्याय के नाम पर जो

ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं; वे लगभग सभी प्रमाणव्यवस्था के प्रतिपादक ग्रंथ हैं ।

ये सभी ग्रन्थ इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि वस्तु को जाननेवाले ज्ञान का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

जिसप्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों ने संपूर्ण विश्व को दो भागों में विभाजित किया; उसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने इस ग्रन्थाधिराज में मुख्यरूप से दो विभाग किए - (१) ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन (२) ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन

प्रथम तो जाननेवाले को जानो; फिर जाननेवाले ने क्या-क्या जाना - यह जानो । जब इन दोनों का प्रतिपादन सम्पन्न हुआ; जब ज्ञानतत्त्व एवं ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन का मंदिर बनकर तैयार हुआ; तब आचार्यदेव ने उस पर शिखर बनाने के लिए चरणानुयोगसूचक चूलिका का निर्माण किया । अर्थात् जिस तत्त्वज्ञान को हमने गहराई से जाना है; अब उसे हम अपने जीवन में कैसे उतारें - इसके वर्णन के लिए उन्होंने दो अधिकारों के पश्चात् एक चरणानुयोग चूलिका नामक अधिकार लिखा ।

वास्तव में जब हम चूलिका कहते हैं; तब वह ग्रंथ का वैसा भाग नहीं होता है, जैसा भाग उसके अधिकार हुआ करते हैं ।

आचार्य कहते हैं कि इन दो अधिकारों के पश्चात् भी कुछ कथन शेष है । वस्तु-व्यवस्था का निरूपण हो गया है; परन्तु जिनने उस वस्तु-व्यवस्था के अनुसार अपना आचरण बनाया है; उनका आचरण कैसा होता है, कैसा होना चाहिए ? यह सब वर्णन आचार्यदेव ने चरणानुयोग चूलिका में किया है ।

चूलिका की परिभाषा आचार्य जयसेन स्वयं इसप्रकार देते हैं -

“उक्त विषय का प्रतिपादन, अनुक्त विषय का प्रतिपादन तथा उक्त और अनुक्त दोनों के मिले हुए रूप का प्रतिपादन जिसमें किया जाता है; उसका नाम है चूलिका ।”

इस कथन का आशय यह है कि इसमें किसी भी विषय का क्रमबद्ध प्रतिपादन नहीं होता है ।

उक्त अर्थात् कही गई बात। वह विषय जो मूलवस्तु के प्रतिपादन में कहने से रह गया है; उसे कहते हैं - अनुक्त। कुछ बातें ऐसी होती हैं, जो कह दी गई हैं; फिर भी उनपर विशेष ध्यानाकर्षित करने के लिए उनका दुबारा कहा जाना आवश्यक प्रतीत होता है। कुछ विशेष कथन ऐसे भी होते हैं, जिन्हें समाविष्ट करके ही कथन किया जा सकता है। भले ही हम अनुक्त बात कहना चाहते हैं; परन्तु जो उक्त अर्थात् अभी हमने कह दी है; उसके बिना उस अनुक्त अर्थात् न कही गई बात को कहना संभव ही नहीं होता है; अतः उसे हम उक्तानुक्त संकीर्ण व्याख्यान कहते हैं।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि उक्त व्याख्यान, अनुक्त व्याख्यान एवं उक्तानुक्त संकीर्ण व्याख्यान जहाँ किया जाता है, उसे चूलिका कहते हैं। इसमें यह नहीं कहा जा सकता कि आप विषयान्तर हो गए; क्योंकि चूलिका कहते ही उसे हैं कि जिसमें सबकुछ कहा जा सकता है।

इसप्रकार आचार्यदेव ने चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक तीसरा अधिकार बनाया।

आचार्य जयसेन ने भी कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय - इन तीन ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। उन्होंने तीनों टीकाओं का एक ही नाम 'तात्पर्यवृत्ति' रखा है; जबकि आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की टीका का नाम आत्मख्याति, प्रवचनसार की टीका का नाम तत्त्वप्रदीपिका तथा पञ्चास्तिकाय की टीका का नाम समयव्याख्या रखा है।

प्रवचनसार के तीन अधिकारों को जयसेनाचार्य अपनी तात्पर्यवृत्ति टीका में सम्यग्ज्ञानाधिकार, सम्यग्दर्शनाधिकार तथा सम्यग्चारित्राधिकार के नाम से संबोधित करते हैं। जयसेनाचार्य ने पातनिकाओं को मध्य-मध्य में समाविष्ट करके 'क्या कह दिया है एवं आगे क्या कहेंगे' - इस भाँति विषयवस्तु को समग्रतः स्पष्ट किया है।

चरणानुयोग चूलिका नामक अधिकार को सम्यग्चारित्राधिकार नाम से जो महत्त्व प्राप्त होता है; वह महत्त्व चूलिका या परिशिष्ट कहने से नहीं। यही कारण है कि आचार्य जयसेन ने इस अधिकार का नाम सम्यक्चारित्र अधिकार रखा।

प्रथम महाधिकार में प्रमाणव्यवस्था का वर्णन है अर्थात् ज्ञानतत्त्व का वर्णन है; अतः आचार्य जयसेन का उसे सम्यग्ज्ञानाधिकार कहना स्वाभाविक ही है। जब प्रथम अधिकार को सम्यग्ज्ञानाधिकार एवं अंतिम अधिकार को सम्यक्चारित्राधिकार से कह दिया तो अब मध्य के अधिकार को सम्यग्दर्शनाधिकार कहने के अतिरिक्त कोई उपाय शेष नहीं रहता है।

आचार्य उमास्वामी ने जब रत्नत्रय का वर्गीकरण किया; तब उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र - इसप्रकार का क्रम रखा; जबकि जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार की इस टीका में प्रथम अधिकार का नामकरण सम्यग्ज्ञान अधिकार किया और दूसरे अधिकार को सम्यग्दर्शन अधिकार नाम दिया। मोक्षमार्ग-प्रकाशक ग्रंथ में भी इस सन्दर्भ में उल्लेख है कि श्रद्धान के पूर्व ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि अज्ञात का श्रद्धान तो गधे के सींग के समान है। इसलिए सबसे पहले वस्तु के स्वरूप को जानना अत्यंत आवश्यक है।

प्रवचनसार ग्रंथाधिराज पर संस्कृत भाषा में दो महान टीकाएँ लिखी गईं। एक, आज से १००० वर्ष पूर्व आचार्य अमृतचन्द्र ने 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक टीका लिखी और दूसरी, उसके ३०० वर्ष पश्चात्, आज से ७०० वर्ष पूर्व आचार्य जयसेन ने 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका लिखी।

आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखी गई तत्त्वप्रदीपिका टीका एक प्रौढतम कृति है; अतः कुछ लोग इसे जटिल भी कहते हैं। लोगों की इसी समस्या को ध्यान में रखकर आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति नामक सरल-सुबोध टीका लिखी है। तात्पर्यवृत्ति नाम से भी यह ज्ञात हो

जाता है तथा उनके इसप्रकार के उल्लेखों से कि 'तात्पर्य यह है कि.....' से भी समझ सकते हैं कि वे हर गाथा का तात्पर्य या निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं; अतः उनकी टीका का नाम 'यथा नाम तथा गुण' सार्थक ही है।

पञ्चास्तिकाय ग्रंथ की टीका लिखते समय वे स्वयं लिखते हैं कि हर ग्रंथ का सूत्रतात्पर्य अलग होता है और शास्त्रतात्पर्य अलग। प्रत्येक गाथा का तात्पर्य भिन्न-भिन्न होता है एवं संपूर्ण ग्रंथ का तात्पर्य उससे भी भिन्न होता है।

गाथा का तात्पर्य गाथा की टीका में ही बता दिया जाता है और ग्रंथ के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि वीतरागता की तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होना ही सभी शास्त्रों का एक मात्र तात्पर्य है। इसतरह उन्होंने अपनी टीका का नाम 'तात्पर्यवृत्ति' रखा।

उन्होंने यह अनुभव किया कि तत्त्वप्रदीपिका में जो कहा गया है; वह शत-प्रतिशत सत्य होने पर भी, नयविभाग से कहा जाने पर भी, उसमें नयों के नाम का उल्लेख नहीं किया है; जिससे बहुत से लोगों को भ्रम हो सकता है। अतः उन्होंने अपनी सभी तात्पर्यवृत्ति टीकाओं में - चाहे वह समयसार की हो या प्रवचनसार की हो अथवा पञ्चास्तिकाय की हो सभी में नयों के नामोल्लेखपूर्वक मर्म खोलने की कोशिश की है। 'यह निश्चयनय का कथन है, यह व्यवहारनय का कथन है, यह उपचरित-नय, यह अनुपचरित नय से है, यह सद्भूतव्यवहारनय से है, यह अशुद्ध-निश्चय नय से है' - इसप्रकार उन्होंने नयविभाग का खुलासा किया है।

अतः नयविभाग को जानना हो तो जयसेन की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका बहुत महत्वपूर्ण है। वे अपनी टीकाओं को बालबोधिनी टीकायें कहते हैं। अतः उन्होंने उसमें अन्वय की विशेषता रखी है। प्रथम तो प्राकृत का शब्द लिखते हैं, तदनन्तर उसे संस्कृत में बताते हैं, फिर व्याकरण से उसकी व्युत्पत्ति बताकर सयुक्तिक उसका अर्थ सिद्ध करते हैं। इसप्रकार आचार्य जयसेन एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य का अर्थ

बताते हैं; जबकि अमृतचन्द्राचार्य की टीकाओं में ऐसा नहीं है।

अमृतचन्द्राचार्य सर्वप्रथम गाथा के भाव को पूर्णतः पूरी गहराई के साथ अपने हृदय में समाहित कर लेते हैं; फिर अंतरतम की गहराई के साथ उसे विशुद्ध तर्कसंगत शैली में, उत्कृष्टतम भाषा के प्रयोगों के साथ, लम्बे-लम्बे वाक्यों के द्वारा अपनी बात को श्रोताओं के सामने रखते हैं। उनकी इस शैली से ऐसा लगता है कि उनके जो श्रोता हैं; वे प्रबुद्ध हैं, उन्हें नयविभाग बताने की आवश्यकता नहीं है। वे श्रोता स्वयमेव ही नयविभाग को समझ लेते हैं, व्याकरण को समझ लेते हैं।

अमृतचन्द्राचार्य उन्हें शब्द की व्युत्पत्ति, व्याकरण बताना आवश्यक नहीं समझते; क्योंकि अमृतचन्द्राचार्य मानते हैं कि जिनवाणी की व्याख्या के मध्य भाषा पढ़ाने लगना, मध्य-मध्य में न्याय पढ़ाने लगना उचित नहीं है - इससे जो मुख्य विषयवस्तु का प्रतिपादन है, उसमें बाधा उत्पन्न होती है।

यदि हम सम्यग्दर्शन की विषयवस्तु पर मंथन कर रहे हों और बीच में ही सम्यग्दर्शन शब्द का पूरा व्याकरण समझाने लगे कि 'इसमें यह संधि है, यह समास है, यह प्रत्यय है' तो मूल विषय छूट जायेगा। यदि न्याय-व्याकरण के विस्तार में जायेंगे तो सम्यग्दर्शन की विशुद्ध विषयवस्तु एक तरफ रह जाएगी और न्याय-व्याकरण आरंभ हो जाएंगे।

ये टीकाएँ परस्पर प्रतिद्वन्द्वी टीकाएँ नहीं, अपितु परस्पर पूरक टीकाएँ हैं। यदि हमें प्रवचनसार को गहराई से समझना है तो अमृतचन्द्राचार्य की तत्त्वप्रदीपिका नामक टीका को पढ़ना होगा एवं सरलता से सब बात समझ में आ जावे - इसके लिए तात्पर्यवृत्ति टीका को गहराई से पढ़ना होगा। अतः दोनों टीकाओं के सहारे ही प्रवचनसार की संपूर्ण विषयवस्तु समझना समझदारी का काम है।

मंगलाचरण के संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने अन्य ग्रन्थों में मात्र एक-एक गाथा में ही मंगलाचरण

किया है। समयसार में मात्र सामूहिकरूप से सिद्धों को नमस्कार किया है; किन्तु इस प्रवचनसार ग्रन्थ में भगवान् वर्द्धमान के नामोल्लेखपूर्वक पाँच गाथाओं में मंगलाचरण लिखकर सभी आवश्यक पूज्य-पुरुषों का समावेश करने का प्रयास किया है।

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं ।

पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥१॥

(हरिगीत)

सुर असुर इन्द्र नरेन्द्र वंदित कर्ममल निर्मलकरन ।

वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन ॥१॥

यह मैं देवेन्द्रों, असुरेन्द्रों, चक्रवर्तियों से पूजित, घातिकर्मरूपी मल को धो डालनेवाले, तीर्थस्वरूप तथा धर्म के कर्ता श्री वर्द्धमानस्वामी को प्रणाम करता हूँ।

वैसे तो २४ ही तीर्थकर अपनी वाणी में एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं; अतः यह प्रवचनसार ग्रंथ सभी तीर्थकरों के प्रवचनों का सार है; परंतु मूल प्रश्न यह है कि अभी शासन किसका चल रहा है?

भगवान् महावीर की जो दिव्यध्वनि खिरी थी, उनका जो प्रवचन हुआ था; उसकी ही अविच्छिन्न परम्परा आचार्य कुन्दकुन्द तक आई। उक्त परम्परागत ज्ञान ही इस प्रवचनसार में समाहित हुआ है; अतः यह भगवान् महावीर की वाणी का ही सार है। यही कारण है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने सर्वप्रथम भगवान् महावीर को याद किया।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब कुन्दकुन्दाचार्य ने भगवान् महावीर को नमस्कार किया, तब तो वे सिद्धावस्था में विराजमान थे और कुन्दकुन्दाचार्य 'धोद घाइकम्ममलं' इस विशेषण के माध्यम से यह कहते हैं कि जिन्होंने घातिया कर्मों को धो दिया है। वे यह क्यों नहीं कहते कि जिन्होंने अष्ट कर्मों को धो दिया है?

जब आचार्यदेव ने उन्हें नमस्कार किया, प्रवचनसार नामक ग्रंथ

लिखा; तब भगवान् महावीर सिद्धावस्था में विराजमान थे; यह बात परमसत्य होने पर भी आचार्यदेव इस बिन्दु पर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि उन्होंने सिद्धदशा को प्राप्त भगवान् महावीर को नमस्कार नहीं किया, वरन् अब से २५०० वर्ष पूर्व एवं कुन्दकुन्दाचार्य के समय में ५००-६०० वर्ष पूर्व जो अरहन्त अवस्था में विद्यमान थे, जिनके प्रवचन हो रहे थे, जिनकी दिव्यध्वनि खिर रही थी; उन्हीं वर्द्धमान अरिहंत भगवान् को नमस्कार किया है।

ऐसे प्रयोग हिन्दी साहित्य में भी पाए जाते हैं। जैसे तुलसीदासजी कहते हैं कि यद्यपि मुझे मुरली बजाते हुए श्रीकृष्ण बहुत अच्छे लगते हैं; तथापि 'तुलसी मस्तक जब नमें जब धनुष बाण लेऊ हाथ।' मेरा माथा तुम्हारे सामने तभी झुकेगा जब तुम धनुष-बाण लेकर मेरे सामने आओगे। यह कहकर महाकवि तुलसीदासजी एक बहुत महत्त्वपूर्ण संदेश देना चाहते हैं।

वे कहते हैं कि अभी हमें नाचने-गानेवालों की जरूरत नहीं है, इस समय तो हमें धनुष-बाण वाले भगवान् चाहिए।

महाकवि तुलसीदास के समय ऐसी विपरीत परिस्थितियाँ थी कि उस समय मुसलमानों ने देश पर आक्रमण किया था और मंदिर व मूर्तियाँ तोड़ी जा रही थीं। ऐसे समय में मुरली बजाकर नाचने-गाने की अपेक्षा धनुष-बाण लेकर अपनी सुरक्षा करना अधिक जरूरी था। इसप्रकार तुलसीदास को धनुषबाणवाले राम की जरूरत थी; जो इन म्लेच्छों से हमारी संस्कृति की रक्षा कर सकें। इसलिए तुलसीदासजी कहते हैं कि हे कृष्ण! तुम्हें नमस्कार करने में तो मुझे कोई बाधा नहीं है; लेकिन जरा कपड़े बदल कर आओ, धनुष-बाण लेकर आओ एवं मुरली को रखकर आओ।

इसीप्रकार आज का मुमुक्षु समाज कहता है कि विद्वान तो तुम बहुत अच्छे हो, बातें तो हमें तुमसे ही सीखनी हैं; लेकिन नाच-गाना

नहीं सीखना है, हमें आत्मा-परमात्मा की बातें सीखनी हैं। हमने तुम्हें आत्मा-परमात्मा की बात सुनने-समझने के लिए बुलाया है और तुम हमें नचा-नचा कर रिझाने लगे।

ऐसे ही कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि हमें वर्द्धमान तो चाहिए; लेकिन धर्मतीर्थ के कर्त्ता वर्द्धमान चाहिए अर्थात् जिनके प्रवचन का सार यह प्रवचनसार है - ऐसे वर्द्धमान चाहिए।

भले ही वे आज सिद्ध हो गए हैं; लेकिन जब उनकी दिव्यध्वनि खिर रही थी, आचार्य कुन्दकुन्द ने उनके उस रूप को याद किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्मतीर्थ के कर्त्ता वर्द्धमान भगवान को याद किया है; जिन्होंने घातिया कर्म धो डाले हैं एवं जो सुरेन्द्र, असुरेन्द्र एवं नरेन्द्र - इन तीनों के द्वारा वंदनीक है।

संपूर्ण जगत जिन्हें मानता है - ऐसे सौ इन्द्रों ने इन्हें नमस्कार किया है, इन्हें मान्यता दे दी है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि संपूर्ण जगत इन्हें स्वीकार करता है।

जिसप्रकार प्रधानमंत्री ने किसी समझौते पर हस्ताक्षर किए तो मानों संपूर्ण भारतवासियों ने हस्ताक्षर कर दिए, उस समझौते को मान लिया - ऐसा माना जाता है। उसीप्रकार सौ इन्द्रों ने जिनको नमस्कार किया है, जो धर्मतीर्थ के कर्त्ता हैं, जो चार घातिया कर्मों से रहित हैं; ऐसे अरहन्त अवस्था में विद्यमान भगवान वर्द्धमान को उन्होंने नमस्कार किया है; क्योंकि यह प्रवचनसार उनके प्रवचन का सार है।

मंगलाचरण में मात्र वर्द्धमान भगवान को ही नहीं, अपितु 'शेषे पुण तित्थयरे' - ऐसा कहकर उन्होंने अन्य तीर्थकरों को भी नमस्कार किया है।

दूसरी, तीसरी गाथा के माध्यम से आचार्यदेव सिद्ध भगवान, ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य से सम्पन्न आचार्यदेव एवं मनुष्य क्षेत्र में रहनेवाले अरहंतों अर्थात् सीमंधरादिक विद्यमान बीस तीर्थकरों को याद करते हैं। गणधर

शब्द का प्रयोग करके आचार्यों को, उपाध्याय को एवं साधुओं को याद किया, इसप्रकार संक्षेप में कहें तो आचार्यदेव ने नमस्कार मंत्र में समाहित सभी का स्मरण किया।

पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करके अंत में आचार्य कहते हैं कि अब मैं जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है; उस साम्यभाव का आश्रय लेता हूँ।

इस मंगलाचरण की विशेषता यह है कि आचार्यदेव ने भगवान महावीर की वाणी से स्वयं को बुद्धिपूर्वक जोड़ा है। उन दिनों आचार्यदेव विदेह क्षेत्र से सीमंधर परमात्मा की दिव्यध्वनि सुनकर आए थे; अतः लोग उन्हें बारम्बार 'विदेह क्षेत्र से आए हुए कुन्दकुन्दस्वामी' - ऐसा सम्बोधन करते होंगे।

लोग तो मेरे नाम के आगे भी जोड़ने लगे हैं कि देश-विदेश में प्रख्यात। जिनवाणी का थोड़ा-सा प्रचार किया तो लोग तुरंत विशेषण जोड़ने लगते हैं। क्या पण्डित हुकमचन्द विदेश में नहीं जाता तो क्या छोटा पण्डित होता ? परंतु लोग तो विदेश में जाने की बात को प्रतिदिन याद करते हैं।

विदेह क्षेत्र की महिमा तो बहुत ही अधिक है; क्योंकि वहाँ साक्षात् सीमंधर परमात्मा विराजमान हैं। वे साक्षात् अर्हन्त परमात्मा के दर्शन करके आए थे। यह तो बहुत सौभाग्य का प्रसंग था। अतः उस समय लोग इस बात को बहुत याद करते होंगे।

यही कारण है कि आचार्यदेव सोचते होंगे कि यदि मैंने इस प्रसंग को खोलकर नहीं कहा तो लोग मुझे सीमंधर परमात्मा की वाणी से जोड़ने लगेंगे, भगवान महावीर की वाणी से नहीं। परंतु आचार्यदेव बुद्धिपूर्वक अपनी कृतियों को भगवान महावीर की परम्परा से जोड़ना चाहते हैं। इसलिए उन्होंने मंगलाचरण के माध्यम से स्वयं को भगवान महावीर की परम्परा से जोड़कर प्रस्तुत किया है।

यदि वे अपनी वाणी को सीमंधर परमात्मा से जोड़ते तो फिर अन्य साधु यह विचार करते कि हमें तो यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। इसप्रकार उनके अंदर हीनभावना पनपती।

भविष्य में लोग यह कहते कि कुन्दकुन्द तो प्रमाण हैं; क्योंकि वे सीमंधर परमात्मा से साक्षात् सुनकर आए थे; पर.....।

ऐसी स्थिति में अन्य आचार्यों की वाणी पर स्वयमेव प्रश्नचिन्ह लग जाता। भूतबलि पुष्पदन्त तो गए नहीं थे, जिनसेनाचार्य तो गए नहीं थे, समन्तभद्र तो गए नहीं थे; अतः हम उन्हें प्रमाण माने या नहीं? इसप्रकार चर्चायें न होने लगे - इसकारण कुन्दकुन्दाचार्य यह नहीं चाहते थे कि उनकी इस व्यक्तिगत उपलब्धि के कारण अन्य आचार्यों की वाणी में प्रामाणिकता का प्रश्नचिह्न खड़ा हो जाए।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सीमंधरपरमात्मा के दर्शन उनकी व्यक्तिगत उपलब्धि थी। वे यह जानते थे कि यदि वे विदेह क्षेत्र नहीं जाते तो भी भगवान महावीर की जो आचार्य परम्परा है; उसमें कोई अंतर नहीं आता।

यदि पण्डित हुकमचन्द विदेश नहीं जाता तो क्या कम उपयोगी होता और विदेश जा आया है तो क्या अधिक उपयोगी हो गया?

ऐसे ही यदि कुन्दकुन्द सीमंधर परमात्मा के पास नहीं जाते तो भी उनकी महानता में कोई अन्तर आनेवाला नहीं था। यह उपलब्धि है तो अच्छी; परंतु आचार्य कुन्दकुन्द प्रत्येक प्रसंग को उस घटना से नहीं जोड़ना चाहते थे। प्रत्येक प्रसंग को उसी घटना से जोड़े जाने की सम्भावना थी; इसलिए उन्होंने स्वयं को वर्द्धमान स्वामी से जोड़कर प्रवचनसार को लिखने की प्रतिज्ञा की।

यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि प्रवचनसार तीन महाधिकारों में विभाजित है - ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन एवं चरणानुयोग चूलिका।

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में चार अधिकार हैं - १. शुद्धोपयोग

-धिकार २. ज्ञानाधिकार ३. सुखाधिकार और ४. शुभपरिणामाधिकार। शुद्धोपयोग १३वीं गाथा से आरंभ होता है। ६वीं गाथा से १२वीं गाथा तक पीठिका रूप में धर्म की चर्चा है।

७वीं गाथा में आचार्य कहते हैं -

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्धिट्ठो ।

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

(हरिगीत)

चारित्र ही बस धर्म है वह धर्म समताभाव है।

दृगमोह-क्षोभविहीन निज परिणाम समताभाव है ॥७॥

चारित्र वास्तव में धर्म है, धर्म ही शम है, मोह-क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम ही शम है - ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

उक्त गाथा को आधार बनाकर लोग हमसे कहते हैं कि देखो, धर्म तो चारित्र ही है, तुम्हारा सम्यग्दर्शन नहीं।

वे इसतरह बात करते हैं कि जैसे हम चारित्र को मानते ही न हों। अरे भाई! हम भी तो सच्चे दिल से यह स्वीकार करते हैं कि चारित्र ही धर्म है।

अरे भाई! अष्टपाहुड़ में यह भी तो लिखा है कि दंसणमूलो धम्मो अर्थात् सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है।

मूल अर्थात् जड़। सम्यग्दर्शन तो धर्म की जड़ है। जब सम्यग्दर्शनरूप जड़ होगी तभी चारित्ररूपी धर्म का वृक्ष उगेगा।

देखो, जड़ जमीन के भीतर रहती है और वृक्ष ऊपर होता है। वृक्ष संपूर्ण जगत को दिखाई देता है। वृक्ष के फलों से, फूलों से, छाया से सारा जगत लाभान्वित होता है; परंतु जमीन के अंदर जो जड़ है; वह किसी को दिखाई नहीं देती। उस जड़ से लोक को कोई सीधा लाभ भी प्राप्त नहीं होता; लेकिन वह जड़ नहीं हो तो क्या तना खड़ा रह सकता है? क्या जड़ नहीं हो तो फल-फूल हो सकते हैं?

तने का जितना विस्तार होता है; उसी अनुपात में जमीन के अंदर नीचे जड़ों का भी विस्तार होता है। यदि ऊपर एक शाखा दक्षिण की

तरफ दस फुट गई है तो नीचे जड़ भी उसी शाखा की दिशा में लगभग उतनी ही दूर तक जाती है। यदि ऐसा न हो तो वह वृक्ष शाखाओं के बोझ से अनियन्त्रित हो जाएगा। जितनी-जितनी शाखाएँ चारों तरफ फूटती हैं; उतनी-उतनी ही जड़ें नीचे की तरफ चारों तरफ फूटती हैं। जो पेड़ लम्बा-लम्बा जाएगा, उस पेड़ की जड़ें भी नीचे की ओर उतनी ही गहरी जाएगी। जड़ों के कारण वह वृक्ष न केवल स्थिर है, अपितु वह खुराक भी जड़ों से ही लेता है। जड़ों से खुराक लेकर ही वृक्ष हरा-भरा रहता है।

जैसे जड़ के बिना वृक्ष की कल्पना नहीं की जा सकती है; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र की भी कल्पना नहीं की जा सकती है।

जो लोग 'चारित्तं खलु धम्मो' का नारा लगाकर हमसे यह कहना चाहते हैं कि हममें चारित्र नहीं है; उन लोगों की दृष्टि में बाह्य क्रियाकाण्ड ही चारित्र है; लेकिन आचार्य कुन्दकुन्द चारित्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जो साम्यभाव अर्थात् समताभाव है, वही चारित्र है, वही धर्म है।

इस पर कई व्यक्ति कहते हैं कि हममें समताभाव तो बहुत है। हमें तो ग्राहक चार गालियाँ भी सुना जाते हैं तो भी हम ग्राहक से कुछ नहीं कहते। हम तो हाथ ही जोड़ते रहते हैं।

उससे कहते हैं कि भाई ! यह समताभाव नहीं है, यह तो लोभ की तीव्रता का परिणाम है; समताभाव तो मोह व क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को कहते हैं।

मोह में दर्शनमोहनीय एवं क्षोभ में राग व द्वेष लेना। इसप्रकार मिथ्यात्व व राग-द्वेष से रहित जो आत्मा का परिणाम है, वह साम्यभाव है। ऐसा साम्यभाव ही चारित्र है, धर्म है।

उस चारित्र में, जिसे धर्म कहा गया है; सम्यग्दर्शन शामिल है। यदि कुन्दकुन्दाचार्य मात्र 'राग-द्वेष-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।' - ऐसा लिखते तब हम कह सकते थे कि उन्होंने मात्र चारित्रमोह को लिया

है, दर्शनमोह को नहीं लिया; परन्तु उन्होंने तो मोहक्खोहविहीणो लिखकर मोह शब्द से मिथ्यात्व और क्षोभ शब्द से राग-द्वेष लेकर मिथ्यात्व व राग-द्वेष से रहित परिणाम को चारित्र घोषित किया है।

श्रद्धा गुण का निर्मल परिणाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान गुण का निर्मल परिणाम सम्यग्ज्ञान तथा चारित्रगुण का निर्मल परिणाम सम्यक्-चारित्र - इन तीनों को आचार्यदेव साम्य कहते हैं और यही साक्षात्-धर्म है। यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों के सम्मिलित रूप को ही धर्म घोषित किया है, अकेले चारित्र को नहीं।

इसी भाव को आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकाचार में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।

यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥

धर्म के ईश्वर ने सद्दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन, सद्ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान एवं सद्वृत्त अर्थात् सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है।

बाहर से तो मात्र चारित्र ही दिखाई देता है। एक चक्रवर्ती को क्षायिक सम्यग्दर्शन हो गया है; परन्तु बाहर से कुछ भी दिखाई नहीं देता। अंतर में उसकी श्रद्धा, उसका अपनत्व परपदार्थों से हटकर त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में हो गया है। ऐसा होने पर भी वर्तमान में उन्होंने राज-पाट नहीं छोड़ा है, ९६००० पत्नियों में से एक को भी नहीं छोड़ा है। वे दिग्विजय करने के लिए जा रहे हैं। यह सब देखकर लोक कैसे समझें कि वे धर्मात्मा हैं। यदि आचार्य मात्र श्रद्धा को ही धर्म घोषित करते तो फिर विषय-कषाय में लिप्त लोगों को भी धर्मात्मा समझ लिया जाता।

जादू तो वह है जो सिर पर चढ़कर बोले। चारित्र एक ऐसी चीज है जो संपूर्ण जगत को दिखाई देती है। मैं सम्यग्दृष्टि हूँ या नहीं हूँ - लोगों को इसकी घोषणा करने की जरूरत पड़ती होगी; परन्तु किसी ने नग्नदिगम्बर दीक्षा ले ली तो उन्हें यह कहने की जरूरत नहीं है कि मैं

साधु हूँ। उनका वेष ही सबकुछ कह देता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय से परिणत त्रिकालीध्रुव आत्मा ही धर्मात्मा है। यहाँ यदि अकेले त्रिकाली ध्रुव आत्मा को ही धर्म कहते तो निगोदिया आत्मा भी धर्मात्मा हो जाता। इसका अर्थ यह है कि यहाँ धर्मात्मा शब्द पर्याय की अपेक्षा है, द्रव्य की अपेक्षा नहीं।

इस बात की चर्चा आचार्यदेव इस गाथा में करते हैं -

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं त्ति पण्णत्तं ।

तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥

(हरिगीत)

जिसकाल में जो दरव जिस परिणाम से हो परिणमित।

हो उसीमय वह धर्मपरिणत आत्मा ही धर्म है ॥८॥

द्रव्य जिस समय जिस भाव से परिणत होता है, उस समय वह उस रूप ही होता है - ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है; अतः धर्मपरिणत आत्मा को धर्म ही मानना चाहिए।

अरे, भाई ! जलता हुआ ईंधन; ईंधन नहीं, अग्नि है। हम कहते हैं कि यह आग है..दूर रहो; इससे यह स्पष्ट है कि जिस पर्याय से जो परिणमित होता है; वह वही है। इसलिए धर्म पर्याय से परिणत आत्मा ही धर्म है।

धर्म अर्थात् चारित्र। चारित्र अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। इन तीनों से परिणमित आत्मा ही धर्मात्मा है। धर्मात्मा नहीं, अपितु साक्षात् धर्म है, जैसाकि रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है -

न धर्मो धार्मिकै बिना ।

धर्म धर्मात्माओं के बिना नहीं होता। यहाँ आचार्यदेव यह कह रहे हैं कि धर्मात्मा ही धर्म है; क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई धर्म है ही नहीं।

क्या ईंधन अलग एवं अग्नि अलग - ऐसा माना जा सकता है? क्या किसी ने ईंधन के बिना अग्नि देखी है? कहीं ईंधन के बिना अग्नि हो तो बताइए। जहाँ भी अग्नि का अस्तित्व है, वहाँ वह जलती ही

दिखाई देगी।

ऐसे ही यदि धर्म से परिणत आत्मा को ही वास्तविक धर्म नहीं कहेंगे तो फिर जगत में धर्म का अस्तित्व ही नहीं होगा; क्योंकि धर्म का वास्तविक स्थान ही आत्मा है। अतः धर्म से परिणत आत्मा ही धर्म है।

इसी मर्म को आचार्य दसवीं गाथा में भी उद्धाटित करते हैं -

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।

दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥१०॥

(हरिगीत)

परिणाम बिना अर्थ है अर अर्थ बिना परिणाम ना।

अस्तित्वमय यह अर्थ है बस द्रव्यगुणपर्यायमय ॥१०॥

इस लोक में पर्याय के बिना पदार्थ और पदार्थ के बिना पर्याय नहीं होती। द्रव्य-गुण-पर्याय में रहनेवाला पदार्थ अस्तित्व से बना हुआ है।

यदि धर्म को त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा से सर्वथा अलग कर दें तो धर्म तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणामन है एवं उसके कारण ही आत्मा को धर्म कहा है। इसप्रकार यदि धर्मपर्याय को आत्मा से सर्वथा भिन्न कहेंगे तो फिर आत्मा को धर्म कहना ही संभव नहीं होगा।

प्रश्न - पहले तो आपने यह कहा था कि त्रिकाली ध्रुव और पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं एवं अभी यह कह रहे हैं,..... ?

यद्यपि देह और आत्मा ये दोनों पृथक् ही हैं; तथापि हमें जितने भी जीव दिखाई देते हैं; वे सब देह में ही दिखाई देते हैं। इसीकारण संसारी जीव को देही कहा जाता है। यद्यपि सिद्ध भगवान देह रहित हैं, तथापि वे हमारे ज्ञान के प्रत्यक्ष ज्ञेय नहीं बनते।

ऐसे ही पर्याय व द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। शरीर तो सिद्धावस्था में भिन्न हो जायेगा; पर ये पर्यायें तो सिद्धावस्था में भी रहेंगी; एक समय को भी भिन्न नहीं होगी; फिर भी हमारे ज्ञान के द्वारा आत्मद्रव्य और उनकी पर्यायों को भिन्न-भिन्न जाना जा सकता है, जाना जाता है; इसलिए उन्हें

भिन्न कहते हैं एवं उन पर से दृष्टि हटाने के लिए कहते हैं। पर्यायों तो हटनेवाली नहीं है; परन्तु पर्यायों से दृष्टि हटाकर स्वभाव पर दृष्टि ले जाने के लिए ऐसा कहा जाता है। यदि कोई इसका अर्थ पर्याय से सर्वथा भिन्न समझ ले तो वह सही नहीं है। इस सन्दर्भ में ११वीं गाथा उल्लेखनीय है -

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं ॥११॥
(हरिगीत)

प्राप्त करते मोक्षसुख शुद्धोपयोगी आत्मा ।

पर प्राप्त करते स्वर्गसुख हि शुभोपयोगी आत्मा ॥११॥

धर्मपरिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोगी होता है तो मोक्षसुख प्राप्त करता है तथा यदि शुभोपयोगी होता है तो स्वर्ग-सुख प्राप्त करता है।

अमृतचन्द्राचार्य इसकी टीका में लिखते हैं कि हे जीव! तू स्वर्गसुख की बात सुनकर लोभ मतकर। अग्नि में तपे हुए घी को मनुष्य पर डालने से उसे जलन सम्बन्धी जैसा दुःख होता है - वैसा ही स्वर्गसुख है।

अज्ञानी सोचता है कि मिलना तो सुख ही सुख है। निर्वाणसुख मिलेगा, नहीं तो स्वर्गसुख तो मिलेगा ही, कुछ न कुछ तो मिलेगा। यह नहीं समझता कि वह स्वर्गसुख सुख नहीं, दुःख ही है।

अब यहाँ यह अत्यंत विचारणीय है कि यदि अमृतचन्द्र जैसे सशक्त आचार्य नहीं होते तो क्या किसी अन्य में ऐसा मर्म उद्घाटित करने की ताकत थी? गाथा में तो लिखा है सग्गसुहं और उन्होंने उसकी ऐसी व्याख्या की है कि वह सुख है ही नहीं, दुःख ही है।

आगे स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द सुखाधिकार में स्वर्गसुख की इसीप्रकार व्याख्या करते हैं।

अतः यह सहजसिद्ध ही है कि अमृतचन्द्र ने जो अर्थ किया है, वह कुन्दकुन्द की भावना के अनुरूप ही है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रारम्भिक १२ गाथाओं में संपूर्ण

दूसरा प्रवचन

प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन की प्रारंभिक १२ गाथाओं में मंगलाचरण के उपरान्त आचार्यदेव ने यह बताया है कि वास्तव में चारित्ररूप धर्म से परिणमित आत्मा ही धर्मात्मा है; इसलिए साक्षात् रूप से चारित्र ही धर्म है और मोह व क्षोभ से रहित आत्मा का समताभावरूप परिणाम ही चारित्र है। इससे यह स्पष्ट है कि बाह्य क्रियाकाण्ड, जिसे यह जगत चारित्र माने बैठा है, वह चारित्र नहीं है।

आत्मा का धर्म तो आत्मा में ही होना चाहिए; बाह्य क्रियाकाण्ड से उसका क्या सम्बन्ध? यदि यह क्रियाकाण्ड या सद्व्यवहार ही चारित्र हो तो जो शुद्धोपयोगी हैं, जो सारे व्यवहार से अतीत हो गए हैं; उनमें यह क्रियाकाण्डरूप चारित्र नहीं पाये जाने से जो सबसे बड़े चारित्रवाले हैं; उन्हें हम चारित्र से हीन ही मान लेंगे।

१३वीं गाथा से लेकर २०वीं गाथा तक आचार्यदेव शुद्धोपयोग अधिकार की चर्चा करते हैं। वैसे तो यह चर्चा ११वीं गाथा में ही प्रारंभ हो गई है; जहाँ शुद्धोपयोग का फल निर्वाणसुख तथा शुभोपयोग का फल स्वर्गसुख बताया है। स्वर्गसुख में भी विषयचाहदवदाहदुःख का ही अनुभव होता है, विषयों की आकुलता का ही अनुभव होता है; निराकुलता का अनुभव नहीं होता।

स्वर्गसुख का तो नाममात्र सुख है; वस्तुतः वह सुख नहीं है। वास्तविक सुख तो शुद्धोपयोग के फल में प्राप्त होनेवाला सुख ही है। उसके बारे में आचार्य कहते हैं -

अइसयमादसमुत्थं, विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं, सुद्धवओगप्पसिद्धाणं ॥१३॥
(हरिगीत)

शुद्धोपयोगी जीव के है अनूपम आत्मोत्थसुख ।

है नंत अतिशयवंत विषयातीत अर अविच्छिन्न है ॥१३॥

शुद्धोपयोग से प्रसिद्ध जीवों के अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अखण्डित सुख होता है।

शुद्धोपयोग ही साक्षात्धर्म है और उसका फल निराकुल सुख है। उस जाति के सुख की महिमा छहढाला में भी गाई गई है, जो इसप्रकार है -

यो चिन्त्य निज में थिर भये, जिन अकथ जो आनन्द लहो।

सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाही कहो ॥

शुद्धोपयोगी संतों का स्वरूप १४वीं गाथा में इसप्रकार समझाया गया है -

सुविदिदपयत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो।

समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१४॥

(हरिगीत)

हो वीतरागी संयमी तपयुक्त अर सूत्रार्थ विद्।

शुद्धोपयोगी श्रमण के समभाव भवसुख-दुक्ख में ॥१४॥

पदार्थों और सूत्रों को अच्छी तरह जाननेवाले, संयम और तप संपन्न, रागादि से रहित, सुख-दुःख में समभावी श्रमण शुद्धोपयोगी कहे गये हैं।

यहाँ सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि शुद्धोपयोगी श्रमण और शुभोपयोगी श्रमण - ऐसे दो प्रकार के साधु नहीं है। साधु तो एक ही हैं; शुद्धोपयोग के काल में वे ही शुद्धोपयोगी हैं एवं शुभोपयोग के काल में; जब वे शिष्यों को पढ़ाते हैं, शास्त्र लिखते हैं, तब वे ही शुभोपयोगी होते हैं। छटवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले संत जब सातवें गुणस्थान में होते हैं, तब शुद्धोपयोगी और जब छटवें गुणस्थान में होते हैं, तब शुभोपयोगी होते हैं।

परद्रव्यों से हटकर उपयोग का आत्मसन्मुख होना ही शुद्धोपयोग है।

प्रश्न - यदि ऐसा है तो यहाँ शुद्धोपयोगी के स्वरूप में पदार्थों और सूत्रों को जाननेवाले - ऐसा क्यों कहा है ?

पदार्थों एवं सूत्रों को अच्छी तरह जाननेवाले - ऐसा कहकर आचार्य

शुभोपयोग में जो जानने की प्रक्रिया है, उसे नहीं बता रहे हैं; अपितु यह बताया जा रहा है कि शुद्धोपयोगी वही होगा, जिसे तत्त्वार्थ का यथार्थ ज्ञान हो, यथार्थ श्रद्धान हो। यद्यपि शुद्धोपयोग के काल में आस्रव का ज्ञान उपयोगरूप नहीं होता; तथापि आस्रव हेय हैं, आस्रव मैं नहीं हूँ - ऐसा लब्धिरूप ज्ञान शुद्धोपयोग के काल में भी विद्यमान रहता है।

अभी हम प्रवचनसार पढ़ रहे हैं तो इसकी विषयवस्तु में हमारा उपयोग लग रहा है। क्या इसी समय हमें समयसार का ज्ञान नहीं है ? यदि समयसार का ज्ञान है तो आत्मज्ञान क्यों नहीं है ?

हमारे लब्धिज्ञान में अभी जो भी उपलब्ध है, उन सबका ज्ञान हमें है। लब्धि व उपयोग दोनों ही प्रगट पर्याय के ही नाम है। शक्ति का नाम लब्धि नहीं है।

जब आत्मा आत्मानुभव कर रहा होता है; तब भी उसे सात तत्त्वों का ज्ञान उपलब्ध रहता है और जब वह पर का ज्ञान कर रहा है, तब भी उसे सात तत्त्वों का ज्ञान रहता है। जैसे खाता-पीता सम्यग्दृष्टि भी सम्यग्दृष्टि है और आत्मा का अनुभव करनेवाला सम्यग्दृष्टि भी सम्यग्दृष्टि है।

भगवान आत्मा को सम्यक्तया जाना है, अनुभव में भी जाना है; किन्तु अभी अनुभव नहीं है तो भी आत्मज्ञान मौजूद है; ऐसा तत्त्वज्ञानी जीव शुद्धोपयोग का पात्र होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह शुद्धोपयोगी है; परन्तु शुद्धोपयोग के लिए आवश्यक जो शर्त है, उसे वह पूर्ण करता है।

जिसप्रकार सम्यग्दर्शन के लिए आवश्यक शर्त के रूप में आचार्य समन्तभद्र ने देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को शामिल किया; उसीप्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने यहाँ तत्त्वार्थ को जाननेवाला - यह शर्त शुद्धोपयोग के लिए रखी है।

शुद्धोपयोग के काल में भी उसे संपूर्ण पदार्थों को जानते रहना

चाहिए, यदि नहीं जानेगा तो शुद्धोपयोगी नहीं कहलाएगा - यह अर्थ उचित नहीं है। जानते रहना चाहिए - ऐसी शर्त यहाँ कहाँ है ? शुद्धोपयोगी जानता ही है, बात तो यह है।

‘यहाँ जानते रहना चाहिए’ - ऐसा कहनेवाले मात्र उपयोग के जानने को ही जानना मानते हैं; लब्धि का जो जानना है, वे उसे नहीं मानते हैं।

ऐसी चर्चा अनेक मुमुक्षु भी करते हैं। कहते हैं कि शुद्धोपयोग के काल में पर को जानना जरूरी नहीं है। वे ऐसा कहकर यही व्यक्त करते हैं कि वे मात्र उपयोग को ही जानना मानते हैं।

आचार्यदेव ने शुद्धोपयोगियों को संयम व तप से युक्त विगतरागी कहा है। यह भूमिकानुसार लेना। सातवें गुणस्थान में सातवें के योग्य राग से रहित हैं, आठवें गुणस्थान में आठवें के योग्य राग से रहित हैं, नौवें गुणस्थान में नौवें के योग्य राग से रहित हैं। जिस भी गुणस्थान में वे शुद्धोपयोगी हैं; उस गुणस्थान में जो राग होनेयोग्य नहीं है, वे उससे रहित हैं।

द्रव्यदृष्टि से तो राग से भिन्न होने के कारण निगोदिया भी राग से रहित हैं; परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है, यहाँ पर्याय की मुख्यता से कथन है। इसीप्रकार संयम और तप को भी भूमिकानुसार घटित कर लेना चाहिए।

सुख-दुःख में समभावी विशेषण में आत्मिक सुख की बात नहीं है। सुख-दुःख अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलता में जिसका साम्यभाव है - ऐसे जीवों को शुद्धोपयोगी कहते हैं।

ऐसे शुद्धोपयोगी जीव ज्ञेयों के पार को पा लेते हैं - यह बात १५वीं गाथा में कही है; जो इसप्रकार है -

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।

भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं॥१५॥

(हरिगीत)

शुद्धोपयोगी जीव जग में घात घातीकर्मरज।

स्वयं ही सर्वज्ञ हो सब ज्ञेय को हैं जानते ॥१५॥

शुद्धोपयोगी आत्मा स्वयं ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोह कर्मरज से रहित होकर ज्ञेयभूत पदार्थों के पार को प्राप्त होते हैं।

१४वीं एवं १५वीं गाथा से आचार्यदेव अनंतसुख एवं ज्ञेयों के पार को प्राप्त करना ये दो महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करते हैं; जो इस बात के प्रतीक हैं कि भविष्य में आचार्य ज्ञानाधिकार एवं सुखाधिकार लिखेंगे; जिसमें वे अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय सुख का स्वरूप समझायेंगे। वे अतीन्द्रिय सुख एवं अतीन्द्रिय ज्ञान शुद्धोपयोग के फल हैं एवं वह शुद्धोपयोग ही साक्षात्चारित्र है, वही धर्म है।

वे यहाँ अतीन्द्रिय आनंद अतीन्द्रिय ज्ञान को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि ज्ञान एवं सुख दो-दो प्रकार के हैं - (१) इन्द्रिय सुख (२) अतीन्द्रिय सुख एवं १. इन्द्रिय ज्ञान २. अतीन्द्रिय ज्ञान।

अतीन्द्रिय ज्ञानवालों को अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है एवं इन्द्रिय ज्ञानवालों को इन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है। अतः अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है एवं इन्द्रियज्ञान हेय है।

अब आचार्य १६वीं गाथा लिखते हैं, जो बहुत प्रसिद्ध है एवं जिसे स्वयंभू की गाथा कहा जाता है।

तहसो लद्धसहावो, सव्वणहू सव्वलोगपदिमहिदो।

भूदो सयमेवादा, हवदि सयंभुत्ति णिदिदो॥१६॥

(हरिगीत)

त्रैलोक्य अधिपति पूज्य लब्धस्वभाव अर सर्वज्ञ जिन।

स्वयं ही हो गये तातैं स्वयंभू सब जन कहें ॥१६॥

इसप्रकार अपने स्वभाव को प्राप्त कर वह आत्मा स्वयं ही सर्वज्ञ तथा त्रैलोक्यपूज्य हुआ होने से स्वयंभू है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

लोकव्यवहार में नेताओं के लिए भी यह विशेषण लगाया जाता है। स्वयंभू नेता का अर्थ यह है कि वह जन्मजात नेता है, उसे किसी ने नेता

नहीं बनाया है।

जैसे कहा जाता है कि - जंगल में सिंह को राजतिलक किसने किया ? 'मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णः केन कानने' क्षत्रचूडामणि के इस वाक्य से स्पष्ट है कि मृगेन्द्र के लिए जंगल का आधिपत्य किसी ने सौंपा नहीं है, उसने उसे अपने पुरुषार्थ से प्राप्त किया है। अपने पुरुषार्थ से उसने ऐसा आतंक पैदा कर दिया कि एक-एक जानवर उसकी आवाज सुनकर भयभीत हो जाता है। यही कारण है कि उसे जंगल का स्वयंभू राजा कहा जाता है।

ऐसे ही इस आत्मा ने शुद्धोपयोग के द्वारा स्वयं अपने आत्मा की आराधना कर स्वयं ही अतीन्द्रिय सुख व अतीन्द्रिय अनंतज्ञान अर्थात् केवलज्ञान की प्राप्ति की है; इसलिए यह आत्मा स्वयंभू है।

इस स्वयंभूवाली गाथा की चर्चा सर्वाधिक होती है; क्योंकि इसमें यह कहा गया है कि भगवान आत्मा का जो निर्मल परिणमन है अथवा उन्होंने जो अनंतसुख की प्राप्ति की है, अतीन्द्रियज्ञान को प्राप्त किया है; उसकी प्राप्ति किसी दूसरे के आश्रय से नहीं होती, किसी दूसरे की कृपा से नहीं होती, दूसरे के आशीर्वाद से नहीं होती; उसमें पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो देशनालब्धि के बिना नहीं होती - ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है ?

आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शनादि जिसे प्राप्त होंगे; उसके पूर्व उन्हें देशनालब्धि अवश्य प्राप्त होगी। सम्यग्दर्शनादि देशनालब्धि के पराधीन नहीं है, देशनालब्धि तो सम्यग्दर्शनादि प्राप्ति के अंतर्गत आनेवाली प्रक्रिया है। वह प्रक्रिया कैसे सम्पन्न होगी ? ऐसा प्रश्न हो सकता है; परन्तु इससे पराधीनता उपजती है - यह सोचना ठीक नहीं है।

केवलज्ञान का कर्ता कौन है ?

आत्मा।

यह केवलज्ञान किसका कर्म (कार्य) है ?

स्वयं आत्मा का।

इस आत्मा ने किस साधन से यह केवलज्ञान प्राप्त किया ?

शुद्धोपयोग अर्थात् स्वयं के द्वारा ही इस आत्मा ने केवलज्ञान प्राप्त किया है।

यह प्राप्त केवलज्ञान इस आत्मा ने किसे दिया ?

स्वयं को।

यह केवलज्ञान कहाँ से आया ?

स्वयं में से ही आया है।

किसके आधार से इस आत्मा ने केवलज्ञान प्राप्त किया है ?

स्वयं के आधार से ही।

इसे ही स्वयंभू अर्थात् अभिन्न षट्कारक कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा ने, आत्मा को, आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा में से, आत्मा के आधार से केवलज्ञान प्राप्त किया है; अतः वह स्वयंभू है।

लोक में जो षट्कारक प्रसिद्ध हैं, वे भिन्न-भिन्न रूप में ही प्रसिद्ध हैं। कुम्हार कर्ता है; घड़ा कर्म है; चक्र, चीवर, दण्ड इत्यादि करण हैं; जल भरने के काम आता है, पानी पीने के लिए दिया जाता है, मिट्टी में से घड़ा आया है, वह घड़ा चक्र या जमीन के आधार से बनाया गया है; ये संप्रदान, अपादान एवं अधिकरण भी भिन्न-भिन्न ही प्रसिद्ध हैं; परन्तु यहाँ यह कहा जा रहा है कि षट्कारक पृथक्-पृथक् नहीं है; क्योंकि निश्चय षट्कारक अपने में ही होते हैं, अभिन्न ही होते हैं।

भगवान कहते हैं कि जो सर्वज्ञता हमें प्राप्त हुई है, जो अनंत सुख हमें प्राप्त हुआ है; वह पर के सहयोग से प्राप्त नहीं हुआ है; अपितु स्वयं से ही प्राप्त हुआ है - यही इस गाथा का सार है।

पञ्चास्तिकाय की ६२वीं गाथा में यह सिद्ध किया है कि हमारी जो विकारी पर्यायें हैं; उसमें भी हम स्वयंभू हैं, वे स्वयं से ही उत्पन्न

हुई हैं, उन्हें स्वयं ने ही उत्पन्न किया है; कर्म का उदय तो उसमें निमित्तमात्र है। जिसप्रकार सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति में देशनालब्धि मात्र निमित्त है; उसीप्रकार यहाँ कर्म का उदय भी मात्र निमित्त ही है।

यह जाननेवाला आत्मा यदि शुद्धोपयोगी हो तो उसे अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय-सुख की प्राप्ति होती है और यदि शुभोपयोगी हो तो उसे स्वर्गसुख की प्राप्ति होती है - ऐसा कहकर आचार्यदेव ने यहाँ आगे आनेवाले चार अधिकारों के बीज डाल दिये हैं।

सर्वप्रथम शुद्धोपयोगाधिकार। इसके फल में जो अतीन्द्रियज्ञान प्राप्त होता है, उसका वर्णन जिसमें है; वह अतीन्द्रियज्ञानाधिकार; तथा इसी के फल में जो अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होता है; उसका वर्णन करनेवाला अतीन्द्रियसुखाधिकार; जिससे स्वर्गसुख मिलता है - ऐसा शुभपरिणामाधिकार। इसप्रकार इस ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में आचार्यदेव ने उक्त चार अधिकार बनाए हैं।

अपने आत्मा को स्वयं देखने-जानने का नाम ही शुद्धोपयोग है। जिसने देखा वह भी आत्मा है, जिसे देखा वह भी आत्मा है, इसमें पर का रंचमात्र भी कर्तृत्व नहीं है; अतः यह आत्मा स्वयंभू है।

भगवान को प्राप्त जो अनंतज्ञान एवं अनंतसुख है; वह कैसा है, कबतक रहेगा ? यह बात आचार्यदेव विरोधाभास अलंकार के रूप में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

भंगविहूणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि ।

विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवाओ ॥१७॥

(हरिगीत)

यद्यपि उत्पाद विन व्यय व्यय विना उत्पाद है ।

तथापि उत्पादव्ययथिति का सहज समवाय है ॥१७॥

यद्यपि उन भगवान के विनाश रहित उत्पाद तथा उत्पाद रहित विनाश है; तथापि उनके ध्रुव्य, विनाश और उत्पाद की एक साथ

विद्यमानता भी है।

हे भगवान! तुमने ऐसा उत्पाद किया कि जिसका कभी नाश नहीं होगा और तुमने ऐसा नाश किया कि जिसका कभी उत्पाद नहीं होगा।

इस पर हम कहते हैं कि वस्तु तो उत्पाद-व्यय-ध्रुव्यात्मक है। यदि पूर्व पर्याय का विनाश होता है तो उत्तर पर्याय का उत्पाद होता ही है। इसके लिए हम यह उदाहरण भी देते हैं कि जब एक आदमी को नुकसान हुआ तो दूसरे आदमी को फायदा होता ही है। जमीन के भाव कम हुए तो जिसके पास जमीन थी, उसे नुकसान हुआ एवं जिसने खरीदी उसे फायदा हुआ।

जो जन्मेगा, वह मरेगा अथवा जो मरा है, वह अगले समय में कहीं न कहीं जन्मेगा ही। जन्म मृत्यु के बिना नहीं होता एवं मृत्यु जन्म के बिना नहीं होती।

मान लो, कदाचित् ऐसा हुआ कि जन्म के बिना मरण एवं मरण के बिना जन्म हुआ तो उसका स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व कहाँ रहा ? इन तीनों का अस्तित्व वहाँ कैसे रहा ?

यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि उत्पाद के बिना नाश एवं नाश के बिना उत्पाद हुआ एवं ऐसी स्थिति में भी उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व कायमरहा।

इसप्रकार आचार्यदेव ने जिसमें विरोध का आभास हो - ऐसे विरोधाभास अलंकार का प्रयोग किया है। इसमें कहा है कि हे भगवान! आपने ऐसा केवलज्ञान एवं अतीन्द्रिय आनंद उत्पन्न किया कि जिसका अनंतकाल तक नाश नहीं होगा।

अभी हमें जो ज्ञान एवं सुख है, वह पल-पल में बदल जाता है, क्षणिक है। हम एक सैकिन्ड में ही यह भूल जाते हैं कि 'मैंने क्या कहा था ?'

परन्तु हे भगवान ! तुमने शुद्धोपयोग के फल में ऐसा अनंतज्ञान

उत्पन्न किया है कि जो अनंतकाल तक कभी नष्ट नहीं होगा; ऐसा अनंतसुख उत्पन्न किया है जो अनंतकाल में भी कभी नष्ट नहीं होगा। भंगविहिणो ही भवो अर्थात् विनाश रहित उत्पाद का यह अर्थ है।

आपने राग का ऐसा नाश किया कि अनंतकाल में कभी भी पुनः उसका उत्पाद नहीं होगा। फिर भी, हे भगवन! ध्रौव्य, विनाश और उत्पाद का समवाय आपके अंदर विद्यमान है।

देखो ! इस लौकिकसुख की क्या स्थिति है ? श्रीकृष्ण के वियोग से त्रस्त राधा या गोपियाँ श्रीकृष्ण से कहती हैं, 'हे कृष्ण ! जब आप मिलते हो तब भी जैसा मिलने का आनंद लेना चाहिए, वैसा आनंद हम नहीं ले पाते; क्योंकि आपके वियोग की आशंका से मन दुःखी बना रहता है। आप आने के बाद तुरंत यह कह देते हैं कि मैं परसो जाऊँगा। इसप्रकार हम वियोग में तो वियोग का दुःख भोगते ही हैं; लेकिन संयोग में भी वियोग की आशंका से वियोग का ही दुःख भोगते हैं। हमें सुख तो कभी मिला ही नहीं है; न संयोग के काल में और न ही वियोग के काल में।

यदि वियोग में दुःख है तो संयोग में नियम से सुख होना चाहिए; परन्तु यह संसारसुख ऐसा है कि प्रथम तो इस संसार में सुख है ही नहीं और दूसरे वियोग के काल में हम इसके बिना दुःखी हैं और जब इसका संयोग होता है तो एक क्षण का भी विश्वास नहीं है कि यह कब तक रहेगा ? इसलिए मिलन के काल में भी हम इसका आनंद नहीं ले पाते हैं।

आचार्य यहाँ शुद्धोपयोग के फल की महिमा बता रहे हैं; इसीलिए केवलज्ञान व अनंतसुख की महिमा गा रहे हैं। इसे हम ज्ञानाधिकार का प्रारम्भ भी कह सकते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार को अधिकारों में विभक्त नहीं किया, उन्होंने तो गाथाओं को अविभक्त रखकर ही एक संपूर्ण प्रवचनसार की रचना की है। अमृतचन्द्राचार्य एवं जयसेनाचार्य ने ही इसे अधिकारों में विभाजित किया है। यही कारण है कि इसमें ज्ञान व सुख की चर्चा

दोनों अधिकारों में चलती रहती है।

शुद्धोपयोगाधिकार की अन्तिम गाथा में वे कहते हैं कि केवली भगवान के देहगत सुख-दुःख नहीं हैं। गाथा इसप्रकार है -

सोक्खं वा पुण दुक्खं, केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं ।

जम्हा अदिंदियत्तं, जादं तम्हा दु तं णेयं ॥२०॥

(हरिगीत)

अतीन्द्रिय हो गये हैं जिन स्वयंभू बस इसलिए।

केवली के देहगत सुख-दुःख नहीं परमार्थ से ॥२०॥

वे केवली भगवान अतीन्द्रियरूप से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए उनके शरीर सम्बन्धी सुख अथवा दुःख नहीं है - ऐसा जानना चाहिए।

केवलज्ञानी का सुख देहगत नहीं है, शारीरिक नहीं है अर्थात् वे विषयातीत हैं, उन्हें पंचेन्द्रियजन्य सुख नहीं है; उनका सुख देहातीत है, आत्मोत्पन्न है। यह पंचेन्द्रियाँ देह के अंग हैं एवं केवलज्ञानी का सुख अतीन्द्रिय है। उनका ज्ञान भी अतीन्द्रिय ही है।

यहाँ तक शुद्धोपयोगाधिकार की बात चल रही है।

अब ज्ञानाधिकार आरंभ होता है, जो २१वीं गाथा से ५२वीं गाथा तक चलेगा। इसमें आचार्य केवलज्ञान की महिमा एवं सर्वज्ञता का स्वरूप बताएँगे। ज्ञानाधिकार की इन ३२ गाथाओं में प्रवचनसार का वास्तविक मर्म छिपा है।

उत्थानिका में ही आचार्य कहते हैं कि अब हम ज्ञानप्रपंच आरंभ करते हैं। यहाँ प्रयुक्त प्रपंच शब्द विस्तार के अर्थ में है।

आजकल प्रपञ्च शब्द के अर्थ को सही अर्थ में कोई नहीं समझता। यदि यहाँ गुणस्थानों की गहरी-गहरी चर्चा प्रारंभ हो जाय तो तुरंत कोई न कोई कहेगा कि आप कहाँ प्रपञ्च में पड़ गए।

तो हम नाराज होकर कहने लगेंगे कि क्या जिनवाणी की गहराई से चर्चा करना प्रपञ्च है, हमारी इस जिनवाणी की चर्चा को आप प्रपञ्च

कहते हैं, आपको शर्म नहीं आती ?

अरे भाई ! यह कोई अन्य नहीं कह रहा है, आचार्य स्वयं ही कह रहे हैं कि हम ज्ञान के स्वरूप का प्रपञ्च करेंगे। अरे भाई ! यहाँ प्रयुक्त प्रपञ्च शब्द का अर्थ विस्तार होता है।

८२वीं गाथा की टीका के अन्त में आचार्य लिखते हैं – ‘अलमिति प्रपञ्चेन।’ अब इस प्रपञ्च से विराम लेते हैं अर्थात् बहुत विस्तार हो गया है, अब इसे समेटते हैं।

प्रवचनसार के इस अधिकार का वर्ण्यविषय सर्वज्ञस्वभाव का वर्णन है। यहाँ आचार्यदेव सर्वज्ञत्वशक्ति का विस्तार से वर्णन करेंगे; क्योंकि इस सर्वज्ञता का स्वरूप स्पष्ट हुए बिना जैनदर्शन ही आरंभ नहीं होता; क्योंकि हमारा जो आगम है, वह सर्वज्ञ की वाणी के आधार पर ही निर्मित हुआ है। यदि उनकी वाणी में, सर्वज्ञता में शंका करें तो हम आगम पर शंका करते हैं। उन्होंने जिसका प्रतिपादन किया, वही तो शास्त्र है। यदि हम उन पर ही अविश्वास करेंगे तो जैनदर्शन ही प्रारंभ नहीं होगा, जैनदर्शन को हम कभी समझ नहीं सकेंगे।

आज हमें जैनदर्शन के नाम पर सर्वज्ञ भगवान की ही वाणी उपलब्ध है। वह सर्वज्ञ की ही वाणी है, जिसके आधार पर देशनालब्धि प्राप्त होती है, आत्मा का अनुभव होता है। संपूर्ण जगत में आज जो जैनदर्शन विद्यमान है, वह सर्वज्ञ की वाणी की ही उपलब्धि है।

सर्वज्ञता के अस्वीकार में न केवल शास्त्रों पर ही, अपितु देव व गुरु पर भी प्रश्नचिह्न लग जायेगा; क्योंकि देव का स्वरूप इसी जिनवाणी में बताया है कि देव वीतरागी, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी होते हैं। यह हमने अनुभव से नहीं जाना है, अपितु शास्त्र द्वारा ही जाना है।

गुरु पीछी-कमण्डलु धारण करते हैं, यह सब शास्त्रों में ही लिखा है। शास्त्रों के आधार से ही मुनिराजों का आचरण सुनिश्चित होता है। शास्त्रों में देखकर ही हम कहते हैं कि यह ठीक आचरण है एवं यह ठीक

नहीं है। शास्त्रों के ही आधार से हम ऐसा निर्णय कर पाते हैं।

जितने भी अजैन हैं, वे सभी जैनमुनियों के बाह्य आचरण एवं नग्नावस्था को देखकर ही अभिभूत हो जाते हैं।

कोई अजैन विद्वान आता है तो वह हमारे मुनिराजों को देखकर गद्गद् हो जाता है; क्योंकि उनके यहाँ जिसतरह के परिग्रही गुरु हैं एवं जिसतरह का उनका आचरण है; उनके सन्मुख हमारे मुनिराज बहुत अच्छे लगते हैं।

एक बार राम बगुले की ध्यानमग्नमुद्रा देखकर बहुत प्रभावित हुए एवं बगुले की प्रशंसा करने लगे; तब तालाब की मछलियाँ रामचन्द्रजी से कहती हैं –

वकः किम् स्तूयते रामः येनाहम् निष्कुलीकृता।

हे राम! इस बगुले की क्या स्तुति करते हो, इसने तो हमारे कुल के कुल साफ कर दिए हैं। इसने ही तो हमारे माता-पिता तथा बच्चों को खा लिया है और हम अकेले रह गए। पड़ोसी ही पड़ोसी की प्रवृत्ति को जान सकता है।

जब कोई मछली बगुले के पास चली जाती है तो वह तुरन्त डुबकी लगाकर मछली को खा जाता है। फिर वैसा का वैसा ही ध्यान की मुद्रा में खड़ा हो जाता है। हम तो इसकी मात्र ध्यानमुद्रा ही देख पाते हैं; इसकी जो ये कुप्रवृत्ति है, उसे नहीं देख पाते हैं। हम उसे मात्र दस-बीस मिनिट ही देख पाते हैं; शेष समय यह कैसा नंगा-नाच करता है; यह हमें पता नहीं है।

उन अभिभूत अजैन विद्वानों ने जिनवाणी नहीं देखी है, जिसमें मुनि का स्वरूप प्रतिपादित है। वे स्वयं के ज्ञान के आधार पर ही उनके आचरण को तौल रहे हैं। उन्हें वास्तविक कसौटी का ही ज्ञान नहीं है। वे श्रावकों से उनकी तुलना करते हैं। वे कहते हैं कि वे हमसे तो अच्छे हैं, वे तुमसे तो अच्छे हैं। इसप्रकार वे जिनवाणी में प्रतिपादित कसौटी

को ही नहीं जानते हैं।

इसप्रकार सर्वज्ञता का स्वरूप यदि हमारे समझ में नहीं आयेगा तो देव-शास्त्र-गुरु - इन तीनों पर प्रश्नचिन्ह लग जाएगा।

आचार्यदेव सर्वज्ञता को बताकर एक तरह से देव का ही स्वरूप बता रहे हैं। आगे ८०वीं गाथा में आचार्य कहेंगे कि -

जो जाणदि अरहंतं द्रव्यगुणत्तपज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्सलयं ॥८०॥

(हरिगीत)

द्रव्यगुणपर्याय से जो जानते अरहंत को।

वे जानते निज आत्मा दृग्मोह उनका नाश हो ॥८०॥

जो अरहंत को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह आत्मा को जानता है और उसका मोह निश्चय से नष्ट होता है।

सर्वज्ञस्वभावी अरहंत को सर्वज्ञत्वशक्ति और सर्वज्ञता अर्थात् केवलज्ञान सहित जानने से अपना आत्मा भी समझ में आ जाता है; क्योंकि उनमें और हम में कोई अन्तर नहीं है।

सभी अरहंतों ने स्वयं अनुभूत इसी मार्ग को जगत के समक्ष प्रस्तुत किया है।

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।

किच्चा तधोवदेसं, णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥८२॥

(हरिगीत)

सर्व ही अरहंत ने विधि नष्ट कीने जिस विधि।

सबको बताई वही विधि हो नमन उनको सब विधि ॥८२॥

सभी अरहंत उसी पद्धति से कर्मांशों का क्षयकर तथा उसीप्रकार उपदेश देकर मोक्ष गये हैं - उन्हें नमस्कार हो।

८६वीं गाथा में आचार्यदेव दूसरा रास्ता सर्वज्ञकथित 'शास्त्रों का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए' यह बताते हैं।

इस सभी विवरण से यह स्पष्ट है कि सर्वज्ञता का स्वरूप जानना

अत्यंत आवश्यक है।

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।

सो णेव ते विजाणदि, उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१॥

(हरिगीत)

केवली भगवान के सब द्रव्य गुण-पर्याययुत।

प्रत्यक्ष हैं अवग्रहादिपूर्वक वे उन्हें नहीं जानते ॥२१॥

वास्तव में ज्ञानरूप से परिणत केवली भगवान के सभी द्रव्य-पर्यायों प्रत्यक्ष हैं और वे उन्हें अवग्रहादि क्रियाओं पूर्वक नहीं जानते।

केवली भगवान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा पूर्वक नहीं जानते; क्योंकि यह प्रक्रिया तो मतिज्ञान में सम्पन्न होती है। केवली भगवान के जानने में क्रम नहीं है, वे सभी को एकसाथ जानते हैं।

छहढाला में कहा है -

सकल द्रव्य के गुण अनंत परजाय अनंता।

जानै एकै काल प्रगट केवली भगवंता ॥

केवली भगवान इन्द्रियों के माध्यम से नहीं जानते हैं; वे एकसाथ एक समय में सब द्रव्यों की सब पर्यायों को प्रत्यक्ष जानते हैं।

अगली दो गाथाओं में इसी अतीन्द्रियज्ञान अर्थात् केवलज्ञान की महिमा गाई गई है। फिर अंत में २३वीं गाथा में इसका मतार्थ प्रस्तुत किया है; जो इसप्रकार है -

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।

णयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२३॥

(हरिगीत)

यह आत्म ज्ञानप्रमाण है अर ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है।

हैं ज्ञेय लोकालोक इस विधि सर्वगत यह ज्ञान है ॥२३॥

आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है तथा ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

कुछ मतवाले ऐसे हैं जो ऐसा कहते हैं कि आत्मा सर्वगत है अर्थात्

आत्मा सम्पूर्ण लोकालोक में व्याप्त है। एक ही आत्मा है और वही सर्वत्र व्याप्त है; जो हमारे शरीर में है, वह उसका ही अंश है; परन्तु जैनदर्शन कहता है कि ऐसा कोई सर्वगत आत्मा नहीं है।

जैनदर्शन में भी आत्मा को सर्वगत कहा है; परन्तु जैनदर्शन में समागत सर्वगत शब्द का अर्थ भिन्न है।

जैनदर्शन यह मानता है कि आत्मा शरीर प्रमाण है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि यह आत्मा शरीर में भी शरीर के मध्य अणु कणिका मात्र है; जो हृदयस्थान में विराजमान है। वह पूरे शरीर में नहीं है।

इसप्रकार भिन्न-भिन्न मत हैं।

आत्मा में असंख्यात प्रदेश हैं एवं प्रत्येक प्रदेश में ज्ञान है। जहाँ-जहाँ आत्मा के प्रदेश हैं; वहाँ-वहाँ ज्ञान है। जहाँ-जहाँ आत्मा के प्रदेश नहीं हैं; वहाँ-वहाँ ज्ञान भी नहीं है।

ज्ञान लोकालोक को जानता है। ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है अर्थात् जितने ज्ञेय हैं; उन सभी को ज्ञान जानता है; इस अपेक्षा से ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। 'गम्' धातु के दो अर्थ होते हैं - जाना और जानना। यहाँ आचार्य कहते हैं कि इस आत्मा ने अलोकाकाश को जाना तो मानो वह अलोकाकाश में पहुँच ही गया; जबकि लोकाकाश के बाहर कोई भी द्रव्य जाता नहीं है; फिर भी उसे जाना या पहुँचना कहते हैं।

आत्मा के लिए लोकालोक ज्ञेय है, इसका अर्थ है आत्मा लोकालोक तक चला गया। इसप्रकार जानने की अपेक्षा से ही आत्मा को सर्वगत कहा गया है।

जिस-जिस को आत्मा जानता है; वह वहाँ तक पहुँचता है। सूर्य का प्रकाश जहाँ-जहाँ पहुँचा; वहाँ-वहाँ सूरज पहुँच गया - ऐसा हम बोलते हैं। जहाँ किरण पहुँचती है, वहाँ सूरज पहुँचा - ऐसा भी हम बोलते ही हैं और जहाँ किरण भी नहीं पहुँची ऐसे तलघर में बैठे-बैठे हम बता सकते हैं कि अभी दिन है या रात। इसका अर्थ यह है कि सूर्य

ने अपनी सत्ता का ज्ञान वहाँ भी करा दिया, सूर्य वहाँ भी पहुँच गया। इसप्रकार जहाँ उसकी किरण पहुँची, वहाँ तो वह पहुँचा ही; पर जहाँ उसकी किरण नहीं पहुँची, वहाँ भी वह पहुँच गया।

ऐसे ही भगवान आत्मा के प्रदेश जहाँ तक जाते हैं; वहाँ तक तो वह आत्मा जाता ही है; किन्तु जहाँ तक आत्मा ने जाना; एक अपेक्षा से आत्मा वहाँ तक पहुँच गया - ऐसा भी कहा जाता है। इसी अपेक्षा से आचार्यदेव ने आत्मा को सर्वगत कहा है।

आत्मा ज्ञानप्रमाण है अर्थात् ज्ञान के बराबर है।

यदि कोई ऐसा कहे कि ज्ञान बड़ा है और आत्मा छोटा; क्योंकि ज्ञान तो लोकालोक में चला गया, पर आत्मा तो शरीर के प्रदेशों में ही रहता है। वह लोकाकाश के बाहर तो जा नहीं सकता है।

आचार्य कहते हैं कि ज्ञान गुण है एवं आत्मा द्रव्य है। द्रव्य के बिना गुण नहीं रह सकता है तो आश्रय के बिना ज्ञान वहाँ (अलोकाकाश में) कैसे रहेगा ?

यदि कोई ऐसा कहे कि हम ज्ञान को छोटा मानेंगे और आत्मा को बड़ा; क्योंकि ज्ञान जैसे अनंत गुण आत्मा में है। ज्ञान आत्मा का अनंतवाँ भाग है; क्योंकि आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड है।

ज्ञान को छोटा मानने पर ज्ञान की मर्यादा के बाहर जो आत्मा होगा, वह आत्मा अज्ञानरूप हो जाएगा; परन्तु आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है।

ऐसे-ऐसे अनेक तर्क देकर आचार्यदेव ने यह सिद्ध किया है कि आत्मा ज्ञानप्रमाण है। जितना आत्मा, उतना ज्ञान एवं जितना ज्ञान, उतना आत्मा।

आचार्य कहते हैं कि ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि वह ज्ञेयों में गये बिना ही ज्ञेयों को जान लेता है और ज्ञेयों का ऐसा स्वभाव है कि वे अपनी जगह रहे और ज्ञान में जाने जावे।

यदि हमें व आपको मिलना है तो या तो आपको हमारे पास आना

होगा या फिर हमें आपके पास जाना होगा; इसके बिना मिलना कैसे होगा ? इसीप्रकार ज्ञान ज्ञेयों के पास नहीं गया, ज्ञेय ज्ञान के पास नहीं आये तो फिर मिले कैसे ?

अरे भाई ! दूर रहकर भी ज्ञान ज्ञेयों को जान लेता है तथा ज्ञेय ज्ञान में जान लिए जाते हैं - ज्ञान का तथा ज्ञेयों का ऐसा ही विचित्र स्वभाव है।

ज्ञेय का स्वभाव है ज्ञान में जाये बिना अपना स्वभाव/स्वरूप भासित करा दे एवं ज्ञान का यह स्वरूप है कि ज्ञेयों के पास गये बिना, उनमें हस्तक्षेप किए बिना उनके स्वरूप को जान ले।

ऐसा जो ज्ञान का स्वभाव है; वह अतीन्द्रिय ज्ञान में प्रगट हो गया है। अतीन्द्रिय ज्ञान में यह सामर्थ्य है कि वह सुमेरु पर्वत के पास गए बिना भी उसे जान लेगा। सुमेरु पर्वत को तोड़े बिना उसके भीतर क्या है? वह उसे भी जान लेगा। ऐसे जानने में परज्ञेय को कभी कोई समस्या उत्पन्न नहीं हो सकती।

कोई कहे कि हमें आपकी जाँच करना है; इसलिए खड़े हो जाओ, बैठ जाओ, कपड़े खोलो, औंधे हो जाओ।

तो हम कहेंगे कि यह हमसे नहीं होगा।

यदि कोई यह कहे कि दूर खड़े-खड़े ही हम आपको जान लेंगे।

तो फिर हम यही कहेंगे कि जान सकते हो तो जान लो, हमें क्या करना है। इसप्रकार यदि हमें कोई परेशानी नहीं हो और कोई हमें जाने तो जान ले, हमें क्या है ?

ऐसे ही ज्ञान के जानने से यदि ज्ञेयों को भी कोई समस्या होती तो ज्ञेय भी ऐतराज करते; किन्तु उन्हें तो कोई समस्या नहीं है; क्योंकि ज्ञान उसके पास आएगा भी नहीं और ज्ञेयों को भी ज्ञान के पास जाना नहीं है, ज्ञेय अपना कार्य करते रहेंगे और सर्वज्ञ भगवान उसे जान लेंगे - ज्ञान का स्वभाव ऐसा ही है।

तीसरा प्रवचन

भगवान की दिव्यध्वनि के सार इस प्रवचनसार परमागम के ज्ञान तत्त्वप्रज्ञापन पर चर्चा चल रही है। इसमें प्रारम्भ की १२ गाथाओं में मंगलाचरण, शुद्धोपयोगरूप धर्म, उसका स्वरूप एवं फल के संदर्भ में वर्णन किया। १३वीं से २०वीं गाथा तक शुद्धोपयोग के फलस्वरूप अतीन्द्रिय ज्ञान एवं अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होता है; इसकी चर्चा की।

तत्पश्चात् २१वीं गाथा से ५२वीं गाथा तक ज्ञानाधिकार की चर्चा की। यहाँ आत्मा के ज्ञानस्वभाव की चर्चा नहीं की, अपितु उस अतीन्द्रिय ज्ञान की चर्चा की; जो शुद्धोपयोग से उपलब्ध होता है।

शुद्धात्मा के आश्रय से जो अनंतज्ञान-केवलज्ञान-सर्वज्ञता प्रगट होती है, उसकी चर्चा इस ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन के ज्ञानाधिकार में है। इसलिए इसे हम अतीन्द्रियज्ञानाधिकार भी कह सकते हैं।

‘आत्मा ज्ञानप्रमाण है’ अभी यह चर्चा चल रही है।

यदि हम ज्ञान को छोटा और आत्मा को बड़ा मानेंगे तो अव्याप्ति दोष आएगा; क्योंकि ज्ञानलक्षण संपूर्ण आत्मा में व्याप्त नहीं होगा। अतः आत्मा को ज्ञानप्रमाण ही मानना चाहिए।

हीणो यदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि ।

अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥२५॥

(हरिगीत)

ज्ञान से हो हीन अचेतन ज्ञान जाने किसतरह।

ज्ञान से हो अधिक जिय किसतरह जाने ज्ञान बिन ॥२५॥

यदि यह आत्मा ज्ञान से कम हो तो ज्ञान अचेतन हो जाने से जानता नहीं है तथा यदि यह आत्मा ज्ञान से अधिक हो तो ज्ञान के बिना वह कैसे जान सकता है ?

इसलिए आचार्यदेव ने आगे की गाथा में भगवान को सर्वगत कहा है-

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्टा ।

णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा ॥२६॥

(हरिगीत)

हैं सर्वगत जिन और सर्व पदार्थ जिनवरगत कहे ।

जिन ज्ञानमय बस इसलिए सब ज्ञेय जिनके विषय हैं ॥२६॥

ज्ञानमय होने से गणधरादि में प्रधान सर्वज्ञ भगवान सर्वगत हैं तथा उन सर्वज्ञ भगवान के ज्ञेयरूप विषय होने से जगत में स्थित सभी पदार्थ सर्वज्ञगत है - ऐसा कहा गया है ।

सभी पदार्थ जिनवरगत है अर्थात् संपूर्ण पदार्थ भगवान के ज्ञान के ज्ञेय बन गए हैं; इसलिए भगवान को सर्वव्यापी कहा गया है ।

समयसार में तो स्पष्ट कहा गया है कि -

‘नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।’^१

परद्रव्य और आत्मतत्त्व में कोई भी सम्बन्ध नहीं है ।

यह ज्ञेय-ज्ञायक संबंध भी तो एक संबंध है । सम्बन्ध है इसलिए यह पराधीनता का द्योतक है ।

तात्पर्य यह है कि ‘आत्मा परद्रव्य को जानता है’ - यदि हम ऐसा मानेंगे तो ज्ञेय-ज्ञायक संबंध हो जाएगा और आत्मा पराधीन हो जाएगा; ज्ञेयों के आधीन हो जाएगा अथवा ज्ञेय आत्मा के आधीन हो जाएँगे । इसलिए दोनों ही पराधीन हो जाएँगे ।

जैसे - एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति का हाथ पकड़ लिया और बोला कि ‘अब मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगा ।’ इसमें जिसका हाथ पकड़ा वह भी बँधा और जिसने हाथ पकड़ा वह भी बंध गया; क्योंकि जबतक वह उसका हाथ नहीं छोड़े, तबतक वह कहीं नहीं जा सकता है । इसप्रकार दोनों बँधे हुए हैं ।

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द २००

ऐसे ही ज्ञान ज्ञेय को जाने तो अकेले ज्ञेय ही नहीं बँधे, ज्ञान भी बंध जाएगा । ज्ञान को ज्ञेयों के पास जाना पड़ेगा अथवा ज्ञेयों को ज्ञान के पास आना पड़ेगा ।

मान लीजिए, हम आपके घर आए या आप हमारे घर आए; बंधन तो दोनों को ही हो गया । उतने समय दोनों को ही रुकना पड़ा ।

बहुत से लोग कहते हैं कि भाईसाहब ! हमें आपसे मिलना है, तो मैं कहता हूँ कि ‘क्या मैं आपके पास आ जाऊँ ?’

वे कहते हैं कि ‘नहीं, नहीं; हम ही आपके पास आ जायेंगे ।’

दोनों यह जानते हैं कि यदि इन्होंने यह कह दिया कि मैं आपके घर आकर मिलूँगा, तो अब मैं घर में बंध गया । वे आए तो आए और नहीं आए तो नहीं आए । दो घंटे पहले भी आए और दो घंटे लेट भी आए - इसप्रकार मैं तो चार घंटे के लिए बंध गया । वे दोनों बंधना नहीं चाहते हैं; इसलिए दोनों ‘मैं ही आ जाऊँगा’ - ऐसा कहते हैं ।

वे कहते हैं कि ‘आप तो घर पर ही रहो, आराम से ।’ अर्थात् तुम बंधो और मुझे समय मिलेगा तो मैं आऊँगा और यदि समय नहीं मिला तो नहीं आऊँगा ।

यदि वह उनके घर पर पहुँच जाता है और वे घर पर नहीं मिलते हैं तो यह बड़ा अपराध हो जाता है । वह कहता है ‘आपसे बात हो गई थी, फिर भी आप घर पर नहीं रहे और मैं मुफ्त में ही आपके घर के चक्कर लगाता रहा ।’

इसीप्रकार कुछ लोगों को यह शंका होती है कि ज्ञान ज्ञेयों को जानेगा तो ज्ञान ज्ञेयों से बंध जाएगा और ज्ञेय ज्ञान से बंध जाएँगे तथा दो द्रव्यों के मध्य जो पृथक्तरूप वज्र की दीवार है, वह टूट जाएगी; परद्रव्य और आत्मतत्त्व में कोई भी सम्बन्ध नहीं है - यह महासिद्धान्त खण्डित हो जाएगा ।

उक्त सन्दर्भ में आचार्यदेव २८वीं व २९वीं गाथा में कहते हैं कि जिसप्रकार चक्षु रूप को जानती है, उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेयों को जानते हैं

और ज्ञेय ज्ञान में जाने जाते हैं।

जब हम किसी चीज का रस चखते हैं तो पदार्थ को हमारे जिब्हा तक आना पड़ता है अथवा हमारी जिब्हा को उस पदार्थ तक जाना पड़ता है; अन्यथा रस नहीं चखा जा सकता।

किसी पदार्थ की गंध को हमें जानना है तो उस गंध को हमारे नाक में आकर टकराना होगा अथवा हमारी नाक को उस गंध तक जाना होगा। अन्यथा हम उस गंध को नहीं जान सकते हैं।

यदि हमें शब्द सुनना हो तो उन शब्दों को हमारे कान से टकराना होगा, अन्यथा हमारे कान को वहाँ जाकर लगना पड़ेगा। अन्यथा हम उन शब्दों को नहीं सुन सकते हैं।

यदि हम किसी वस्तु को सूँघने अर्थात् गंध का ज्ञान करने जाय और उस वस्तु से हमें एलर्जी हो तो हमें जुखाम हो सकता है, अगर जोर से शब्द हमारे कानों पर पड़े तो हमारे कान का पर्दा भी फट सकता है, हम मिर्ची का स्वाद चखने जाए तो हमारी जिब्हा भी जल सकती है; क्योंकि हमें वहाँ जाकर उसका स्पर्श करना पड़ता है।

इतनी सारी समस्यायें देखकर सामनेवाला यह कह सकता है कि हमें ऐसा जाननेवाला संबंध नहीं चाहिए।

तब आचार्य कहते हैं कि यह संबंध नेत्रेन्द्रिय जैसा है। जैसे नेत्र अग्नि को देखें तो जलते नहीं हैं, बर्फ को देखें तो ठण्डे नहीं होते। जिसप्रकार आँख दूर रहकर जानती है; अतः अप्राप्यकारी है अर्थात् उस पदार्थ को प्राप्त नहीं होती है, उन पदार्थों के पास नहीं जाती है, ज्ञान का स्वभाव भी ऐसा ही है।

जिस जीव ने ज्ञान के स्वभाव को नहीं पहचाना और इन्द्रियज्ञान को ही ज्ञान मान लिया तो वह जीव जानने से ही घबराने लगता है।

आचार्य कहते हैं कि ज्ञान का स्वभाव चक्षु इन्द्रिय जैसा है; रसना, घ्राण अथवा स्पर्शन इन्द्रिय जैसा नहीं है।

लोग कहते हैं कि - “भाईसाहब ! मैंने एक किताब लिखी है,

आप जरा इस पर एक निगाह डाल लो।”

तब मैं कहता हूँ “मेरे पास समय नहीं है।”

क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरे दो घंटे व्यर्थ हो जाएँगे; यह पहले तो निगाह डालने के लिए कहेगा; इसके बाद कहेगा कि कहीं गड़बड़ी हो तो ठीक कर देना और यदि ठीक है तो ठीक है - यह लिखकर दे देना। यदि उसे गड़बड़ी बताएँगे तो बहस करेगा, समय व्यर्थ करेगा।

यदि तंग आकर हम “ठीक है” - ऐसा कह देते हैं तो ‘लिख के दो’ - ऐसा कहता है। वह कहता है कि - ‘इसमें मैं दो शब्द छाप देता हूँ कि आपने इसे अच्छी तरह देख लिया है और यह बिल्कुल सही है।’

जो इसकी गलतियाँ हैं; उन्हें वह हमारे ही माथे अनन्तकाल तक के लिए मढ़ना चाहता है। वह सिर्फ दिखाने के लिए नहीं दिखाना चाहता है।

यह कहता है कि जरा-सा देख लीजिए ! भाई ! यह जरा-सा देखना नहीं है; बहुत तकलीफ का काम है।

अरे भाई ! जानने में तकलीफ नहीं है; जो तकलीफ हुई है, वह राग-द्वेष के कारण हुई है। सहजभाव से जानने में आ जाए तो कोई समस्या नहीं है।

इसलिए आचार्य कहते हैं कि जैसे चक्षु रूप को जानती है; वैसे ही तुम जानो; घबराओ नहीं। अगली गाथा में आचार्य स्पष्ट करते हैं -

ण पविट्टो णाविट्टो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।

जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥२९॥

(हरिगीत)

प्रविष्ट रह अप्रविष्ट रह ज्यों चक्षु जाने रूप को ।

त्यों अतीन्द्रिय आत्मा भी जानता सम्पूर्ण जग ॥२९॥

न तो ज्ञान ज्ञेय में प्रविष्ट होता है और न ही ज्ञेय ज्ञान में। ज्ञेय ज्ञेय में रहते हैं और ज्ञान ज्ञान में रहता है। ज्ञान के जानने से ज्ञेय में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है और ज्ञेय ज्ञान में जाने जाते हैं तो ज्ञान में कोई बाधा

उत्पन्न नहीं होती है।

जैसे किसी ने गाली दी। उस गाली का ज्ञान मुझे हुआ; उससे मुझे कोई बाधा उत्पन्न नहीं हुई। यदि कोई बाधा उत्पन्न होती है तो वह ज्ञानस्वभाव नहीं है। यह जानने का दोष नहीं है, यह कोई दूसरा ही दोष है। मुझमें जो राग-द्वेष हैं, उनके कारण मुझे बाधा उत्पन्न हुई है न कि ज्ञान के कारण।

केवली भगवान में तो राग-द्वेष हैं नहीं; इसलिए उन्हें कोई बाधा होनेवाली नहीं है। उन्हें कोई गालियाँ सुनाए तो भी कुछ बाधा नहीं होनेवाली है; क्योंकि वह स्थिति सहजभाव से उनके ज्ञान का ज्ञेय बनकर रह जाएगी। उनकी कितनी ही प्रशंसा करो, कितनी ही भक्ति करो, यह स्थिति भी सहज भाव से उनके ज्ञान का ज्ञेय बनकर रह जाएगी।

ऐसा वस्तुस्वरूप हमारे हित में ही है। क्योंकि भगवान की हमने जितनी स्तुति के रूप में प्रशंसा की है; अगर उससे वे प्रसन्न या नाराज हो गए तो....।

यहाँ नाराज होने के ही अवसर अधिक हैं, प्रसन्न होने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता; क्योंकि हमने उनके ऊपर बहुत झूठे आरोप लगाए हैं। 'द्रोपदी को चीर बढ़ायो' 'सीता प्रति कमल रचायो' 'अंजन से किए अकामी, अब मेरी भी बार अबार कर रहे हो।' 'गाय का दूध दुह लिया, नीचे से छुपे-छुपे।' 'महावीर तूने भूत भगा दिए।' - ऐसे न जाने कितने ही आरोप हमने उन पर लगाये हैं। हमने उनकी सही रूप में स्तुति की ही नहीं। अतः उनके प्रसन्न होने का प्रश्न ही नहीं होता; क्योंकि जैसा वे कभी करते नहीं; ऐसी कितनी ही कर्तृत्व की बातें हमने उन पर थोपी हैं। उन पर हमने कर्तृत्व के आरोप लगाए हैं; जबकि वे जानने के अलावा कुछ ही नहीं करते। अच्छा है कि वे इन आरोपों से नाराज नहीं होते और झूठी प्रशंसा से खुश नहीं होते; सच्ची प्रशंसा से भी वे खुश नहीं होते।

इन्द्रियज्ञान के साथ में राग-द्वेष अनिवार्य है। वह राग-द्वेष ज्ञान में आए ज्ञेयों से होता है। अतीन्द्रियज्ञानवालों में राग-द्वेष नहीं है; इसलिए वे पूर्णतः निर्दोष है। संपूर्ण लोकालोक अतीन्द्रियज्ञान में झलकें तो भी उसमें कोई प्रवेश करनेवाला नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय दोनों अपनी-अपनी जगह ही रहते हैं।

१९६१-६२ में जब मेरा अपेन्डिक्स का ऑपरेशन हुआ था, तब भोपाल के झरने के मंदिर में बैठकर मैंने ज्ञानस्वभाव के बारे में एक दोहा लिखा था। उसकी भाषा तो अच्छी नहीं है; लेकिन भाव बहुत बढ़िया है-

ज्ञान न ज्ञेयों में घुसे, ज्ञेय न ज्ञान के मांहि।

कमल विकासी सूर्य है सूर्य कमल तो नांहि ॥

ज्ञान ज्ञेयों में प्रवेश नहीं करता है और ज्ञेय ज्ञान में प्रवेश नहीं करते हैं। सूर्य से कमल खिलता है; पर सूर्य कमल तो नहीं हो जाता।

यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि ज्ञान और ज्ञेय सूर्य और कमल के समान परस्पर इतने दूर हैं कि कोई किसी का कुछ कर ही नहीं सकता है। सूर्य ने कमल में कुछ नहीं किया और कमल ने सूर्य में कुछ नहीं किया। यह तो सब सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि सूर्य उगता है तो कमल खिल जाता है।

ज्ञान ने संपूर्ण लोकालोक को सहजभाव से जान लिया है और संपूर्ण लोकालोक ज्ञान में सहजभाव से झलक गया है।

आचार्यदेव ने गाथा के माध्यम से कहा ही है कि जैसे चक्षु रूप को देखती है; उसीप्रकार आत्मा इन्द्रियातीत होता हुआ ज्ञेयों में न अप्रविष्ट होकर और न ही प्रविष्ट रहकर अशेष जगत को जानता-देखता है। जानना-देखना आत्मा का स्वभाव है, स्व-परप्रकाशकत्व यह एक आत्मा की शक्ति है।

यहाँ एक प्रश्न है कि आत्मा में जो ज्ञानगुण है, वह निश्चय से है या व्यवहार से है?

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। जब आत्मा और ज्ञान – ऐसा भेद करते हैं, तब उस भेद को व्यवहार कहते हैं। ज्ञानगुण व्यवहार से नहीं है, हमने ज्ञान और आत्मा में जो भेद किया है, वह व्यवहार से है। जिसप्रकार ज्ञान नामक गुण है; वह निश्चय से है; उसीप्रकार स्वपरप्रकाशकत्व शक्ति भी एक गुण है; अतः वह भी निश्चय से है। यदि स्वपरप्रकाशकत्व शक्ति और आत्मा – ऐसा भेद करेंगे तो वह व्यवहार कहलायेगा।

पर को जानने का निषेध करने पर मात्र पर को ही जानने का निषेध नहीं होगा, अपितु स्व को जानने का भी निषेध हो जायेगा; क्योंकि यहाँ जानने का ही निषेध हो गया।

ज्ञान में संपूर्ण लोकालोक झलकते हैं। यह ज्ञान का स्वभाव है, विभाव नहीं, विकार नहीं। स्वपरप्रकाशक ज्ञान का स्वभाव है। ज्ञान का स्वभाव जानने से 'हमारा ज्ञान पर को जानने से विकृत हो जायेगा' – ऐसा भय निकल जाता है।

किसी न किसी के द्वारा जाना जाय – यह ज्ञेय का स्वभाव है; हर ज्ञेयपदार्थ प्रतिसमय अनंत सिद्ध भगवन्तों के ज्ञान का ज्ञेय बन रहा है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ज्ञेयपदार्थ सबके ज्ञान के ज्ञेय बनते हैं तो यहाँ 'किसी न किसी' – ऐसा क्यों लिखा ?

हम यह न कहने लग जाए कि अमुक पदार्थ मेरे ज्ञान का ज्ञेय तो नहीं बना, मुझे तो नहीं दिखा। इसलिए यहाँ लिख दिया कि 'किसी न किसी के' ज्ञान का विषय बनता है; परन्तु ज्ञेयत्वस्वभाव में ऐसी कोई शर्त नहीं है कि वह किसी न किसी के ज्ञान का विषय बने। उसकी तो यह शर्त है कि वह सबके ज्ञान का ज्ञेय बने; परन्तु किसी के ज्ञान में कमजोरी हो तो यह सम्भव नहीं है।

दर्पण का यह स्वभाव है कि जो उसके सामने आए, उसमें वह झलके; परन्तु दर्पण मैला हो, उस पर कपड़ा पड़ा हो तो यह दर्पण का

दोष है। उस ज्ञेय ने कहाँ प्रतिबंध लगाया कि तुम मुझे नहीं जानो।

जगत के जो ज्ञेय हैं, वे स्वयं परिणमन कर रहे हैं। ज्ञान के जानने से उनमें पराधीनता नहीं आती है और ज्ञान नहीं जाने तो वे पराधीन हो गए – ऐसा भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि को अगुप्तिभय नहीं होता है; क्योंकि उसके गुप्त नाम की कोई चीज ही नहीं है, कोई पदार्थ छिपा हुआ है ही नहीं।

नैतिक व्यवहार के लिए भी जैनेतरों में यह कहा जाता है कि भगवान सब जगह हैं, वे सबको देखते हैं; पाप करोगे तो छुपकर नहीं कर सकते हो।

एक बार मास्टरजी ने सभी बच्चों को मिट्टी की चिड़िया बना कर दी और कहा कि जहाँ कोई नहीं देखे – ऐसी जगह जाकर उसकी गर्दन तोड़के लाओ। सब लड़के गुरुजी से दूर जाकर उसकी गर्दन तोड़ लाए; परन्तु एक बालक ऐसा न कर सका। उसने कहा, गुरुजी ! मैंने बहुत कोशिश की; लेकिन मैं असफल रहा; क्योंकि ऐसी कोई जगह नहीं है; जहाँ भगवान नहीं देख रहा हो। अतः अगर कोई पाप करते हुए यह सोचे कि कोई नहीं देख रहा है तो यह गलत है; क्योंकि भगवान सब देख रहे हैं।

इसप्रकार जैनेतर समाज में नैतिकता का प्रचार किया जाता है। अगर इतनी बात से नैतिकता आ जाती है तो जैनों में भी आ जानी चाहिए; क्योंकि अजैनों के यहाँ तो केवल एक भगवान देखते हैं; लेकिन जैनियों के यहाँ तो अनंते भगवान देखते हैं। आत्मा का स्वभाव देखना-जानना है, सबको जानना-देखना है। कोई बात छुपी रहने का स्वभाव ही नहीं है। कहीं कोई छुपाने का उपाय ही नहीं है; इसलिए छिपाने जैसा काम करना ही क्यों ?

मेरा यह सिद्धान्त है कि जो किसी से नहीं कहना है, वह कहो ही मत। आप किसी से कहेंगे, फिर वह भी किसी से कहेगा। वह उससे कहते हुए साथ में यह भी कहेगा कि 'तुम किसी से कहना नहीं।' – ऐसे कहते-कहते वह वार्ता सारे जगत में फैल जाएगी।

तथा साथ में यह भी होता जाएगा कि तुम किसी से कहना नहीं और यदि तुमने ऐसा कहकर उस बात को और आगे बढ़ा दिया तो वह भी ऐसे ही बढ़ाएगा। इसलिए ऐसा कहना ही नहीं। गुप्त नामकी कोई चीज रखना ही नहीं। जो कहो, वह यही मानकर कहना कि यह सारे जगत में पहुँच जाएगी। कम से कम जिसके बारे में कहा जा रहा है; उस तक तो पहुँच ही जाएगी।

दूसरों पर ऐसा दोषारोपण कभी मत करना कि - 'आप इस बात को पचा नहीं सके।' यदि तुम स्वयं ही इस बात को गुप्त नहीं रख सके तो जगत में और कौन इस बात को गुप्त रखेगा ?

मैं प्रतिवर्ष अमेरिका जाता हूँ। वहाँ अमेरिकावालों से कहता हूँ कि - 'आप हिन्दुस्तान में पैदा हुए, हिन्दुस्तान में ही पढ़े, २५ वर्ष तक हिन्दुस्तान में रहे, हिन्दुस्तान में ही विवाह हुआ, सन्तान हुई। उसके बाद आप अमेरिका आए हो। यदि आप ही स्वयं अपनी संस्कृति को सुरक्षित नहीं रख पाए, अपने धार्मिक संस्कार जीवित नहीं रख पाए तो यह आपकी अगली पीढ़ी, जो यहाँ ही पैदा हो रही है; उनसे धार्मिक संस्कार जीवित रहेंगे' - ऐसी अपेक्षा करना व्यर्थ ही है।

ऐसे ही मैं तुमसे कहता हूँ कि तुमने इस जैनतत्त्वज्ञान को समझा है; पाँच साल, दस साल अध्ययन किया है। यदि तुम ही इसे जीवित नहीं रखोगे तो फिर कौन रखेगा ? दूसरे तो जैनधर्म के संबंध में शून्य हैं, उनसे क्या अपेक्षा करोगे ?

वह कहता है कि मैंने तो अकेले इनसे कहा था और इन्होंने दस लोगों से कह दिया। इन्होंने बहुत बड़ी गलती की।

अरे भाई ! गलती यदि किसी ने आरंभ की तो वह तुमने ही आरंभ की है। भाई, एक दाना बो दो तो दश दाने पैदा होते ही हैं, उसमें क्या है? वह एक गेहूँ का दाना तुमने ही बोया है।

रयणमिह इन्द्रणीलं दुद्धज्जसियं जहा सभासाए।

अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमट्टेसु ॥३०॥

(हरिगीत)

ज्यों दूध में है व्याप्त नीलम रत्न अपनी प्रभा से।

त्यों ज्ञान भी है व्याप्त रे निश्लेष ज्ञेय पदार्थ में ॥३०॥

आचार्य कहते हैं कि दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपनी कांति से दूध को अभिभूत कर प्रवर्तित होता है, उसीप्रकार ज्ञान पदार्थों में प्रवर्तित होता है।

इन्द्रनील नामक एक रत्न होता है, मणि होता है। उसका स्वभाव इसप्रकार होता है कि दूध में डाल दो तो सारा दूध नीला-नीला दिखाई देता है।

इन्द्रनीलमणि की नीलिमा क्या दूध में प्रविष्ट हो गई ? यदि प्रविष्ट हो गई होती तो इन्द्र नीलमणि के उठाते ही दूध सफेद दिखाई नहीं देता। वह दूध नीला हुआ नहीं है, सिर्फ नीला दिख रहा है।

यदि नीला रंग उस दूध में डाल देते और वह दूध नीला हो जाता तो फिर उसे पृथक् करने का कोई उपाय नहीं था; परन्तु इन्द्रनीलमणि को आप उठाकर अलग कर देते हो तो वह दूध बिल्कुल सफेद है। जब तुम्हें नीला दिख रहा है, तब भी वह बिल्कुल सफेद है।

विवेकी को यह ख्याल में है कि वास्तव में दूध नीला नहीं, सफेद है; नीला दिखाई दे रहा है। इन्द्रनीलमणि की नीलिमा दूध में रंचमात्र भी नहीं गई है और न ही इन्द्रनीलमणि ने दूध में प्रवेश किया है।

जैसे दूध में बिस्कुट डाल दो तो, उसके रोम-रोम में दूध मिल जाता है, वह गल जाता है। ऐसे ही इन्द्रनीलमणि के रोम-रोम में दूध मिल गया है क्या ?

आचार्य कहते हैं कि इन्द्रनीलमणि में दूध का एक कण भी नहीं गया है। बाल्टी में इन्द्रनीलमणि जहाँ है, वहाँ दूध नहीं है और जहाँ दूध है, वहाँ इन्द्रनीलमणि नहीं है; फिर भी दूध नीला दिखाई दे रहा है।

ऐसे ही ज्ञान ज्ञेयों को जानता है और ज्ञेय ज्ञान में जाने जाते हैं; तथापि ज्ञान ज्ञेयों में रंचमात्र भी नहीं जाता है। हमें ऐसा दिखाई देता है कि ज्ञान ज्ञेयों में चला गया है। जैसे इन्द्रनीलमणि की नीलिमा दूध में चली गई है - ऐसा दिखता है; उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेयों में चला गया है - ऐसा दिखाई देता है। यद्यपि वह इन्द्रनीलमणि दूध में रंचमात्र भी नहीं गया है; तथापि ऐसा ही कहा जाता कि वह पूरे दूध में फैला हुआ है; क्योंकि पूरा दूध उससे प्रभावित हुआ है; उसके कारण पूरा दूध नीला दिखाई दे रहा है; इसलिए ऐसा कहा जाता है कि इन्द्रनीलरत्न सर्व दूधगत है।

इसीप्रकार ज्ञान ज्ञेय में नहीं गया है; फिर भी ज्ञान ने उस ज्ञेय को जाना है। इसी अपेक्षा से उसे सर्वगत कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि वहाँ गये बिना, ज्ञेय में रंचमात्र भी हस्तक्षेप किए बिना जाना जा सकता है, यह इसके ज्ञान का स्वभाव है, जो इसके ख्याल में नहीं आता है।

यह आत्मा सर्वज्ञत्वस्वभाववाला है। अरहंत भगवान की सर्वज्ञता स्वभाव में से आई है। यह स्वभाव प्रगट हुआ है, यह कोई विकार प्रगट नहीं हुआ है।

आचार्य कहते हैं कि आप पहले अरहंत को जानो, फिर आत्मा को जानने का नंबर आयेगा; क्योंकि तुम्हें सर्वज्ञता का ही स्वरूप ख्याल में नहीं है। तुम्हें सर्वज्ञता प्रगट करनी है न? हाँ। तो फिर वह सर्वज्ञता क्या है? कैसे प्रगट होगी? इसके बारे में जान लो।

अपने लड़के के लिए कोई लड़की पसंद करते हैं तो क्या बिना देखे पसंद करते हैं? वह हमारे घर में आएगी, जिन्दगी भर बहू बनकर रहेगी। इसीलिए कहते हैं कि थोड़ा पहले देख लेने दो।

कोई कहे कि जिन्दगी भर देखना है; क्योंकि वह तुम्हारे ही घर में बहू बनकर रहनेवाली है। तब वह कहता है कि - 'पहले नहीं दिखा

सकते? अरे! बिना देखे आएगी कैसे? देखूँगा पहले।

ऐसे ही सर्वज्ञता प्राप्त करनी है और अतीन्द्रिय ज्ञान एवं अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करना है तो प्रथम अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वरूप क्या है, सर्वज्ञता कैसी है? इसके संदर्भ में ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है।

बिना ही जाने, केवलज्ञान जब हो जाएगा, तब देख लेंगे, ऐसा नहीं चलेगा। भाईसाहब! एक बार सर्वज्ञता प्रगट होने के बाद वह मिटनेवाली नहीं है; क्योंकि वह 'भंगविहीनो ही भवो' अर्थात् भंग से रहित भव है। फिर वह अनंतकाल तक तुम्हारे ही पास रहेगी। यदि तुम्हें पसंद नहीं आई तो भी वापिस नहीं होगी।

जिसप्रकार एक बार दुकान से लिया गया सामान वापिस नहीं होता है; इसलिए दुकान से सामान लेने से पहले ही उसे अच्छी तरह से देख लेते हैं, उसके लेने का विचार करने से पहले ही उसे अच्छी तरह से समझ लेते हैं। उसीप्रकार प्रथम सर्वज्ञता का स्वरूप अच्छी तरह से समझ लो। उसके बाद जब हमारी आत्मा पर हमारी दृष्टि जायेगी; तब सर्वज्ञता प्राप्त करने का पथ प्रारम्भ होगा।

तब भी सर्वज्ञता प्राप्त नहीं होगी। फिर भी सर्वज्ञता प्राप्त करने में वर्षों लग सकते हैं। सर्वज्ञता प्राप्त होने का समय सर्वज्ञता को समझे बिना आरम्भ ही नहीं होगा। अरहंत के स्वरूप को जाने बिना आत्मा के स्वरूप को जानने की प्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं होगी।

अशुद्ध सोने में शुद्ध सोना कितना है; यह जानने के लिए, पहले शत-प्रतिशत शुद्ध सोना देखना होगा, जानना होगा। कहीं ऐसा न हो कि नाई के यहाँ गए और बोले -

“मेरे बाल बना दो। बाल बनवाने के कितने रुपए लोगे?”

तब वह कहता है - “यहाँ २ रुपए के भी बाल बनते हैं, १० रुपए के भी बाल बनते हैं, २० रुपए के भी बाल बनते हैं। तुम्हें जैसे बनवाने

होंगे, वैसे बना दूँगा।”

फिर यह कहता है – “पहले दो रुपए के बाल बना दो, बाद में यदि नहीं जचेंगे तो २० रु. के बनवा लूँगा।”

वह नाई उस्तरा से सारे बाल साफ कर देता है।

यह व्यक्ति कहता है कि “यह क्या ? यह तो अच्छा नहीं लगता। गड़बड़ हो गई। अब तो तुम २० रु. के बना दो।”

फिर नाई कहता है – “अब जब बाल ही नहीं रहें तो २० रुपए के बाल कैसे बनाऊँगा।”

ऐसे ही यह यदि बिना समझें सर्वज्ञता ले ले और फिर यह कहे कि इसमें तो सारी दुनियाँ दिखाई दे रही है। मुझे तो पर को देखना ही नहीं था; क्योंकि मेरी दृष्टि में तो पर को देखना-जानना पाप है। अब तो अनन्तकाल तक सम्पूर्ण लोकालोक ज्ञान में झलकेगा। अब क्या करूँ ? ऐसी स्थिति में सर्वज्ञता नष्ट नहीं होगी अर्थात् वह ऐसा उत्पाद है कि जिसका विनाश ही नहीं होगा।

अरे भाई ! सर्वज्ञता पहले समझ में आती है और बाद में जीवन में आती है।

ताजमहल जमीन पर बना, इसके पहले कागज पर बना होगा। कागज पर बनने के पहले किसी के ज्ञान में बना होगा। ऐसे ही सर्वज्ञता जब पर्याय में प्रगट होगी, तब पहले जब वह तेरी समझ में आवेगी, तेरे मतिज्ञान में सर्वज्ञता का स्वरूप ख्याल में आएगा और जब यह सर्वज्ञता का स्वरूप सम्यक् रीति से ख्याल में आएगा, तब सर्वज्ञता प्रगट होने का कार्य प्रारम्भ होगा।

यदि आप यह सोचते हैं कि जब सर्वज्ञता हो जाएगी, तब देख लेंगे। जब आत्मा का अनुभव हो जाएगा तो मैं अन्दर में देख लूँगा कि आत्मा कैसा है ? तब आचार्य कहते हैं कि – ऐसा नहीं चलेगा।

प्रथम इस जीव को आत्मा को अच्छी तरह से समझना होगा। गुरु के मुख से, शास्त्र से आत्मा को अच्छी तरह से समझने के बाद सर्वज्ञता का मार्ग प्रशस्त होगा। इसलिए आचार्य यहाँ सर्वज्ञता का स्वरूप बता रहे हैं।

जैसे इन्द्रनीलमणि को दूध में डाल दिया तो दूध खराब हो जाएगा या इन्द्रनीलमणि खराब हो जाएगा – यह चिंता दिमाग से पूर्णतः निकाल दो। कितनी ही बार इन्द्रनीलमणि को दूध में डालो तो भी न दूध खराब होनेवाला है और न ही इन्द्रनीलमणि। इन्द्रनीलमणि दूध में जाए अथवा न जाए तो भी दूध में कोई फर्क आनेवाला नहीं है। ऐसे ही ज्ञान ज्ञेयों को जाने तो ज्ञेयों में कुछ ही गड़बड़ी होनेवाली नहीं है और ज्ञेय ज्ञान के जानने में आवें तो ज्ञान में कुछ गड़बड़ी होनेवाली नहीं है।

इसे ही आचार्य ने मूलतः इसप्रकार स्पष्ट किया है –

जदि ते ण संति अट्टा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं ।

सव्वगयं वा णाणं कंठं ण णाणट्टिया अट्टा ॥३१॥

(हरिगीत)

वे अर्थ ना हों ज्ञान में तो ज्ञान न हो सर्वगत ।

ज्ञान है यदि सर्वगत तो क्यों न हों वे ज्ञानगत ॥३१॥

यदि वे पदार्थ ज्ञान में न हों तो ज्ञान सर्वगत नहीं हो सकता और यदि ज्ञान सर्वगत है तो पदार्थ ज्ञान में स्थित कैसे नहीं होंगे ?

इसे हम इसप्रकार भी कह सकते हैं कि चाहे ज्ञानगत सारा लोक है – ऐसा कहो अथवा ज्ञान सर्वगत है – ऐसा कहो – दोनों का एक ही अर्थ है; लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनों के मध्य वज्र की दीवार कायम है। यह दीवार पारदर्शी है। यह स्थूल काँच जैसी पारदर्शी नहीं; मणियों जैसी पारदर्शी है। यद्यपि इसे कोई तोड़ नहीं सकता; तथापि सामने के पदार्थ बिल्कुल साफ दिखाई देते हैं।

ज्ञेयों का स्वभाव ज्ञान में प्रवेश करने का नहीं है और ज्ञान का

स्वभाव अपने अंदर उन्हें जगह देने का नहीं है। ज्ञान का स्वभाव वहाँ जाने का भी नहीं है। इस ज्ञानस्वभाव व ज्ञेयस्वभाव को जान ले तो सारी आकुलता स्वयमेव ही नष्ट हो जाएगी।

इसे स्पष्ट करनेवाली महत्त्वपूर्ण गाथा इसप्रकार है -

गणहृदि णेव ण मुंचदि, ण परं परिणमदि केवली भगवं।

पेच्छदि समंतदो सो, जाणदि सव्वं णिरवसेसं॥३२॥

(हरिगीत)

केवली भगवान पर ना ग्रहे छोड़े परिणमें।

चहुं ओर से सम्पूर्णतः निरवशेष वे सब जानते॥३२॥

केवली भगवान पर को ग्रहण नहीं करते, छोड़ते नहीं हैं, परिणमन नहीं करते। वे मात्र पूर्णरूप से सबको, सभी ओर से जानते और देखते हैं।

केवली भगवान संपूर्ण पदार्थों को बिना किसी विशेषता से, बिना किसी भेदभाव से निर्विशेष जानते हैं। इसको जानना, इसको नहीं जानना; इधर से जानना, उधर से नहीं जानना; आगे से देखना, पीछे से नहीं देखना - ऐसा वहाँ नहीं है। वहाँ चारों ओर से जानना होता है।

केवली भगवान का यह स्वरूप है कि वे न ग्रहण करते हैं, न छोड़ते हैं और न ही परिणमित कराते हैं। संसार में, हमारा सबका यही धंधा है - यह ले लो, यह छोड़ो, यह ग्रहण करो, इसका ऐसा कर दो; उसका ऐसा कर दो, चौबीसों घंटे हम इसी विकल्प में लगे रहते हैं। हम यदि भगवान बन जाएँगे तो बड़ी दिक्कत आएगी; क्योंकि वहाँ न किसी का लेना, न देना, न किसी को परिणमित कराना, बस जानते-देखते रहना है।

तब यह कहता है कि यहाँ पर गड़बड़ी होती रहे और हम मात्र जानते-देखते रहें - ऐसा तो हमसे नहीं हो सकता। यहाँ इतनी गंदगी है, कूड़ा-करकट है, हमसे तो नहीं देखा जाता है।

तब तुम केवलज्ञानी मत बन जाना; नहीं तो बहुत मुश्किल हो

जाएगी; क्योंकि अभी तो ऐसी गंदगी दिखाई देती है जो आँख से दिखाई देती है। केवली भगवान को तो हमारे-तुम्हारे पेट की गंदगी भी दिखाई देती है। तुम्हें तो पेट से बाहर आती है, तब दिखाई देती है, नाक तो गंदगी से भरी हुई है, हमें-तुम्हें तो जब वह नाक से बाहर आती है, तब दिखाई देती है; परन्तु केवलज्ञानी को तो नाक के भीतर की भी नाक दिखाई देती है।

तब यह कहता है कि हम से तो देखा नहीं जाता, इसका अर्थ यह है कि हम देखेंगे तो कुछ ना कुछ करेंगे और तुम हमें करने नहीं दोगे इसलिए हम देखेंगे भी नहीं।

उनसे कहते हैं कि यदि तुम्हें धर्म करना है तो किसी को भी देखने-जानने से इन्कार नहीं करना पड़ेगा, ऐसा करने की तुम्हें रंचमात्र भी अनुमति नहीं मिलेगी; क्योंकि यह तो आत्मा के ज्ञातास्वभाव से इन्कार है।

यही इस अधिकार का मूलभूत विषय है।

इसलिए आचार्य ने ८०वीं गाथा में कहा कि - अरहंत की पर्याय को जानो। हमारी तथा अरहंत दोनों की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप पर्याय एक-सी है।

यहाँ एक अपेक्षा यह भी हो सकती है कि जैसे इस जीव को लग रहा है कि अरहंत से हम कुछ कम हैं। जैसे हम रागी-द्वेषी और वे वीतरागी, हम अल्पज्ञ और वे सर्वज्ञ; हम दुःखी और वे सुखी - ऐसे इसे जो अंतर देखकर दीनता आ रही है; उस पर आचार्य कहते हैं - ऐसी भी अनंती पर्यायें हैं, जो हममें और अरहंत भगवान में समानरूप से पाई जाती है। जिन पर्यायों में अंतर है; उन पर्यायों को क्यों देखते हो, जिनमें अंतर नहीं है, उन पर्यायों को देखो।

तुम व्यापारी और हम पण्डित, तुम पैसेवाले और हम गरीब, तुम

स्वस्थ और हम बीमार - ऐसे क्यों देखते हो ? इस दृष्टि से देखो कि हम जैनी व तुम जैनी, हम मुमुक्षु और तुम मुमुक्षु । - ऐसे समानता वाले बिन्दुओं को देखो । असमानता पर ही हमारा ध्यान क्यों जाता है ?

अरहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानो अर्थात् उनके शुद्धोपयोग से उन्हें जो प्राप्त हुआ है - ऐसा अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय सुख ही अरहंत की पर्याय है; उसको जानो और फिर अपने सर्वज्ञस्वभाव को जानो । इसके साथ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की समानता भी जान लो ।

भाई ! गलती तो एक समय की पर्याय में है । भूल है सुधर जाएगी । बड़े-बड़ों की गलतियाँ सुधर गई हैं । ऐसा कौन था जो गलतियों से रहित था । 'सदाशिवः सदाकर्मः' - ऐसा तो अपने यहाँ है ही नहीं । अपने यहाँ तो सब अनादिकाल से संसार में थे और फिर मोक्ष गए हैं ।

इसतरह आचार्यदेव ने यहाँ सर्वज्ञता के स्वरूप पर बहुत वजन दिया है । यह जो सर्वज्ञता प्रगट हुई है; वह शुद्धोपयोग से ही हुई है । शुद्धोपयोग आत्मा को जानना ही है । इसलिए आचार्य कहते हैं कि इस जीव के श्रुतज्ञान ने यदि उस आत्मा को जान लिया तो समझ लो सबकुछ जान लिया । आचार्य कहते हैं कि तुम कल के सर्वज्ञ हो ।

अभी, वर्तमान में भले ही हमें लोकालोक जानने में नहीं आ रहा हो; लेकिन अभी भी लोकालोक जानने का हमारा स्वभाव है । श्रुतज्ञान के माध्यम से जिसने ऐसा जाना, समझ लो उसने सब जान लिया ।

समयसार की १४४वीं गाथा की टीका में लिखा है कि आत्मा श्रुतज्ञान के माध्यम से 'आत्मा ज्ञानस्वभावी है' - ऐसा जाने । मैं इसकी व्याख्या इसप्रकार करता हूँ कि यह रागस्वभावी नहीं है, क्रोधस्वभावी नहीं है, पर का कर्तृत्वस्वभावी नहीं है, पर का भोक्तृत्वस्वभावी नहीं है; सिर्फ जाननस्वभावी है । जानना-जानना और जानना ही इसका स्वभाव है ।

चौथा प्रवचन

भगवान की दिव्यध्वनि के सार प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन नामक महाधिकार पर चर्चा चल रही है; जिसमें ज्ञानाधिकार के अंतर्गत सर्वज्ञता के स्वरूप पर विचार चल रहा है ।

जो कुछ भी जगत में है; उस सबको पूरी तरह से जानना ही ज्ञान का स्वभाव है । केवलज्ञान, ज्ञान की वह स्वभावपर्याय है जो कि पूर्ण रूप से विकसित होकर प्रगट हो गई है ।

इस सन्दर्भ में ३७वीं गाथा महत्त्वपूर्ण है -

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।

वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७॥

(हरिगीत)

असद्भूत हों सद्भूत हों सब द्रव्य की पर्याय सब ।

सद्ज्ञान में वर्तमानवत् ही हैं सदा वर्तमान सब ॥३७॥

उन जीवादि द्रव्यसमूहों की सभी विद्यमान-अविद्यमान पर्यायों वास्तव में वर्तमान पर्यायों की भाँति विशिष्ट रूप से उस ज्ञान में वर्तती हैं ।

यहाँ यह कह रहे हैं कि दर्पण में तो जो पदार्थ सामने हो, मात्र उसी की केवल वर्तमान पर्याय ही दिखाई देती है; किन्तु केवलज्ञान में तो सभी पदार्थों की भूतकाल में होकर नष्ट हो गई सभी पर्यायों और भविष्यकाल में होनेवाली सभी पर्यायों भी वर्तमान पर्याय के समान ही स्पष्ट एकसाथ दिखाई देती हैं ।

भगवान बुद्ध के सन्दर्भ में एक उदाहरण आता है कि उन्होंने एक जर्जर बुजुर्ग महिला को देखा । उसे निहारने के बाद उनके दिमाग में एकदम यह विचार आया कि 'देखी मैंने, आज जरा ।' मैंने आज बुढ़ापा देखा है । 'क्या ऐसी हो जाएगी मेरी यशोधरा ?' वे सोचने लगे कि क्या एक दिन मेरी पत्नी यशोधरा भी ऐसी ही हो जाएगी ?

बारह भावना : एक अनुशीलन का मुखपृष्ठ इसी घटना से प्रेरित है। इसमें मानवदेह की विविध अवस्थाओं को दर्शाया गया है। बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक की सभी अवस्थाएँ इसमें हैं। जो जिस अवस्था का है, वह उस अवस्था के भूत तथा भविष्यकाल की अवस्था को इसमें देख सकता है।

तात्पर्य यह है कि आप इसे देखकर अपनी भूत-भावी पर्यायों की कल्पना कर सकते हैं।

यह तो मतिज्ञान की बात है। केवलज्ञान में ऐसा नहीं है कि वर्तमान की पर्याय साफ दिखाई दे रही हो और भविष्यकाल की तथा भूतकाल की पर्यायों की हमने कल्पना की हो। यह कल्पनालोक की उड़ान नहीं है, अनुमान नहीं है, अंदाज नहीं है। केवलज्ञान में तो जैसी वह वस्तु है, वैसी ही प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है। केवलज्ञान में सब जाति के सभी द्रव्यों की प्रत्येक पर्याय वर्तमान के समान दिखाई देती है।

दर्पण में बहुत स्थूलता है, अपने चेहरे की बहुत-सी बारीकियाँ उसमें दिखाई नहीं देती; परन्तु केवलज्ञान में तो सब पदार्थों की अनादि-अनंत पर्यायें अपनी पूरी बारीकियों के साथ एक साथ झलकती हैं।

अतीन्द्रियज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करनेवाली प्रवचनसार की ये गाथाएँ णमोकार महामंत्र जैसी गाथाएँ हैं; क्योंकि इनमें अरहंत भगवान के जो ज्ञानपर्याय प्रगट हुई है; उसका बहुत ही मार्मिक चित्रण किया गया है।

यहाँ आचार्य कह रहे हैं कि एक-एक समय की एक-एक पर्याय - इसप्रकार अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक की सभी पर्यायें उस द्रव्य की स्वरूपसम्पदा हैं।

यदि कोई कहे कि एक-एक क्षण में बदलना पड़ता है - यह तो बहुत परेशानी का काम है। हम दौड़ते ही रहें, दौड़ते ही रहें।

उससे ही आचार्य कह रहे हैं कि अरे भाई ! यह विपत्ति नहीं है, सम्पत्ति है। यह अपने स्वरूप की सम्पदा है।

हम दाल बनाते हैं तो उसमें मिर्ची, नमक, जीरा सब मिला हुआ लगता है; लेकिन उसमें एक-एक चीज अलग-अलग है। यद्यपि वे हमें मिश्रित दिखाई देती हैं; तथापि वे अलग-अलग ही हैं।

क्या केवलज्ञान में भी वे ऐसी ही मिश्रित दिखाई देती होंगी ? अरे भाई! वे मिश्रित होने पर भी केवलज्ञान में अमिश्रित ही दिखाई देती हैं। मिली हुई होने पर भी सब द्रव्यों की सब पर्यायें एकदम स्पष्ट दिखाई देती हैं; उसमें किसी भी प्रकार की अस्पष्टता नहीं होती।

जब हम जयपुर का नक्शा बनाते हैं तो उसमें पण्डित टोडरमल स्मारक भवन की स्थिति एक बिन्दु जैसी होती है। एक पेन्सिल के नोक पर जितना स्थान होता है, उतना ही स्थान टोडरमल स्मारक भवन का होता है। परन्तु हम इसी भवन को जयपुर के नक्शे में एन्लार्ज (बड़ा) करके दिखाते हैं; क्योंकि इससे रेलवे स्टेशन से टोडरमल स्मारक भवन कैसे पहुँचा जाय - यह बताना अभीष्ट है। हमने उस स्थान को प्रयोजनवश बड़ा बताया है; परन्तु वस्तुस्थिति में वह बड़ा नहीं है। यदि कोई व्यक्ति उस स्थान को पूरे जयपुर के अनुपात से जितना हमने बताया है, उतना ही मानने लग जाय तो गलती ही करेगा।

ऐसे ही जो व्यवहार हमारे श्रुतज्ञान में प्रवर्तित हुआ है; वह केवलज्ञान में नहीं है। केवलज्ञान में व्यवहार की जरूरत नहीं होती; क्योंकि नय श्रुतज्ञान में ही होते हैं। हम हमारे श्रुतज्ञान की तरफ से कहते हैं कि केवल-ज्ञान पर जो व्यवहार से जानता है और स्व को निश्चय से जानता है।

ये विवक्षा श्रुतज्ञान की तरफ से है; उस केवलज्ञान में तो स्व व पर दोनों एकसाथ जैसे हैं, वैसे झलकते हैं। महासत्ता की अपेक्षा एकता और अवान्तर सत्ता की अपेक्षा जो पृथकता दिखती है; यह सब हमारे ज्ञान में प्रवर्तित नयप्रयोग है।

जब अनुभव के काल में भी नय नहीं रहते हैं; तब केवलज्ञान होने पर नय कैसे रहेंगे ? ध्यान के काल में भी नय नहीं है।

मैं यहाँ बैठकर प्रवचन कर रहा हूँ और यह सामनेवाला व्यक्ति

फिल्म बना रहा है। यह फिल्म बनानेवाला व्यक्ति मुख्य-गौण करेगा। मैं यहाँ अपनी जगह बैठा रहूँगा और आप अपनी जगह बैठे रहेंगे; सभी अपनी-अपनी जगह अपनी-अपनी हैसियत से बैठे रहेंगे।

उस कैमरामेन ने वक्ता के चेहरे पर कैमरा फिक्स कर दिया या किसी श्रोता के चेहरे पर कैमरा फिक्स कर दिया। वह किसी एक श्रोता का चेहरा बड़ा कर दे, किसी श्रोता का चेहरा दिखाए ही नहीं, दूर से ही दिखाए अथवा पीछे से दिखाए। यह सब मुख्य-गौण उस कैमरा में हो रहा है। इस हॉल में बैठे हुए लोगों की जो स्थिति है, उसमें कोई मुख्य-गौण नहीं हुआ है; वह स्थिति तो जैसी थी, वैसी ही है।

डॉक्टर ने आपकी बीमारी की जाँच की। उसने जो बीमारी है; उसमें कोई मुख्य-गौण नहीं किया। उसके समझ में सब आ गया है - उसका यह ज्ञान प्रमाणज्ञान है। फिर जब डॉक्टर से मरीज बार-बार पूछता है कि क्या बात है; तब वह गौण करता है और कहता है कि 'कोई बात नहीं है; आप बिल्कुल ठीक हैं, कोई दिक्कत नहीं है। बस! दो गोली रोजाना लेना, ठीक हो जाओगे।

इसप्रकार उसने जो नहीं बताया है और ठीक है-कह रहा है; वह सिर्फ वाणी में हो रहा है। जो वस्तु व ज्ञान में है, उसमें कुछ भी फर्क नहीं आया है।

जब वही डॉक्टर घरवालों से कहता है कि स्थिति बहुत खतरनाक है। अब तो राम का नाम लो, हमारा कुछ काम नहीं है। ये जो दवाईयाँ लिख दी हैं, वह मरीज के संतोष के लिए लिखी हैं। ये तो ताकत और दर्द की दवाईयाँ हैं। इनसे कुछ भी होनेवाला नहीं है।

यह जो डॉक्टर की वाणी में फर्क आया है, वह वाणी के स्तर पर ही आया है; वस्तु के स्तर पर, जानने के स्तर पर नहीं। जो वस्तु की स्थिति है, उसमें नय कहाँ हैं? ये नय तो श्रुतज्ञान में हैं, वाणी में हैं।

हमने विभिन्न नयों से जो निरूपण किया, वह सब हमने वस्तु पर लाद दिया। जैसे, तुम्हें देखकर हमें गुस्सा आता है तो हम यह मानने लगते हैं कि गुस्से का कारण तुम हो। हमने ही ऐसी धारणा बना रखी

है। हमने ऐसा मान लिया है कि इनकी शक्ल ही ऐसी है कि जिसे देखकर गुस्सा आता है।

यह कहता है कि कुछ लोगों की शक्लें ऐसी होती हैं कि देखते ही गुस्सा आता है और कुछ लोगों की ऐसी होती हैं कि देखते ही प्रेम उमड़ता है। उससे कहते हैं कि अरे भाई! यह तो तेरे अंदर का राग है। आदमी की शक्ल में कुछ भी ऐसा नहीं है, उसने कुछ भी नहीं किया है। किसी भी आदमी की शक्ल कुत्ते और बिल्ली से अधिक खराब तो नहीं होती है, गाय और भैंस से अधिक खराब तो नहीं होती? लोगों को तो कुत्ते-बिल्ली, गाय-भैंस को देखकर भी प्रेम उमड़ता है। वे उन्हें गोदी में लिए फिरते हैं।

शक्ल अच्छी या खराब होने से राग-द्वेष का क्या संबंध? यह राग-द्वेष तो इसके अन्दर की ही विकृति है।

जैसे हम कहते हैं कि यह मेरा पुत्र परमात्मप्रकाश है। मैं यहाँ उपस्थित सभी छात्रों को अपने पुत्र परमात्मप्रकाश जैसा ही देखता हूँ। सबको परमात्मा ही देखता हूँ। द्रव्य से तो सभी परमात्मा हैं ही और पर्याय से मेरा बेटा परमात्मप्रकाश जैसा है; वैसे ही आप सबको देखता हूँ।

यह कथन मैंने मेरे हृदय में आपके प्रति जो स्नेह है, उसे व्यक्त करने के लिए किया है। अंदर में तो यह भेदविज्ञान विद्यमान है कि वह मेरा बच्चा है और आप मेरे बच्चे नहीं हैं।

ऐसे ही सर्वज्ञ भूत और भविष्य को वर्तमानवत् जानते हैं, वर्तमान नहीं। ऐसा इसलिए कहा गया है कि उनके जानने में कोई अस्पष्टता नहीं है, धुँधलापन नहीं है। ज्ञान तो उसी का नाम है, जिसमें सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट दिखाई दे।

चित्रपट में भी ऐसा होता है। एक ही चित्र में पूर्वभव, परभव और वर्तमान भव का चित्रण होता है। ऐसा चित्र होता है, जिसमें एक तरफ मारीच बैठा है, शेर बैठा है और दूसरी तरफ भगवान महावीर का चित्र है। ऐसे ही केवलज्ञान में भी, एक ही ज्ञान में अनेक भव एकसाथ दिखते हैं।

हमारे श्रुतज्ञान में भी ऐसा ही होता है। श्रुतज्ञान तो परोक्ष है; परन्तु केवलज्ञान में सब प्रत्यक्ष होता है।

जैसे हम पूछते हैं कि - 'आपके घर से मंदिर कितनी दूर है' तब आप तुरन्त उत्तर देते हैं कि - 'जितनी दूर यहाँ से गांधीजी की मूर्ति है।'

गांधीजी की मूर्ति से हमें व आपको कुछ भी लेना-देना नहीं है। मंदिरजी में गांधीजी की मूर्ति नहीं है; भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति है। तो गांधीजी की मूर्ति के बारे में क्यों कहा ? पार्श्वनाथ की मूर्ति के बारे में ही बताते।

अरे भाई! गांधीजी की मूर्ति से तो कुछ लेना-देना नहीं है; किन्तु क्षेत्र की दूरी को तो समझना है। यहाँ से गांधीजी की मूर्ति कितनी दूर है; इसका आपको ज्ञान है और हमारा मंदिर घर से कितना दूर है; इसका ज्ञान नहीं है; इसलिए हमने गांधीजी की मूर्ति का उदाहरण दिया है।

चित्रपट की भाँति भूत और भविष्य की पर्यायें हमारे श्रुतज्ञान में जानने में आ जाती है तो केवलज्ञान में क्यों नहीं आ सकती।

आगे की गाथा इस विषय को और अधिक स्पष्ट करती है -

जे णेव हि संजाया, जे खलु णट्टा भवीय पज्जाया।

ते होंति असब्भूदा, पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥

(हरिगीत)

पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या नष्ट जो हो गई हैं।

असद्भावी वे सभी पर्याय ज्ञानप्रत्यक्ष हैं ॥३८॥

वास्तव में जो पर्यायें उत्पन्न नहीं हुई हैं तथा जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं; वे सभी अविद्यमान पर्यायें भी ज्ञान-प्रत्यक्ष होती हैं।

भविष्य की पर्यायें, जो अभी पैदा नहीं हुई हैं और भूतकाल की पर्यायें जो असद्भूत हैं अर्थात् वर्तमान की अपेक्षा नहीं हैं। वे सब पर्यायें केवलज्ञान में वर्तमान पर्याय के समान ही जानने में आ रही हैं।

प्रवचनसार गाथा ३८ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में उदाहरण द्वारा यह विषय सम्यक् रूप से स्पष्ट किया गया है -

'पाषाणस्तम्भ में उत्कीर्ण भूत और भावी देवों (तीर्थकर देवों) के समान अकम्परूप से स्व-स्वरूप को अर्पित करती हुई, वे पर्यायें विद्यमान ही हैं।'

जिसप्रकार एक खम्बे में भूतकाल, वर्तमान और भविष्यकाल की चौबीसी बना देते हैं; तब तीनों चौबीसियाँ एकसाथ दिखाई देती हैं। इसमें ऐसा नहीं है कि भूतकाल की चौबीसी थोड़ी कम दिखती होगी और भविष्यकाल की धुँधली दिखती होगी।

ऐसा समझ लो कि अभी हम शीतलनाथ भगवान के समय में हैं और हमने चौबीसी मंदिर की प्रतिष्ठा कर दी। हमने २४ मूर्तियाँ नहीं रखी हैं; अपितु सभी एक ही खम्बे में उत्कीर्ण की हैं। शीतलनाथ भगवान तो समवशरण में विद्यमान है। पुष्पदंत भगवान तक मोक्ष चले गए हैं। भगवान श्रेयांसनाथ से भगवान महावीर तक अभी मोक्ष नहीं गए हैं।

यदि हम उस खम्बे को देखते हैं तो हमारे क्षयोपशमज्ञान में एकसाथ चौबीसों मूर्तियाँ दिखाई देती हैं। ऐसे ही भगवान के केवलज्ञान में भूतकाल की अनंत चौबीसियाँ और भविष्यकाल की अनन्त चौबीसियाँ दिखाई देती हैं।

भविष्यकाल की अनंत चौबीसियाँ उनके ज्ञान में आ गई हैं; इसका अर्थ यह है कि अनंत चौबीसियाँ निश्चित हैं। इसके आधार पर क्रमबद्धपर्याय का सिद्धान्त सिद्ध होता है। यही कारण है कि मैंने 'क्रमबद्ध-पर्याय' नामक पुस्तक में यह लिखा है कि यदि आप क्रमबद्धपर्याय नहीं मानते हो तो मत मानो; लेकिन सर्वज्ञता की बात तो करो। क्रमबद्ध-पर्याय के लिए सर्वज्ञता की तिलाञ्जलि क्यों देते हो ? अरे, भाई ! जैनियों का सम्पूर्ण न्यायशास्त्र सर्वज्ञता की सिद्धि के लिए ही समर्पित है।

कुछ लोग कहते हैं कि भविष्य में होनेवाली पर्यायें तो अभी हुई ही नहीं हैं; उन्हें सर्वज्ञ भगवान कैसे जान सकते हैं ?

उक्त संदर्भ में निम्नांकित गाथा दृष्टव्य है -

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स ।

ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं त्ति हि के परूवेत्ति ॥३९॥

(हरिगीत)

पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या हो गई हैं नष्ट जो ।

फिर ज्ञान की क्या दिव्यता यदि ज्ञात होवें नहीं वो ॥३९॥

यदि अनुत्पन्न और नष्ट पर्यायें ज्ञान (केवलज्ञान) के प्रत्यक्ष नहीं होती हों, तो वास्तव में उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?

यदि केवलज्ञान में भूत और भावी पर्यायें नहीं झलकती हैं तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ? इससे तो हमारा मतिज्ञान ही अच्छा है; जो थोड़ा बहुत भविष्य जान लेता है। कल बुधवार है। अनंतकाल के बाद भी बुधवार, मंगलवार के बाद ही आएगा। भविष्य में होनेवाली ऐसी बहुत-सी बातें हम जानते हैं, तब हमारा ही ज्ञान अच्छा है, जो कम से कम इतना तो जानता है।

अरे भाई ! यदि सर्वज्ञता ख्याल में आ गई तो कुछ भी शेष नहीं रह जाता है; परन्तु यदि सर्वज्ञता समझ में नहीं आई तो चाहे जितना जैनदर्शन समझ लीजिए; कुछ भी होनेवाला नहीं है।

यदि सर्वज्ञता समझ में नहीं आई तो तीर्थों के नाम पर अतिशय खड़े होते जाएँगे; पुत्रादिक देनेवाले, भूत भगवानेवाले देव खड़े हो जाएँगे।

एक सर्वज्ञता समझ में आई तो अनिवार्यरूप से सम्यग्दर्शन प्रगट होगा। ऐसा समझ लीजिए की पूरीतरह से सर्वज्ञता तभी समझ में आएगी; जब निकट भविष्य में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होनेवाली हो।

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

(हरिगीत)

द्रव्यगुणपर्याय से जो जानते अरहंत को।

वे जानते निज आतमा दृग्मोह उनका नाश हो ॥८०॥

जो अरहंत को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है; वह आत्मा को जानता है और उसका मोह निश्चय से नष्ट होता है।

अरहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानेगा अर्थात् सही अर्थ में सर्वज्ञता को जानेगा; वीतरागता को जानेगा; उसके मिथ्यात्व का नाश होगा, उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी।

४०-५० वर्ष पूर्व ज्ञानपीठ की ओर से एक 'ज्ञानोदय' नामक अखबार निकलता था। बहुत स्तरीय मासिक था। इसका एक विशेषांक निकला था; जिसका विषय था '१०० साल के बाद दुनियाँ में क्या होगा?' करीब ६०० पृष्ठ का यह विशेषांक लगभग ४७-४८ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था।

उसमें एक लेख जीवविज्ञान के सन्दर्भ में था।

एक लेखक ने लिखा था कि पेट में बच्चे रखने से माता-बहिनों को बहुत कष्ट होता है। १०० साल बाद महिलाएँ इस कष्ट से मुक्त हो जाएंगी और बाजार में बच्चे वैसे ही मिलेंगे जैसे आज कुत्ता-बिल्ली मिलते हैं। जैसे आप गाय, भैंस, कुत्ते, बिल्ली खरीद लाते हैं; वैसे ही इन्जीनियर बच्चे, डॉक्टर बच्चे; सब प्रकार के बच्चे खरीद लायेंगे। यदि कोई आदमी चाहे तो उनकी इच्छा के अनुसार बच्चे तैयार करा दिए जाएँगे।

'आदमी की उन्नति में सबसे बड़ी बाधा यह सेक्स प्राब्लम (कामेच्छा) है। यह मानव मस्तिष्क को बहुत आन्दोलित करती है। न जाने इसके कारण कितनी समस्याएँ खड़ी हो जाती है।' - ऐसा सोचकर एक पति ने पत्नी से कहा कि -

“कामेच्छावाला व्यक्ति पूर्णरूप से तरक्की नहीं कर सकता; इसलिए मुझे ऐसा बच्चा चाहिए; जिसमें सेक्स की भावना ही न हो। स्त्रियों का पुरुषों के प्रति और पुरुषों का स्त्रियों के प्रति जो आकर्षण होता है, विषयभोग का भाव होता है; वह उस बच्चे के अन्दर बिल्कुल ही नहीं होना चाहिए।”

तब उसकी पत्नी ने कहा कि - “नहीं, यह तो बहुत जरूरी है।”

लेकिन वह पुरुष नहीं माना और उसने ऑर्डर दे दिया कि इसमें वह रसायन नहीं डाला जाय; जिससे सेक्स की भावना पैदा होती है।

ऑर्डर के अनुसार प्राप्त बच्चा २५-३० वर्ष का जवान हो गया; परन्तु उसके अन्दर सेक्स भावना तो बिल्कुल थी ही नहीं। अतः वह निरन्तर अपने वैज्ञानिक प्रयोगों में लगा रहता था। वह खूबसूरत, सुंदर और शक्तिसम्पन्न था; पर उसमें विषय-वासना का लेश न था।

एक बार एक सुंदर लड़की उस पर मोहित हो गई। वह लड़की अपने हाव-भावों से अपना अभिप्राय व प्रेम प्रगट करती; परन्तु उसकी समझ में कुछ भी नहीं आता।

वह आँख का बहुत बड़ा डॉक्टर बन गया था। उससे प्रेम करनेवाली लड़की ने उससे प्रेम प्रगट करने के लिए एक बार कहा कि -

“तुम मेरी आँखों में आँखें डालकर तो देखो।”

उसने अच्छीतरह से उसकी आँखें देखी। आँखें देखने के बाद उसने बड़े ही वीतरागभाव से कहा कि - ‘तुम्हारी आँखें ठीक वैसी ही हैं; जैसी की स्तनधारी प्राणियों की होती हैं।’

जब उस लड़के ने ऐसा कहा तो उसकी माँ रोने लगी। वह अपने पति से कहने लगी - “मैंने कहा था कि ऐसा मत करो। देखो क्या हालत हो गई है।”

इस कथन का आशय मात्र इतना ही है कि वीतरागता का वास्तविक स्वरूप क्या है, सर्वज्ञता क्या है - हम एकबार इसकी कल्पना तो करें।

यदि अंदर राग का तत्त्व विद्यमान है तो प्रतिक्रिया रागवाली होगी। इस बात पर हमें गंभीरता से विचार करना चाहिए; मात्र पढ़ने से काम नहीं चलेगा। सर्वज्ञता और वीतरागता पर मैंने महिनो सोचा है। जो कुछ जिनवाणी में पढ़ा है, वह तो बहुत सीमित है। मैंने एक-एक गुणस्थान पर सोचा है।

६वें-७वें गुणस्थानवाले साधुओं के अंदर जो तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप स्थिति है, उसका स्वरूप कैसा होना चाहिए? किन-किन

परिस्थितियों में उनकी प्रतिक्रिया कैसी होनी चाहिए? अप्रत्याख्यानावरण कषाय का कार्य क्या है? अनंतानुबंधी कषाय का कार्य क्या है? ये कषायें साधुओं के नहीं हैं तो उनसे कौन-से कार्य नहीं होंगे? इन सब बातों पर गंभीर चिंतन की आवश्यकता है।

मैं कहता हूँ कि भगवान वीतरागी हैं, सर्वज्ञ हैं और संपूर्ण लोकालोक को जानते हैं; ऐसी स्थिति में उनका ज्ञान कैसा होता होगा - इसकी कल्पना करें। अरे, कम से कम एक बार कल्पना में तो मुनि बनिए। ६वें, ७वें गुणस्थान की कल्पना तो कीजिए। मेरा कहने का आशय यह है कि ज्ञान को दौड़ाओ, अकेले शास्त्रों से ही नहीं, शास्त्रज्ञान के साथ-साथ चिन्तन भी होना चाहिए।

अतीन्द्रियज्ञान (सर्वज्ञता) के संदर्भ में आचार्यदेव कहते हैं -

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।

तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ॥४०॥

(हरिगीत)

जो इन्द्रियगोचर अर्थ को ईहादिपूर्वक जानते।

वे परोक्ष पदार्थ को जाने नहीं जिनवर कहें ॥४०॥

जो इन्द्रियज्ञानगोचर पदार्थों को ईहादिपूर्वक जानते हैं, उन्हें परोक्षभूत पदार्थों का जानना अशक्य है - ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

हमारा मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणापूर्वक प्रवृत्ति करता है; किन्तु केवलज्ञान में ऐसा नहीं होता। हम इसी मतिज्ञान के रूप में उनके ज्ञान को देखने की कोशिश करते हैं। हम ऐसा सोचने लगते हैं कि उन्हें भी समयसार की सब गाथाएँ याद होंगी।

अरे भाई! उन्हें मतिज्ञान नहीं है। उन्हें स्मृति की कुछ आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि उन्हें तो वर्तमान में ही सब प्रत्यक्ष है। हम हमारे मतिज्ञान से उनके ज्ञान की तुलना करते हैं; इसलिए केवलज्ञान का स्वरूप हमारे ख्याल में नहीं आता।

इसके सन्दर्भ में यह ४१वीं गाथा और अधिक महत्त्वपूर्ण है -
**अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं ।
 पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥४१॥**

(हरिगीत)

सप्रदेशी अप्रदेशी मूर्त और अमूर्त को ।

अनुत्पन्न विनष्ट को जाने अतीन्द्रिय ज्ञान ही ॥४१॥

जो ज्ञान अप्रदेशी-एकप्रदेशी, सप्रदेशी-बहुप्रदेशी, मूर्तिक-अमूर्तिक पदार्थों को तथा अनुत्पन्न और नष्ट पर्यायों को जानता है; उसे अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं ।

देश के किसान और मजदूर तो यह जानना चाहते हैं कि उनके लिए रोजी-रोटी और कपड़े का इंतजाम कब होगा ? उसके खेत को पानी कब मिलेगा, खेत को बिजली कब मिलेगी ?

उसको राजनीति के इस खेल में थोड़ा भी रस नहीं है कि गांधीजी की मूर्ति कहाँ लगेगी और कहाँ नहीं लगेगी ? अम्बेडकर की मूर्ति लगेगी या गांधीजी की ? लोकसभा में किस-किसके फोटो लगेंगे ? आर. एस. एस. की शाखा कहाँ लगेगी और कहाँ नहीं ?

इन सब बातों से मजदूर और किसानों को कुछ लेना-देना नहीं है ।

किसान तो यह चाहता है कि देश की तरक्की किसप्रकार हो - सभी लोग यह बात करें । आजादी के ५५ वर्ष बाद आज भी हर गरीब को रोटियाँ नहीं मिल पाईं । भूखे व नंगे लोग आज भी हैं । ये राजनेता उनकी तो बात ही नहीं करते और जरा-जरा से मुद्दों पर लड़ते-झगड़ते रहते हैं ।

ऐसे ही सारे समाज में कितना अज्ञान है ? बच्चों में धार्मिक संस्कार समाप्त होते जा रहे हैं; खान-पान का ठिकाना नहीं रहा है; स्वाध्याय करने के लिए जगह नहीं है; इस मुमुक्षु समाज के बच्चों में संस्कार कब आएँगे, कैसे आएँगे, इस बारे में हमें क्या करना है ? इसपर तो किसी का ध्यान नहीं जाता; पर जिन्हें कुछ काम नहीं है, घरवालों ने धक्का देकर बाहर

निकाल दिया है - ऐसे कुछ व्यक्ति मंदिर में जाकर बैठ जाते हैं और आत्मा पर को जानता है या नहीं - इस पर बहस करने लगते हैं, पार्टियाँ और गुप्स बन जाते हैं । अरे भाई ! यह कोई समस्या नहीं है, समयसार आदि के स्वाध्याय से यह बात तो अपने आप समझ में आ जाएगी; जिनवाणी के पठन-पाठन से सम्पूर्ण विषयवस्तु स्वतः स्पष्ट हो जाएगी ।

हमारे पास सर्व समाधानकारक जिनवाणी माता है, गुरुदेवश्री की वाणी है । अतः इस चर्चा से विराम लो और जिनवाणी का गहराई से अध्ययन करो ।

इन गाथाओं में सबकुछ साफ-साफ लिखा है; हमें उसे आरंभ से अंत तक पढ़ना चाहिए । हम किसी भी गाथा को उठा लेते हैं और खींच-तान कर चर्चा करने लग जाते हैं ।

जो पर्यायें अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं तथा जो पर्यायें प्रलय को प्राप्त हो गई हैं; जो ज्ञान इन सबको जानता है, उसे ही अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं ।

जो ज्ञान अप्रदेशी-एकप्रदेशी, सप्रदेशी-बहुप्रदेशी, मूर्तिक-अमूर्तिक पदार्थों को तथा अनुत्पन्न और नष्ट पर्यायों को जानता है; उसे अतीन्द्रियज्ञान कहते हैं ।

जो अकेले आत्मा को जाने उस ज्ञान का नाम अतीन्द्रिय ज्ञान है - ऐसा यहाँ कहाँ लिखा है ? छहों द्रव्यों की पर्यायों को जाने उसका नाम भी अतीन्द्रिय ज्ञान ही है ।

फिर भी यह कहता है कि अतीन्द्रिय ज्ञान आत्मा को जानता है और इन्द्रियज्ञान पर को जानता है ।

अरे भाई ! इन्द्रियज्ञान में तो मतिश्रुतज्ञान का नाम है । मतिश्रुतज्ञान का विषय तो छहों द्रव्यों की असर्व पर्यायें हैं । जैसाकि मोक्षशास्त्र में लिखा है- 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।' फिर यहाँ मतिज्ञान व केवलज्ञान में स्व-पर का भेद कहाँ है ? हाँ, यह बात अवश्य

है कि अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान मात्र पर को ही जानते हैं। उनका विषय पुद्गलद्रव्य ही है, वे स्व को नहीं जानते।

देखो ! पाँच ज्ञानों में ऐसे ज्ञान तो हैं, जो मात्र पर को ही जानते हैं, स्व को नहीं जानते; लेकिन ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो अकेला स्व को ही जानता हो और पर को नहीं जानता हो।

मतिज्ञान स्व और पर दोनों को जानता है, छहों द्रव्य उसके विषय हैं। श्रुतज्ञान के भी छहों द्रव्य विषय हैं। अवधिज्ञान के विषय रूपी पदार्थ हैं, अरूपी नहीं अर्थात् पुद्गलद्रव्य ही उसका विषय है। मनःपर्ययज्ञान दूसरे के मन में स्थित विषय को जानता है, न कि अपने मन में स्थित पदार्थ को। केवलज्ञान के छहों द्रव्य विषय हैं। जगत में ऐसा कोई भी ज्ञान बताओ जो मात्र स्व को जानता हो, पर को नहीं जानता हो।

जो लोग यह मानते हैं कि ज्ञान पर को जानता ही नहीं है; उन्हें उक्त तथ्य का गहराई से मंथन करना चाहिए। क्या मात्र पर को जाननेवाले अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ज्ञान ही नहीं हैं ?

इसे और स्पष्ट करने के लिए प्रवचनसार गाथा ४१की यह तत्त्व-प्रदीपिका टीका महत्त्वपूर्ण है -

“जिसप्रकार विविध प्रकार का ईंधन ईंधनपने का उल्लंघन नहीं करने के कारण प्रज्वलित अग्नि का दाह्य ही है; उसीप्रकार अप्रदेश सप्रदेश, मूर्त-अमूर्त, अनुत्पन्न और विनष्ट पर्याय समूह ज्ञेयता का उल्लंघन नहीं करने से अनावरण, अतीन्द्रिय ज्ञान सम्पन्न आत्मा के ज्ञेय ही होते हैं।”

ईंधन तो लकड़ी भी होती है, कण्डा भी होता है, कोयला भी होता है, गैस भी होता है; लेकिन अग्नि की तरफ से ये सब न लकड़ी हैं, न कण्डा हैं, न गैस हैं; अग्नि की तरफ से इन सबका एक नाम ईंधन ही है। जो भी उस अग्नि से जलता है, उस सबका नाम ईंधन ही है।

जिसप्रकार दुकानदार के पास आया हुआ हर आदमी ग्राहक है, डॉक्टर के पास आया हुआ हर व्यक्ति मरीज है और वकील के लिए

प्रत्येक व्यक्ति क्लाइंट है; उसीप्रकार जो ईंधन का उल्लंघन नहीं करता है, वह अग्नि के लिए ईंधन ही है।

इसीप्रकार केवलज्ञान के लिए हर पदार्थ ज्ञेय है।

आपका पुत्र डॉक्टर है। उसके लिए अस्पताल में मुसलमान आए तो भी मरीज है, हिन्दु आए तो भी वह उसका मरीज है, दिगम्बर आए तो भी वह उसका मरीज है, श्वेताम्बर आए तो भी वह उसका मरीज है।

आप अपने पुत्र से कहें कि - “यह तो मुसलमान है; इसका इलाज तुम क्यों करते हो ?”

तब पुत्र कहेगा कि - “पापा आप यहाँ से चले जाओ। मेरे यहाँ तो सिर्फ मरीज आते हैं; मुसलमान, हिन्दु, जैनी अथवा दिगम्बर-श्वेताम्बर नहीं आते। मैं उन्हें हिन्दु-मुसलमान के रूप में नहीं देखता हूँ, मैं तो सिर्फ मरीज के रूप में देखता हूँ। मेरा कर्तव्य है कि मेरे शत्रु भी यदि मेरे अस्पताल में आएँ, आपातकालीन कक्ष में आएँ तो वे भी मेरे लिए मरीज ही हैं, मैं मेरी पूरी ताकत से उनका सही इलाज करूँगा।”

अरे भाई ! इतने वीतराग तो आजकल के डॉक्टर भी हैं।

ऐसे ही केवलज्ञान के लिए संपूर्ण लोकालोक ज्ञेय हैं।

क्या गधे के सिर का सींग भी उनके ज्ञान का ज्ञेय बनेगा ? वह तो है ही नहीं, फिर वह ज्ञान का ज्ञेय कैसे बनेगा ?

‘वह नहीं है’ - ऐसे बनेगा। ‘गधे के सिर पर सींग नहीं होता’ - इसप्रकार वह उसके ज्ञान का विषय बनेगा।

इसे हम इस उदाहरण के माध्यम से समझ सकते हैं कि -

“आप हमारे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देंगे ?”

“हाँ ! देंगे।”

तब वह प्रश्न करता है कि - “क्या आप सर्वज्ञ हैं ?”

“मैं सर्वज्ञ होऊँ या नहीं होऊँ; पर मैं आपके प्रत्येक प्रश्न का उत्तर

अवश्य दूँगा। वह यदि यह पूछे कि मैं अगले भव में क्या होऊँगा ? तो इस प्रश्न का भी उत्तर मेरे पास है और वह यह कि - 'मुझको पता नहीं है।' - यह भी तो एक उत्तर ही है।'

लोकसभा के प्रश्नोत्तरकाल में सेना के मामले में एक महत्वपूर्ण प्रश्न आया। तब नेहरुजी ने कहा था कि -

“देश की सुरक्षा की दृष्टि से इसका जवाब देना उचित नहीं है।”

तब किसी ने कहा कि - “साहब आप टाल रहे हैं।”

नेहरुजी ने कहा कि -

“कौन कहता है कि जवाब नहीं दिया। सुरक्षा के बिन्दुओं के आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देना ठीक नहीं है - यह एक जवाब ही तो है।”

“मुझे नहीं आता है” - यह भी तो जवाब ही है। इस सन्दर्भ में यह ४५वीं गाथा महत्वपूर्ण है -

पुण्यफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।

मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइग ति मदा ॥४५॥

(हरिगीत)

पुण्यफल अरिहंत जिन की क्रिया औदयिकी कही।

मोहादि विरहित इसलिए वह क्षायिकी मानी गई ॥४५॥

अरहन्त भगवान पुण्यफल युक्त हैं और वास्तव में उनकी औदयिकी क्रिया मोहादि से रहित है; इसलिए वह क्षायिकी है - ऐसा माना गया है।

प्रवचनसार के इस अधिकार की इस गाथा को लेकर बहुत विवाद उठाया जाता है।

कहा जाता है कि अरहंत भगवान पुण्य के फल हैं। सामान्य व्यक्ति को ऐसा लगता है कि इस अर्थ में कौन-सा पण्डित गड़बड़ कर सकता है; परन्तु भाईसाहब ! यहाँ ऐसा अर्थ है ही नहीं।

यहाँ आचार्यदेव यह कह रहे हैं कि १३वें गुणस्थानवर्ती अरहंत

भगवान ने जो पहले पुण्य बांधा था; उसके फल में समवशरण की रचना होती है, दिव्यध्वनि खिरती है। इसप्रकार पुण्य का उदय फला है। इसकारण उनकी क्रिया औदयिकी है अर्थात् कर्म के उदय से हुई है।

भाई ! पुण्य के उदय से संयोग मिलेंगे; परन्तु संयोगों को स्वीकार करना, स्वीकार नहीं करना - यह तो हमारे हाथ में है। वे संयोग जितने काल तक उदय होगा, उतने काल तक रहेंगे, फिर बिखर जाएँगे। समवशरण बनेगा, फिर बिखर जाएगा। जब बना था, तब भी उन्हें कोई लेना-देना नहीं था और जब बिखर गया तब भी उन्हें कोई लेना-देना नहीं है। जितना भी पुण्यकर्म उदय में हो, वे उसके निमित्त भी नहीं हैं। उनकी वह औदयिकी क्रिया क्षायिकी जैसी है। टीका में स्पष्ट लिखा है-

“जिनके पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फल भलीभांति पक गये हैं; उन अरिहंत भगवान की जो भी क्रिया है, वह सब पुण्य के उदय के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण औदयिकी ही है। महामोह राजा की समस्त सेना के क्षय से उत्पन्न होने से मोह-राग-द्वेषरूपी उपरंजकों के अभाव के कारण वह औदयिकी क्रिया भी चैतन्य के विकार का कारण नहीं होती।

इसकारण उक्त औदयिकी क्रिया को कार्यभूत बंध की अकारणता और कार्यभूत मोक्ष की कारणता के कारण क्षायिकी ही क्यों न मानी जाय? अर्थात् उसे क्षायिकी ही मानना चाहिए।

यहाँ यह नहीं कहा कि पुण्य से अरहंत होते हैं; बल्कि यह कहा है कि अरहंतों के जो पुण्य होता है; वह उनके आगामी बंध का कारण नहीं बनता; इसलिए वह नहीं होने के समान ही है। यही कारण है कि उनकी वह क्रिया औदयिकी नहीं; क्षायिकी जैसी ही है।

गाथा तो हर एक पढ़ता है; लेकिन टीका में जो इसका मर्म प्रगट किया है, उसे कोई नहीं जानता।

पुण्य के फल में अरहंत होते हैं - ऐसा इसका अर्थ है ही नहीं।

ज्ञान का स्वरूप क्या है ? तीर्थंकर का स्वरूप क्या है ? दिव्यध्वनि क्या है ? यह हमारे ख्याल में आवे तो सच्चा जैनदर्शन हमारे ख्याल में आ जावे।

पाँचवाँ प्रवचन

तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यध्वनि के सार इस प्रवचनसार में ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अन्तर्गत ज्ञानाधिकार में सर्वज्ञता के स्वरूप पर चर्चा चल रही है।

सर्वज्ञता के स्वरूप पर प्रकाश डालनेवाली यह गाथा महत्त्वपूर्ण है—

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि ।

ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥४९॥

(हरिगीत)

इक द्रव्य को पर्यय सहित यदि नहीं जाने जीव तो ।

फिर जान कैसे सकेगा इक साथ द्रव्यसमूह को ॥४९॥

यदि वह आत्मा अनन्त पर्यायोंवाले एकद्रव्य (आत्मद्रव्य) को नहीं जानता है तो वह सभी को एकसाथ कैसे जान सकेगा ?

इस गाथा में अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा गया है कि जब वह अपने एकद्रव्य की अनादि-अनंत पर्यायों को भी नहीं जान सकता तो फिर सब द्रव्यों की सब पर्यायों को कैसे जान सकता है ?

लोग अपने क्षयोपशमज्ञान के आधार पर केवलज्ञान को तौलने की कोशिश करते हैं। कोई कहता है कि केवली भगवान सबको जानते तो हैं; लेकिन एकसाथ कैसे जान सकते हैं ? कोई कहता है कि जब अपने को जानते हैं, तब पर को कैसे जान सकते हैं ? कोई कहता है कि भूतकाल की जो पर्यायें नष्ट हो गई हैं, उन्हें कैसे जानेंगे ? कोई कहता है कि भविष्य की पर्यायें अभी पैदा ही नहीं हुई हैं; उन्हें कैसे जानेंगे ?

लोग तो भूत और भविष्य की पर्यायों में भी अन्तर करते हैं। कहते हैं कि भूतकाल की पर्यायें तो हो चुकी हैं; इसलिए वे तो निश्चित हैं। उनमें तो किसी भी प्रकार के फेरफार की सम्भावना नहीं है; किन्तु

भविष्य की पर्यायें तो अभी हुई ही नहीं हैं। अतः वे तो निश्चित नहीं हैं।

केवलज्ञान के स्वरूप के बारे में भी वे लोग कहते हैं कि आत्मा पर को जानता ही नहीं है; मात्र स्वयं को ही जानता है। अपनी ही पर्यायों के बारे में कहते हैं कि भूतकाल की और भविष्य की पर्यायों को नहीं जानता है; वह तो अपने त्रिकाली ध्रुव, जो दृष्टि का विषय है, मात्र उसे ही जानता है; क्योंकि पर्यायें भी तो पर हैं।

निश्चय से स्व को जानता है और व्यवहार से पर को जानता है। यहाँ स्व में पर्यायें लेना है या नहीं ? केवलज्ञान भी तो स्वयं एक पर्याय ही है।

यदि स्व में अपने द्रव्य-गुण-पर्याय लें तो अनादिकाल से अनंतकाल तक की जितनी पर्यायें अभी हैं, हो गई हैं और होंगी; वे सब स्व में आ जाने से उन्हें तो यह आत्मा जानेगा ही।

इससे यह बात सिद्ध हो ही गई कि अनादिकाल से अनंतकाल की सब पर्यायें जानी जा सकती हैं; अतः वे निश्चित भी हैं ही। एक द्रव्य की पर्यायें निश्चित हैं तो दूसरे द्रव्य की भी निश्चित ही हैं। इसप्रकार आत्मा सर्व द्रव्यों की सर्व पर्यायों को एकसाथ जानता है - यह सिद्ध कर रहे हैं।

कोई ज्योतिषी कहे कि इनका तो मैं भूत-भविष्य सब बता सकता हूँ; लेकिन तुम्हारा नहीं। इसका अर्थ यह है कि वह ढोंगी ज्योतिषी है; क्योंकि जब वह एक व्यक्ति का भविष्य बता सकता है तो फिर दूसरे का क्यों नहीं बता सकता ? असली बात तो यह है कि उसकी सारी जानकारियाँ वह पहले से ही एकत्रित कर लाया है। अतः भूतकाल की सब बातें एकदम सही बताता है। जब वह देखता है कि उसपर श्रद्धा हो गई है, तब भविष्य की गप्पे ठोकता है; क्योंकि भविष्य की बात जबतक गलत साबित होगी, तबतक वह रहेगा ही नहीं। जवाब देने का सवाल ही नहीं है।

आप नरक जाएँगे या स्वर्ग जाएँगे अथवा तीन भव बाद मोक्ष

जाएँगे - ऐसा कुछ भी बोलो। तीन भव पश्चात् यदि मोक्ष नहीं मिला तो उस बतानेवाले को कहाँ ढूँढेंगे ? अगले भवों की घोषणा करने में तो कोई हानि है ही नहीं। इस भव की इसप्रकार की बातें कि तुम्हारा बुढ़ापा बहुत बढ़िया कटेगा; कहने में भी कोई हानि नहीं है; क्योंकि जब उसका बुढ़ापा आएगा, तब हम होंगे या नहीं अथवा कहाँ होंगे ? उसका बुढ़ापा आएगा भी या नहीं या वह बुढ़ापा आने के पहले ही मर जाएगा, तब भी वह हमें पूछने नहीं आ पाएगा। इसप्रकार भविष्य की घोषणायें करने में भी किसी तरह का खतरा नहीं है।

भूतकाल की सब बातें बताने पर यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि यदि तुमने इनकी भूतकाल की बातें बता दी तो मेरी भी बता दो; तब वह कहता है कि नहीं, नहीं; मैं आपके बारे में तो नहीं जानता। मुझे अध्ययन करना पड़ेगा; तभी बता पाऊँगा। वह ऐसा इसलिए कहता है; क्योंकि इस नूतन व्यक्ति की इसके पास कोई जानकारी ही नहीं है।

तब वह कहता है आपने जैसे इनका हाथ देखा है, वैसे ही मेरा हाथ भी देख लो; पर इसका उसके पास कोई उत्तर नहीं होता।

इसलिए केवलज्ञान का स्वरूप अवश्य समझना चाहिए। यदि यह ज्ञान सबको नहीं जानता है तो हमें यह मानना पड़ेगा कि वह एक को भी नहीं जानता है। यदि सबको नहीं जानता है तो जानता ही नहीं है - ऐसा मानना पड़ेगा।

इस गाथा में आचार्य सर्वज्ञता को और विशेष स्पष्ट करते हैं -

उपपञ्चदि जदि णाणं कमसो अट्टे पडुच्च णाणिसस ।

तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥५०॥

(हरिगीत)

पदार्थ का अवलम्ब ले जो ज्ञान क्रमशः जानता।

वह सर्वगत अर नित्य क्षायिक कभी हो सकता नहीं ॥५०॥

यदि ज्ञानी का ज्ञान क्रमशः पदार्थों का अवलम्बन कर उत्पन्न होता

है, तो वह ज्ञान नित्य, क्षायिक एवं सर्वगत नहीं हो सकता।

आप लाईन में खड़े रहो, जब नम्बर आएगा, तब मैं टिकिट ढूँगा। ऐसे ही ज्ञान यदि यह कहने लग जाय कि अभी मैं इनको जान रहा हूँ, बाद में आपका नम्बर आएगा, तब आपको जान लूँगा। इसप्रकार यदि ज्ञान क्रम से जानने लग जाए तो वह ज्ञान सर्वगत, क्षायिक और नित्य कैसे हो सकता है ? केवलज्ञान सर्वगत है अर्थात् वह लोकालोक को जानता है, क्षायिक है, नित्य है अर्थात् वह कभी नष्ट नहीं होगा।

यदि सर्वज्ञ क्रम से जानने लग जाएं तो उनके ज्ञान के लिए ये तीनों विशेषण प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। केवलज्ञान सर्वगत है, क्षायिक है, नित्य है - यह मानकर भी यदि कोई यह ऐसा मान रहा है कि केवलज्ञान क्रम से जानता है तो वह इन विशेषणों का अर्थ ही नहीं समझता। पदार्थों को क्रम से जानने पर जगत के अनंत पदार्थों को जानने में अनंतकाल बीत जाएगा, तब भी जानना सम्भव नहीं होगा। यदि सबको जानना है तो एक समय में ही जानना चाहिए। यदि उसमें क्रम माना तो फिर जगत में कोई सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता।

इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए यह गाथा महत्त्वपूर्ण है -

तिक्कालणिच्चविसमं, सयलं सव्वत्थसंभवं चित्तं ।

जुगवं जाणदि जोण्हं, अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥५१॥

(हरिगीत)

सर्वज्ञ जिन के ज्ञान का माहात्म्य तीनों काल के।

जाने सदा सब अर्थ युगपद् विषम विविध प्रकार के ॥५१॥

त्रिकालवर्ती, सदा विषम, सर्व क्षेत्र के विविध प्रकार के, सर्व पदार्थों को जिनदेव का ज्ञान एकसाथ जानता है। अहो ! यह ज्ञान का माहात्म्य है।

यदि ज्ञान पहले मध्यलोक को, फिर उर्ध्वलोक को और फिर अधोलोक को जानेगा तो कम से कम तीन समय तो लगेँगे ही। जबतक

ज्ञान एक समय में ही संपूर्ण लोकालोक को जानता है - ऐसी श्रद्धा नहीं होगी, तबतक सर्वज्ञता पर दृढ़ श्रद्धा नहीं होगी। इसी अर्थ को आचार्य इस गाथा के माध्यम से दृढ़ करते हैं -

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्टेसु ।

जाणणवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥५२॥

(हरिगीत)

सवार्थ जाने जीव पर अनरूप न परिणमित हो ।

बस इसलिए है अबंधक ना ग्रहे ना उत्पन्न हो ॥५२॥

(केवली भगवान) उन पदार्थों को जानते हुए भी उसरूप परिणमित नहीं होते, उन्हें ग्रहण नहीं करते तथा अनरूप से उत्पन्न नहीं होते; इसलिए अबंधक कहे गए हैं ।

आत्मा पर-पदार्थों को जानते हुए न तो उन्हें परिणमित कराता है, न ही अनरूप परिणमित होता है और न उन्हें ग्रहण करता है, न अनरूप से उत्पन्न होता है; इसप्रकार परपदार्थों में कोई भी हस्तक्षेप किए बिना जानना होता है। ज्ञान का स्वभाव इसप्रकार से जानने का है ।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर पड़नेवाले प्रभाव को समझाने के उद्देश्य से एक विद्वान ने यह उदाहरण दिया कि १० किलो हलुआ यदि ६०० आदमी देखते हुए निकल जाए तो हलुआ पावभर कम हो जाएगा। उन्होंने कभी प्रयोग करके देखा होगा, तब वह बात सच्ची निकल गई होगी; क्योंकि ताजा हलुआ यदि रखो तो उसमें पानी रहता है जो भाप बनकर उड़ जाता है। गर्म से ठण्डा होते-होते पावभर पानी कम होगा ही ।

उनकी बात को काटते हुए दूसरे विद्वान ने कहा कि चक्षु तो अप्राप्यकारी है; अतः चक्षु ने उसे ग्रहण कर लिया - यह संभव नहीं है। इस पर दोनों में वाद-विवाद आरंभ हो गया ।

उस वाद-विवाद का समय भी तय हो गया कि सुबह दो घण्टे और दोपहर दो घण्टे - यह वाद-विवाद चलेगा; एक अध्यक्ष बनेगा -

इसप्रकार सब तय हो गया। दोनों ही तरफ ५-७ दिन तक 'एवं चेत् एवं स्यात्' चलता रहा, तर्क-युक्तियाँ और प्रमाण चलते रहे। अंततः प्रथम विद्वान कमजोर पड़ने लगे ।

तब दूसरे विद्वान ने कहा कि - 'आप न्यायाचार्य हैं। यदि आपके मुँह से वैयास गलत वाक्य निकल ही गया था तो आप उसके साथ एक वाक्य ऐसा भी जोड़ देते कि - 'इति केचित्।' अर्थात् ऐसा कुछ लोग कहते हैं 'तदप्यसत्।' वह भी सत्य नहीं है। जो काम इतने से निपटता था; उसके लिए तुमने सात दिन लगा दिए।'

न्याय ग्रन्थों में जब पूर्वपक्ष रखा जाता है, तब 'इति केचित्' - ऐसा कुछ लोग कहते हैं - ऐसा कहा जाता है। जब उनका खण्डन करना प्रारम्भ करते हैं, तब सबसे पहले 'तदप्यसत्' यह सत्य नहीं है - ऐसा कहा जाता है ।

कहने का आशय यह है कि इतने दिग्गज न्यायशास्त्री निरर्थक विषयों पर वाद-विवाद तो करते रहे; लेकिन सर्वज्ञता के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ रहे। हम उनसे पूछते हैं कि आप जिंदगीभर सर्वज्ञता पढ़ाते रहे और अब सर्वज्ञता पर दार्ये-बायें हो रहे हैं। आपने लोगों को करणानुयोग पढ़ाया और बताया कि ६ महिने ८ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाएँगे। इसप्रकार सब निश्चित है। - ऐसा आपने ही सबको बताया ।

आशय यह है कि पढ़ानेवालों को भी यह समझ में क्यों नहीं आता कि करणानुयोग में हरतरह के जीवों की निश्चित संख्या लिखी हुई है। यह संख्या त्रिकाल की है। ऐसा नहीं है कि यह संख्या आज की जनगणना के अनुसार हो और १० साल बाद की जनगणना में संख्या बढ़ जाएगी। यह संख्या हमेशा इतनी ही रहेगी, तब क्या यह सब यह घोषित नहीं करता है कि सब निश्चित है और इसे केवली के अलावा और कौन जान सकता है ? इसप्रकार यह बात सर्वज्ञता व क्रमबद्ध को भी सिद्ध करती है ।

समयसार में क्रमबद्धपर्याय संबंधी एक पंक्ति मिलती है; जो

इसप्रकार है -

जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्परिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः ।

इसमें तो यह साफ-साफ लिखा है कि जीव; अजीव नहीं है, जीव ही है। यह भेदविज्ञान की गाथा है और जीव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिख दिया कि जीव अपने क्रमनियमित परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है। यहाँ 'क्रमनियमित आत्मपरिणामों से उत्पन्न होता हुआ।' इतना ही वाक्य क्रमबद्धपर्याय को सिद्ध करता है। क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि करणानुयोग से होती है और सर्वज्ञसिद्धि न्यायशास्त्रों से सिद्ध होती है अथवा प्रवचनसार के इस ज्ञानाधिकार से सिद्ध होती है।

इस ज्ञानाधिकार का समापन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने एक कलश लिखा है; जो बहुत ही मार्मिक है एवं संपूर्ण ज्ञानाधिकार को अपने में समेटनेवाला है -

(स्रग्धरा)

जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं ।
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा ॥
तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपातं ।
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥४॥

(मनहरण कवित्त)

जिसने किये हैं निर्मूल घातिकर्म सब ।
अनंत सुख वीर्य दर्श ज्ञान धारी आतमा ॥
भूत भावी वर्तमान पर्याय युक्त सब ।
द्रव्य जाने एक ही समय में शुद्धात्मा ॥
मोह का अभाव पररूप परिणममें नहीं ।
सभी ज्ञेय पीके बैठा ज्ञानमूर्ति आतमा ॥
पृथक्-पृथक् सब जानते हुए भी ये ।

सदा मुक्त रहें अरिहंत परमात्मा ॥४॥

जिसने कर्मों का नाश किया है - ऐसा आत्मा भूत, भावी और वर्तमान संपूर्ण विश्व को युगपत जानता है; तथापि मोह का अभाव होने के कारण पररूप से अर्थात् ज्ञेयरूप से परिणमित नहीं होता है। उसके कारण वह ज्ञानमूर्ति आत्मा वेग से विकास को प्राप्त ज्ञप्तिविस्तार से उनके संपूर्ण ज्ञेयाकार को पी गया है - ऐसे तीनलोक के पदार्थ समूह को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करते हुए मुक्त रहता है।

यह स्रग्धरा छन्द है। स्रग् अर्थात् माला और धरा अर्थात् धारण करनेवाली। हाथ में माला लेकर चलनेवाली मालिन जैसे मटक-मटक कर चलती है; वैसे ही यह स्रग्धरा छन्द चलता है।

भूत, भावि और भवत् अर्थात् वर्तमान - इसप्रकार इसमें तीनों काल की पर्यायें समा गई हैं। विश्व अर्थात् छह द्रव्यों का समूह। सर्वज्ञता छहद्रव्यों की भूतकालीन, वर्तमानकालीन व भविष्यकालीन सभी पर्यायों को युगपद् अर्थात् एक साथ जानती है। जितने द्रव्य हैं, उन सबकी सब पर्यायों को भी सर्वज्ञ का ज्ञान जानता है।

हम जितने लोगों को जानते-पहिचानते हैं, उतने लोगों से मोह बढ़ जाता है, झगड़ा अथवा दोस्ती हो जाती है। इसका अर्थ यह हो गया कि जो जितना अधिक जानते हैं, उनके उतने अधिक शत्रु व मित्र होंगे। जिसका जितना परिचय का क्षेत्र होता है, उस परिचय के क्षेत्र में ही उसके शत्रु व मित्र होते हैं; परंतु यह आत्मा मोहनीय कर्म के अभाव के कारण एवं घातिया कर्मों को जिसने नष्ट कर दिया है - ऐसा होने के कारण वह मोह के अभावरूप से ऐसा परिणमित हुआ है कि वह संपूर्ण लोकालोक में जितने भी पदार्थ है एवं उनकी पर्यायें हैं; उनको पृथक् एवं अपृथकरूप से जानता है; पर किसी में भी एकत्व नहीं करता और किसी से भी राग-द्वेष नहीं करता।

सर्वज्ञ भगवान दो द्रव्यों में विद्यमान पृथकता को भी जानते हैं

और एक द्रव्य में जो अनेक गुण हैं, उनमें विद्यमान पृथकता और अपृथकता को भी जानते हैं; साथ में पृथकता और अपृथकता की अपेक्षाओं को भी जानते हैं।

यह भी बहुत मार्मिक प्रकरण है। यहाँ कई लोग कहते हैं कि भेद तो व्यवहार है, इसलिए भेद तो है ही नहीं।

अरे भाई ! भेद व्यवहार नहीं है, भेद को जानना व्यवहार है। भेद के लक्ष्य से आत्मा की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए भेद को जानना व्यवहार है – ऐसा कहा है। भेद तो वस्तु के स्वरूप में ही पड़ा है।

दो द्रव्य अलग-अलग हैं। एक द्रव्य के दो गुण सर्वथा अलग-अलग नहीं हैं तथा एक द्रव्य की दो पर्यायें भी सर्वथा पृथक्-पृथक् नहीं हैं। एक द्रव्य के गुणों और पर्यायों में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है; परन्तु भेद के जानने पर विकल्प की उत्पत्ति होती है। इसलिए अनुभव के काल में भेद का निषेध है। सर्वज्ञ भगवान तो भेद और अभेद दोनों को ही एकसाथ जानते हैं।

जिसने कर्मों को छेद डाला है – ऐसा यह आत्मा भूत, भविष्यत और वर्तमान समस्त विश्व को एक ही साथ जानता हुआ मोह के अभाव के कारण पररूप परिणमित नहीं होता; इसलिए कहा है कि जिसके समस्त ज्ञेयाकारों को अत्यंत विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से स्वयं पी गया है – ऐसे तीनों लोक के पदार्थों को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है।

निश्चयनय अभेद को जानता है, व्यवहारनय भेद को जानता है और केवलज्ञान प्रमाणज्ञान है; अतः दोनों को जानता है। केवलज्ञान समस्त द्रव्यों के समस्त विस्तार को जानते हुए अत्यंत विकसित है अर्थात् उसने उन्हें आत्मसात कर लिया है। अर्थात् उनके ज्ञान में सब झलक रहा है। वह उन्हें पी गया है अर्थात् अपने अन्दर में ही तृप्त है। कोई भी वस्तु उसके ज्ञान के बाहर नहीं है। सहजज्ञान में ज्ञात हैं, उसी ज्ञान के वे ज्ञाता

है अर्थात् ज्ञान क्रिया के ही वे कर्ता हैं – ऐसा कहा जाता है।

कर्ता तो हैं, पर प्रयत्नपूर्वक करते हैं – ऐसा कुछ नहीं है।

इसप्रकार यहाँ केवलज्ञान की महिमा बताकर ज्ञानाधिकार का समापन किया है।

अब सुखाधिकार का आरंभ करते हैं। सुखाधिकार में भी ज्ञान की ही महिमा गाई गई है। अधिकार के अंत में सांसारिक सुख का वर्णन किया गया है। सांसारिक सुख; सुख नहीं है, दुःख ही है। जिसे अतीन्द्रिय-ज्ञान है, उसे ही अतीन्द्रियसुख उत्पन्न होता है। अतीन्द्रियसुख को प्राप्त करने के लिए किसी पृथक् पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं है।

आजकल माल बेचने की एक तकनीक चली है कि जो व्यक्ति एक मोक्षमार्गप्रकाशक खरीदेगा; उसे उसके साथ दूसरा मोक्षमार्गप्रकाशक मुफ्त में दिया जाएगा। अमरीका में ऐसे बोर्ड लगे रहते हैं कि 'वन बाय वन गेट फ्री' एक खरीदो और दूसरा मुफ्त में पाओ।

यदि कोई कहे कि एक की कीमत लेकर दो वस्तुएँ देने के स्थान पर आधी कीमत कर देना ही ठीक है।

उससे कहते हैं कि यदि हम आधी कीमत करके बेचे तो एक मोक्षमार्गप्रकाशक ही बिकेगा। हमें बिक्री दुगुना करना है, आधी नहीं। दोनों के बराबर एक का मूल्य रखकर फिर एक के साथ एक फ्री करते हैं तो लेनेवाला दो ले जाता है।

वहाँ विटामिन की दवाईयों में ऐसा बहुत होता है। १०० गोलियों की एक शीशी खरीदो तो दूसरी शीशी फ्री में दी जाती है।

ऐसे ही यहाँ आचार्य कह रहे हैं कि केवलज्ञान खरीदो तो अनंतसुख मुफ्त में मिलेगा। केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें जो आत्मोन्मुखी होने का पुरुषार्थ करना पड़ेगा, उसी पुरुषार्थ से स्वयमेव अनंतसुख, अनंतवीर्य और अनंतदर्शन प्राप्त होगा। यह सारी महिमा ज्ञान की है। यहाँ मुख्य सक्रिय ज्ञानगुण ही है। यही कारण है कि सुखाधिकार में

भी ज्ञान के ही गीत गाये जा रहे हैं।

अब इस ५३वीं गाथा से सुखाधिकार प्रारम्भ करते हैं। इसमें भी ज्ञान की ही चर्चा मुख्यरूप से है -

अत्थि अमूर्त मुत्तं अदिदियं इंदियं च अत्थेसु।

गाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥५३॥

(हरिगीत)

मूर्त और अमूर्त इन्द्रिय अर अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख।

इनमें अमूर्त अतीन्द्रियी ही ज्ञान-सुख उपादेय हैं ॥५३॥

पदार्थों संबंधी ज्ञान और सुख अमूर्त, मूर्त, अतीन्द्रिय और इन्द्रियरूप होता है। उनमें जो प्रधान है, वह उपादेयरूप जानना चाहिए।

ज्ञान के समान सुख भी दो-दो प्रकार का होता है - इन्द्रियसुख व अतीन्द्रियसुख, मूर्तसुख व अमूर्तसुख। आत्मा से उत्पन्न होनेवाले सुख को अमूर्तसुख कहा जाता है और पंचेन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाले सुख को मूर्तसुख कहा जाता है।

विषयों की दृष्टि से उसे मूर्त नाम दे दिया है और इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं; इसलिए उसे इन्द्रिय नाम दे दिया है। जो इन्द्रिय के बिना सीधे आत्मा से ग्रहण करता है; वही अतीन्द्रियज्ञान व अतीन्द्रियसुख है। जिसप्रकार ज्ञान मूर्त व अमूर्त, इन्द्रिय व अतीन्द्रिय होता है; उसीप्रकार सुख भी मूर्त व अमूर्त तथा इन्द्रिय व अतीन्द्रिय होता है। इन्द्रियज्ञान के साथ में इन्द्रियसुख की प्राप्ति अनिवार्य है तथा अतीन्द्रियज्ञान के साथ में अतीन्द्रियसुख की प्राप्ति अनिवार्य है।

चारों अनुयोगों के शास्त्रों में पाँचों इन्द्रिय के विषयों के सुख का मजबूती से निषेध किया गया है। पाँचों इन्द्रियों के विषयभोगों से उत्पन्न सुख का निषेध जैनेतर शास्त्रों में भी किया है।

अब, आचार्य कहते हैं कि इन्द्रियज्ञान इन्द्रियसुख का साधनभूत है। इसलिए जब इन्द्रियसुख हेय है तो इन्द्रियज्ञान भी हेय ही हो गया।

इन्द्रियसुख की सत्ता का निषेध कहीं भी नहीं है। परन्तु ये वास्तविक सुख नहीं हैं, नाममात्र का सुख हैं। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि इन्द्रियसुख; सुख नहीं है, दुःख ही है। इसीप्रकार यह भी कहा जाता है कि इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं है।

इसमें तो कोई गड़बड़ी नहीं है; लेकिन गड़बड़ी तब होती है कि जब इन्द्रियसुख सुख नहीं है, दुःख ही है - ऐसा कहकर हम जगत में उसकी सत्ता से ही इन्कार करने लगते हैं।

इन्द्रियसुख नामक जो वस्तु है, उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं है; किन्तु इन्द्रियसुख में सुखत्व का निषेध है।

रोटी बनानेवाला भी पंडित होता है और शास्त्रों का जानकार भी पंडित होता है। जब हम कहते हैं कि रोटी बनानेवाला पंडित नहीं है तो इसमें उसकी सत्ता से इन्कार नहीं किया है, अपितु उसकी विद्वत्ता से इन्कार किया है। समाज उसे भी पण्डित नाम से जानती है तो जाने; उससे इन्कार नहीं है, पर उसके पाण्डित्य से इन्कार है। ऐसे ही इन्द्रियसुख सुख नहीं है; इसमें इन्द्रियसुख की सत्ता से इन्कार नहीं है; अपितु उसके वास्तविक सुखपने से इन्कार है।

ऐसे ही इन्द्रियज्ञान; ज्ञान नहीं है; इसमें इन्द्रियज्ञान की सत्ता से इन्कार नहीं था। यहाँ वह इन्द्रियज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है अथवा सम्यग्ज्ञान नहीं है, आत्मा का कल्याण करनेवाला नहीं है - उक्त कथन इस अर्थ में ही है।

परंतु हमने इन्द्रियज्ञान, ज्ञान नहीं है; वह तो ज्ञेय है - ऐसा कहकर उसके ज्ञानत्व का ही निषेध किया; परंतु यहाँ ऐसा अर्थ नहीं है।

यद्यपि इन्द्रियज्ञान में जानने की क्रिया हो रही है; परंतु वह हमारे काम की नहीं है। यहाँ जानने की क्रिया का निषेध नहीं है; परंतु हम इन्द्रियज्ञान में जानने की क्रिया का ही निषेध करने लग गए हैं। यही हमारी भूल है।

जो न्यायशास्त्र नहीं पढ़ते हैं; वे ही ऐसे भूलें करते हैं। एक व्यक्ति यहाँ से जा रहा है, उसे कोई चमकदार पदार्थ नीचे पड़ा हुआ दिखा। झुककर देखा तो काँच का टुकड़ा था, उसने हीरा समझा था और निकला काँच का टुकड़ा। इसलिए उसने उसे तुरंत फेंक दिया।

पीछेवाले ने पूछा 'क्या है?' वह बोला - 'कुछ नहीं।'

कुछ नहीं - ऐसा कैसे हो सकता है? वह झुका था तो कुछ न कुछ तो होगा ही। अरे भाई! यहाँ कुछ नहीं है अर्थात् कोई काम की चीज नहीं है।

'कुछ नहीं।' - ऐसा कहकर यहाँ उसकी सत्ता से इन्कार नहीं किया है; अपितु उसकी प्रयोजनभूतता से इन्कार किया है। ऐसे ही 'इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं' इसमें इन्द्रियज्ञान की सत्ता से इन्कार करना अन्याय है, गलत है। इन्द्रियज्ञान प्रयोजनभूत नहीं है - इसका नाम ही इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं है - यदि ऐसा कहते हैं तो कोई समस्या नहीं है। इसे ही इन्द्रियज्ञान हेय है - ऐसा कहा जाता है।

'इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं है' यदि यह सर्वथा सत्य हो तो वह हेय है - ऐसा कैसे कहा जा सकता है? वह छोड़ने योग्य है - इसका अर्थ यह है कि उसकी सत्ता तो है; लेकिन वह किसी काम का नहीं है।

एक छंद आता है -

परखा माणिक मोतियाँ, परखा हेम कपूर।

यदि आत्म जाना नहीं, जो जाना सब धूल।।

यदि आत्मा को नहीं परखा और किसी को भी परखा, तो कुछ परखा ही नहीं है, जाना ही नहीं है; वह जानना बेकार है; क्योंकि वह किसी प्रयोजन का नहीं है।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि इन्द्रियज्ञानवाले को इन्द्रियसुख की तथा अतीन्द्रियज्ञानवाले को अतीन्द्रियसुख की प्राप्ति होती है।

जिस शुद्धोपयोग के फल में केवलज्ञान की प्राप्ति होती है; उसी

शुद्धोपयोग के फल में अतीन्द्रिय आनन्द की भी प्राप्ति होती है।

जादं सयं समंतं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं।

रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणिदं।।५९।।

(हरिगीत)

स्वयं से सर्वांग से सर्वार्थग्राही मलरहित।

अवग्रहादि विरहित ज्ञान ही सुख कहा जिनवरदेव ने।।५९।।

स्वयं से उत्पन्न, समंत, अनन्त पदार्थों में विस्तृत, निर्मल और अवग्रहादि से रहित ज्ञान ऐकान्तिक सुख है - ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

यहाँ ऐकान्तिक से तात्पर्य वास्तविक से है। ज्ञानाधिकार समाप्त होने के बाद सुखाधिकार की ७-८ गाथाएँ हो जाने पर भी आचार्य यहाँ ज्ञान की ही महिमा गा रहे हैं।

अवग्रहादिक से रहित अतीन्द्रिय ज्ञान के साथ में जो सुख उत्पन्न हुआ है; वह सुख ऐकान्तिक सुख है अर्थात् वास्तविक सुख है।

सिद्धों के अतीन्द्रियसुख की अपेक्षा इन्द्रियसुख दुःख ही है। अतः संसारीजीव दुःखी ही हैं। पुण्य के उदय से प्राप्त होनेवाली अनुकूलता को सुख मानो तो हम संसारीजीवों को भी सुखी कह सकते हैं।

सर्वज्ञ का ज्ञान अवग्रहादिक से रहित है। जो स्वयं पैदा हुआ है अर्थात् इन्द्रियादिक की सहायता से उत्पन्न नहीं हुआ है, गुरु-पुस्तकादिक से उत्पन्न नहीं हुआ है, जिसमें पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है - ऐसा ज्ञान अतीन्द्रियज्ञान है। जिसप्रकार आँख पीछे का नहीं देख सकती है - केवलज्ञान उसप्रकार नहीं है। केवलज्ञान में तो सर्वांग प्रदेशों से एक-सा दिखता है।

केवलज्ञानी अरहंत भगवान के आँख और कान अपने से बढ़िया होते हैं, वज्र की चोट से भी खराब नहीं होते। कहने का आशय यह है कि उनकी आँखें तो बढ़िया हैं; लेकिन वे आँखों से देखते ही नहीं हैं। वे चारों तरफ से आत्मप्रदेशों से ही देखते हैं। उनका ज्ञान अवग्रहादिक

से रहित अत्यंत निर्मल है। ऐसे जीवों को जो सुख है, वह एकान्त से सुख ही है, उसमें कथंचित् नहीं लगता है। कथंचित् सुख व कथंचित् दुःख - ऐसा भेद उसमें नहीं है।

छहठाला में भी तीसरी ढाल के प्रथम छन्द में अतीन्द्रियसुख के बारे में लिखा है कि -

‘आकुलता शिवमांहि न तातै, शिवमग लाग्यो चाहिए।’
आकुलता मोक्ष में नहीं है; अतः मोक्षमार्ग में लगना चाहिए।
यहाँ ऐसे ही सुख की चर्चा है।

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव ।
खेदो तस्स ण भणितो जम्हा घादी खयं जादा ॥६०॥
(हरिगीत)

अरे केवलज्ञान सुख परिणाममय जिनवर कहा।

क्षय हो गये हैं घातिया रे खेद भी उसके नहीं ॥६०॥

जो ‘केवल’ नामक ज्ञान है - केवलज्ञान है, वही सुख है, वही परिणाम है; क्योंकि उनके घातिकर्म क्षय को प्राप्त हुये हैं; अतः उन्हें खेद नहीं कहा गया है।

आप में २५ किलो वजन ले जाने की ताकत है। यदि आपको ५० किलो ले जाने के लिए कहेंगे तो खेद हो जाएगा। आपमें जितनी जानने की शक्ति है; उतना जानेंगे तो बिना खेद के जानेंगे। आपमें एक दिन में १० गाथा याद करने की शक्ति है तो बिना खेद के याद करेंगे; परन्तु २० गाथा याद करने के लिए कहेंगे तो खेद हो जाएगा।

अब आचार्यदेव अनन्तवीर्य की चर्चा करते हैं। केवलज्ञान के लिए जो कीमत चुकाई है, उसी में अनंतसुख व अनंतवीर्य भी मिल गया।

अनंतसुख को भोगते हैं, अनंतज्ञेयों को जानते हैं; पर उन्हें खेद नहीं होता, थकान नहीं होती। भगवान पसीना से रहित हैं; क्योंकि पसीना श्रम की निशानी है, खेद व थकावट की निशानी है। पसीना का दूसरा

नाम श्रमजल है। भगवान के लिए ‘श्रमजलरहित’ कहा गया है।

इसलिए आचार्य कहते हैं कि जो केवल नाम का ज्ञान है, वही सुख है, उससे भिन्न सुख नहीं है; परिणाम भी वही है। कहने का आशय यह है कि अनंतसुख में किसीप्रकार का खेद नहीं होता है। उस अतीन्द्रियसुख का स्वरूप जानना जरूरी है।

जैसे केवलज्ञानी के ज्ञान को हम अपने ज्ञान से नापते हैं; वैसे ही उनके सुख को भी हम अपने सुख से नापते हैं।

टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में मोक्षतत्त्व की भूल के प्रकरण में यही बात बताई है कि अज्ञानी कहता है कि जितना सुख हमें है, उससे अनंतगुणा सुख मोक्ष में है। इसप्रकार वह वर्तमान में जो इन्द्रियजन्य सुख है, उससे गुणनफल लगाता है। मुझे यहाँ एक पत्नी का सुख है तो वहाँ पर अनन्त पत्नियाँ होंगी। यहाँ पर दो रोटियों का सुख है तो वहाँ पर अनंत रोटियों का सुख होगा। इसप्रकार इसने जिस-जिस भोग सामग्री में सुख की कल्पना कर रखी है; उस-उससे गुणनफल लगाता है।

अरे भाई ! तुम्हारे पास जो है, उससे ही तो तुम गुणनफल करोगे। इसलिए कहते हैं कि तुम ऐसा गुणनफल मत करो; क्योंकि अतीन्द्रियसुख की जाति ही जुदी है।

उसकी महिमा बताने के लिए ऐसा कहा; क्योंकि महिमा तो जिससे परिचित होते हैं, उससे ही की जाती है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में यही तो फर्क है। सम्यग्दृष्टि ने उस मोक्ष के सुख का स्वाद लिया है, भले ही वह अनंतवाँ भाग चखा हो।

छहठाला में कहा है कि -

‘यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लहयो ।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र कै नाहीं कह्यो ।’

इसप्रकार चिन्तवन करके आत्मस्वरूप में लीन होने पर उन मुनियों

को जो कहा न जा सके - ऐसा वचन से पार आनन्द होता है; वह आनन्द इन्द्र को, नागेन्द्र को, चक्रवर्ती को या अहमिन्द्र को भी नहीं होता। (छठवाँ ढाल, ११वाँ छंद)

इन्द्र तो सम्यग्दृष्टि है, फिर भी वह आनंद इन्द्र को क्यों नहीं है ?

यहाँ आचार्यदेव जो इन्द्र के सुख की बात कर रहे हैं, वह इन्द्र के लौकिक सुख के संदर्भ में कर रहे हैं। यहाँ इन्द्र के सम्यग्दर्शनजन्य सुख की चर्चा नहीं है।

लोक में जिसे सुख कहते हैं, वह सांसारिक सुख है; परन्तु सम्यग्दर्शनजन्य जो सुख सौधर्म इन्द्र स्वर्ग में भोग रहा है, वही सुख श्रेणिक राजा नरक में भोग रहा है; लेकिन नरक में दुःख तथा स्वर्ग में सुख - ऐसा कहा जाता है, वह कथन लौकिक सुख-दुःख की बात है; परंतु यहाँ तो मुनि की भूमिकावाले अतीन्द्रियसुख को लेना है।

विषयसामग्रीजनित सुख से अतीन्द्रियसुख अलग जाति का है। हमें जब सम्यग्दर्शन होगा, तब उस जाति का सुख ख्याल में आएगा; लेकिन अभी शास्त्र के आधार से तो यह निर्णय करना पड़ेगा कि वह सुख कोई अलग जाति का है, जिसे हम व्यवहार से मोक्ष का श्रद्धान कहते हैं।

जैसे अतीन्द्रियज्ञान इन्द्रियज्ञान से अलग है, फिर भी वे दोनों ज्ञान ज्ञान का उल्लंघन नहीं करते हैं; वैसे ही इन्द्रियसुख और अतीन्द्रियसुख दोनों सुखगुण की पर्यायें हैं, सुखगुण का उल्लंघन नहीं करती हैं।

इसी न्याय से सुखगुण की जो पर्याय दुःखरूप है, उसे भी सुख कह सकते हैं; क्योंकि वह सुखगुण की पर्याय है। ज्ञानगुण की पर्याय को ज्ञान भी कहते हैं और अज्ञान भी कहते हैं। वैसे ही सुखगुण की पर्याय को सुख भी कहते हैं और दुःख भी कहते हैं। सुखगुण की अतीन्द्रियसुखरूप पर्याय इन्द्रियसुख से जुदी जाति की है।

वह अतीन्द्रिय सुख ही वास्तविक सुख है - यही सुखाधिकार में कहा है।

छठवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम के ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन महाधिकार के सुखाधिकार के आरंभ से ही यह कहते आ रहे हैं कि जिनके अतीन्द्रियज्ञान है, उनके अतीन्द्रियसुख है। इसे ही सम्पूर्ण सुखाधिकार में आचार्यदेव ने अनेक तर्क और युक्तियों से सिद्ध किया है।

यहाँ महत्त्वपूर्ण युक्ति यह है कि उनको वीतरागी होने के कारण कोई भी इच्छा नहीं रही है व सर्वज्ञ होने के कारण किसी भी प्रकार का अज्ञान नहीं रहा है; अतः उन्हें किसी भी प्रकार का दुःख सम्भव नहीं है। शक्ति की दुर्बलतावश दुःख प्रगट होता है; लेकिन उन्हें अनंतवीर्य प्रगट हो गया है; इसलिए भी उन्हें कोई दुःख नहीं है।

इसलिए जिन्हें अतीन्द्रियज्ञान है, उन्हें अतीन्द्रियसुख है।

अब, इस सुखाधिकार में सांसारिक सुख की चर्चा करते हैं। वस्तुतः वह सांसारिकसुख सुख है ही नहीं, वह तो दुःख ही है।

जैसा कि निम्नांकित गाथा में कहा गया है -

मणुआसुरामरिंदा अहिदुदा इन्दिएहिं सहजेहिं।

असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥६३॥

(हरिगीत)

नरपती सुरपति असुरपति इन्द्रियविषयदवदाह से।

पीडित रहें सह सके ना रमणीक विषयों में रमें ॥६३॥

स्वाभाविक इन्द्रियों से दुःखित होते हुये मनुष्येन्द्र (चक्रवर्ती), असुरेन्द्र और सुरेन्द्र उस दुःख को सहन नहीं करते हुये रम्यविषयों में रमण करते हैं। इसप्रकार वे सुखी नहीं हैं, दुःखी ही हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि वे पाँच इन्द्रियों के विषयों में रमते हैं तथा पाँच इन्द्रियों के विषयों में रमणता दुःख के बिना संभव नहीं है। जिसप्रकार भोजन करना भूख के बिना संभव नहीं है, स्पर्शनइन्द्रिय का विषय सेवन

वासना की तीव्रतम जाग्रती बिना संभव नहीं है; उसीप्रकार दुःख के बिना पंचेन्द्रिय विषयों में रमण करना संभव नहीं है। अतः वे दुःखी ही हैं। जिनमें पंचेन्द्रिय के विषय देखे जाते हैं; वे विषय इस बात के प्रमाण हैं कि वे दुःखी हैं।

कोई आदमी यह कहे कि मैं कभी बीमार नहीं पड़ता; क्योंकि मेरे साथ तीन डॉक्टर हमेशा रहते हैं और एक दवाइयों का बक्सा मैं हमेशा अपने साथ रखता हूँ। उसका यह कहना सत्य नहीं है; क्योंकि दवाइयों का बक्सा एवं डॉक्टरों की उपस्थिति इस बात का प्रतीक है कि वह सदा बीमार रहता है।

ऐसे ही, जो लोग ऐसा कहते हैं कि पंचेन्द्रियों के भोग मुझे उपलब्ध हैं; इसलिए मैं सब ओर से सुखी हूँ; मुझे जो चाहिए; वह मैं खाऊँ-पिऊँ; जहाँ चाहूँ, वहाँ जाऊँ; काम करूँ या नहीं करूँ; इसप्रकार मुझे पाँचों इन्द्रियों के विषय हमेशा उपलब्ध रहते हैं; इसलिए मैं सुखी हूँ। उनसे आचार्य कहते हैं कि **पाँचों इन्द्रियों के विषयों की निरन्तरता तेरे सुखी होने की नहीं, दुःखी होने की निशानी है।**

तीर्थंकर ऋषभदेव ८३ लाख पूर्व की आयु की वृद्धावस्था में भी नीलांजना का नृत्य देख रहे थे - यह उनके सुख की निशानी है या दुःख की ?

चक्रवर्ती भरत के ९६ हजार पत्नियाँ थीं - वे उनकी सुख की निशानी है या दुःख की ?

भगवान् ऋषभदेव की दिव्यध्वनि खिर रही थी और भरत चक्रवर्ती ६० हजार वर्ष के लिए लड़ने के लिए निकल गए। वे सुखी थे या दुःखी?

अरे भाई! वे दुःखी ही थे; इसलिए तो लड़ने के लिए निकल गए थे।

एक साधु धुनि रमाये बैठा था, इतने में कोई एक आदमी आया और उसने साधु के सामने एक पैसा चढ़ाया। उस साधु ने बहुत मना किया कि हमें पैसे से क्या काम ?

नहीं, महाराज आप रख लो; जिसे सबसे अधिक आवश्यकता हो, जो सबसे अधिक दुखी हो; उसे दे देना।

इतना कहकर वह वहाँ से चला गया।

अब साधु का दिमाग आत्मा-परमात्मा से हटकर इस पैसे का क्या करूँ - इसमें उलझ गया। इसप्रकार पैसा ही पैसा उसके ध्यान का ध्येय बन गया।

हाथी पर सवार एक राजा दूसरे राजा पर चढ़ाई करने के लिए जा रहा था; तब उस साधु ने वह पैसा राजा की ओर जोर से फेंका तो वह पैसा राजा की नाक पर लगा।

तब राजा ने उस साधु से पूछा कि भाई तुमने यह पैसा मेरी नाक पर क्यों मारा ?

उस साधु ने कहा कि जो आदमी यह पैसा चढ़ाकर गया था, उसने यह कहा था कि जिसे सबसे अधिक आवश्यकता हो, जो सबसे अधिक दुखी हो; उसे यह दे देना। मुझे सबसे अधिक आवश्यकतावाले और दुखी आप ही दिखे; क्योंकि सबकुछ होते हुए भी आप दूसरे राजा पर चढ़ाई कर रहे हो। इसका अर्थ यह है, सबसे अधिक आवश्यकता वाले आप ही हो, सबसे अधिक दुखी भी आप ही हो; इसलिए आपको ही.....।

यह सब इस बात का प्रतीक है कि पंचेन्द्रिय के विषयों की उपलब्धि दुःख ही है। यही बात अगली गाथा में आचार्यदेव कह रहे हैं -

जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सग्भावं ।

जइ तं ण हि सग्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥६४॥

(हरिगीत)

पंचेन्द्रियविषयों में रती वे हैं स्वभाविक दुःखीजन ।

दुःख के बिना विषयविषय में व्यापार हो सकता नहीं ॥६४॥

जिन्हें विषयों में रति है, उन्हें दुःख स्वाभाविक जानना चाहिए; क्योंकि यदि वह दुःख स्वाभाविक न हो तो विषयों के लिए व्यापार न हो।

जिन्हें विषयों में रति है, उन्हें आचार्य स्वभाव से ही दुःखी कह रहे हैं; वे कर्मोदय से दुःखी नहीं हैं। वे पाँच इन्द्रियों के विषयों की सामग्री प्राप्त नहीं हैं; इसलिए दुःखी नहीं हैं।

इसे ही आगे आचार्य इसप्रकार कहेंगे कि पाँच इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति है; इसलिए सुखी नहीं हैं। यहाँ दुःखी का प्रकरण है, इसलिए उनके स्वाभाविक दुःख है - ऐसा आचार्य कह रहे हैं। यह दुःख परजन्य नहीं है, अंतर में पाँच इन्द्रियों के विषयों के प्रति जो रति है, वह उनके दुःख का कारण है।

यदि वे स्वभाव से दुःखी नहीं होते तो पाँच इन्द्रियों के विषयों में उनका व्यापार ही नहीं होता।

प्रश्न - उन्हें पाँच इन्द्रियों के विषय पुण्य के उदय से मिल गए तो हम क्या करें ? किसी के तो एक भी शादी नहीं होती और चक्रवर्ती की ९६ हजार शादियाँ हो गई, राजपाट मिल गया है; इसमें उनका क्या दोष?

उत्तर - अरे भाई ! पाँच इन्द्रियों के विषय तो पुण्य के उदय से मिले; लेकिन उनका सेवन वह पुण्यभाव से कर रहा है या पापभाव से ? उनके सेवन का भाव तो पापभाव ही है।

अरे भाई ! संयोगरूप से उपलब्धि भले ही पुण्य का फल होगी; लेकिन उनका सेवन तो पापभाव के बिना संभव नहीं है।

यहाँ आचार्य यही सिद्ध कर रहे हैं कि उन्हें स्वाभाविक दुःख है अर्थात् वे किसी अन्य के कारण दुःखी नहीं हैं।

टीका में बहुत मार्मिक कहा है कि - 'जिनकी हत इन्द्रियाँ जीवित हैं।' हत अर्थात् हत्यारी, बहुत दुःख देनेवाली, निन्दनीय। यहाँ इन्द्रियों के जीवित होने से आशय भोग की इच्छा के विद्यमान होने से है। हत इन्द्रियाँ जिन्दा हैं अर्थात् पाँच इन्द्रियों के भोगने का भाव जिन्दा है। **भोगने के भाव के कारण ही दुःख है, पर के कारण नहीं।**

संसारीजीव स्वभाव से ही दुःखी हैं; क्योंकि उनके विषयों में रति

देखी जाती है; पाँचों इन्द्रियों के विषयों में प्रेम देखा जाता है। यह इस बात का प्रतीक है कि वे स्वभाव से ही दुःखी हैं।

यहाँ स्वभावपर्याय मत लेना। यह संसार के स्वभाव की बात है अर्थात् वे स्त्री-पुत्र के कारण दुःखी नहीं हैं, वे पर के कारण दुःखी नहीं हैं, कर्म के उदय से दुःखी नहीं है; उनके अंदर जो विषयचाह है, वे उसके कारण दुःखी हैं। इसके लिए यहाँ पाँच उदाहरण दिए हैं।

हाथी हथिनिरूपी कुट्टिनी के शरीर स्पर्श की ओर, मछली बंसी में फँसे हुए माँस के स्वाद की ओर, भ्रमर बंद हो जाने पर कमल की गंध की ओर, पतंगा दीपक की ज्योति के रूप की ओर तथा हिरण शिकारी के संगीत के स्वर की ओर दौड़ते हुए दिखाई देते हैं। यह इस बात का प्रतीक है कि वे स्वाभाविक दुःखी हैं; अन्यथा उनका विषयों की ओर दौड़ना संभव नहीं था।

जंगली हाथियों को पकड़ने के लिए जंगल में एक बहुत बड़ा गहरा खड्डा खोदा जाता है। उस पर झीना आवरण डालकर, उसके ऊपर मिट्टी और दूब-घास व झाड़ियाँ डाल दी जाती हैं।

जंगली हाथियों को फंसाने के लिए एक हथिनी को प्रशिक्षित करते हैं। वह चतुर हथिनी अपनी कामुक चेष्टाओं से जंगली हाथियों को आकर्षित करती है, मोहित करती है और अपने पीछे-पीछे आने के लिए प्रेरित करती है। उनसे नानाप्रकार की क्रीड़ाएँ करती हुई, वह हथिनी उन्हें उस गड्डे के समीप लाती है। तेजी से भागती हुई वह कुट्टिनी हथिनी तो जानकार होने से उस गड्डे से बचकर निकल जाती है; पर तेजी से पीछा करनेवाला भागता हुआ कामुक हाथी उस गड्डे में गिर जाता है। इसप्रकार वह अपनी स्वाधीनता खो देता है, बंधन में पड़ जाता है।

इसप्रकार स्पर्शन इन्द्रिय के विषय के लिए हाथी, रसना इन्द्रिय के विषय के लिए मछली, घ्राण इन्द्रिय के विषय के लिए भौरा, चक्षु इन्द्रिय के विषय के लिए पतंगा और कर्णेन्द्रिय के विषय के लिए हिरण का उदाहरण दिया है।

यह जो पाँच इन्द्रियों के विषयों की तरफ दौड़ते हुए देखे जाते हैं; उन्हें किसी ने दौड़ाया नहीं है, किसी ने प्रशिक्षित नहीं किया है; वे स्वयं ही विषयों की ओर दौड़ते हैं; अतः स्वाभाविकरूप से दुखी हैं।

अब आचार्य, चक्रवर्तियों की और इन्द्रों की बात करते हैं। देखो, इन्द्रों की कैसी दुर्दशा है? विषय क्षणिक हैं; उनका अंत, नाश अतिनिकट है; पाँच इन्द्रियों के जो विषय हैं, वे अनंतकाल तक रहनेवाले नहीं हैं; तथापि वे इन्द्रादि विषयों की ओर दौड़ते हुए दिखाई देते हैं।

इससे यह तो सिद्ध ही है कि वे दुखी हैं। यदि वे दुखी नहीं होते तो इन्द्रियविषयों के प्रति दौड़ते दिखाई नहीं देते; क्योंकि जिसका शीतज्वर उपशांत हो गया है, वह पसीना आने के लिए उपचार क्यों करेगा?

पहले किसी को सर्दी लगकर बुखार आता था, कँपकँपी छूटती थी तो उसे शीतज्वर कहा जाता था और पसीना आ जाए तो वह बुखार उतर जाता था। बचपन में जब हमें बुखार आता था तो तब खूब कपड़े उड़ाकर सुलाया जाता था। पसीना आ जाएगा तो बुखार उतर जाएगा – यही माना जाता था। आचार्य यहाँ कह रहे हैं कि जिसका शीतज्वर शांत हो गया है; वह पसीना लाने के लिए उपाय क्यों करेगा?

एक बुखार ऐसा है कि जिससे सारे शरीर में जलन होती है। आचार्य कहते हैं कि जिसका दाहज्वर दूर हो गया है, वह काँजी से शरीर के ताप को उतारता हुआ क्यों दिखाई देगा? जिसके आँखों का दुःख दूर हो गया है, वह बटाचूर्ण आँजता क्यों दिखाई देगा? जिसका कर्णशूल नष्ट हो गया है, वह कान में बकरी की पेशाब क्यों डलवायेगा?

कान में डालों तो नाक और गले में भी पहुँच जाती है। यह शुद्ध और सात्त्विक भी नहीं है। रोग नहीं हो तो कोई ऐसा क्यों करेगा? किन्तु ताप उतारने के लिए ही वे पसीना लेते देखे जाते हैं, शीतज्वर को दूर करने के लिए ही काँजी की मालिश करते देखे जाते हैं, आँख में बटाचूर्ण

आँजते देखे जाते हैं और कान में बकरी की पेशाब डलवाते देखे जाते हैं; इससे यह सिद्ध होता है कि वे दुःखी हैं।

पाँचवाँ उदाहरण यह है कि जिसका घाव भर जाता है, वह लेप करता हुआ दिखाई नहीं देता है। जब घाव हो जाता है, तभी लेप लगाया जाता है।

इसप्रकार आचार्य ने पाँच उदाहरण देकर यह सिद्ध किया कि विषयों में प्रवृत्त जीव दुखी ही हैं।

जो सुखी हैं; उनके विषयों में व्यापार नहीं दिखना चाहिए; परन्तु चक्रवर्ती और इन्द्रों के विषयों में व्यापार देखने में आता है; इससे यह सिद्ध होता है कि वे स्वभाव से ही दुःखी हैं।

चक्रवर्ती की पट्टरानी रजस्वला नहीं होती, उसे मासिकधर्म नहीं होता, उसके कोई संतान भी नहीं होती।

यद्यपि संतान नहीं होना तो लोक में अच्छा नहीं माना जाता; तथापि शास्त्रों में यह लिखा है कि मासिकधर्म होना और सन्तान की उत्पत्ति – इन दो कारणों से विषयभोग में बाधा पड़ती है; चक्रवर्ती को निरन्तर निर्बाध भोग उपलब्ध रहें, इसके लिए प्रकृति ने यह व्यवस्था की है।

चक्रवर्ती के ऐसे पुण्य का उदय है कि जिसके कारण उसके भोगों में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। कहने का आशय यह है कि उन्हें भोग की ऐसी निर्विघ्न व्यवस्था चाहिए। इसके आधार पर हम चक्रवर्ती व इन्द्र कितने दुःखी हैं; इसका अंदाजा लगा सकते हैं।

प्रश्न – यह तो अतीन्द्रियसुखाधिकार का प्रकरण है। इसमें दुःख की चर्चा क्यों कर रहे हैं?

उत्तर – सम्पूर्ण जगत ने इस दुःख को ही सुख मान रखा है। वह सुख वास्तविक सुख नहीं है और यह अतीन्द्रियसुख ही वास्तविक सुख है – यह बात बताने के लिए यह चर्चा की जा रही है।

भगवान ऋषभदेव ने जब दीक्षा ली और जंगल में आहार के लिए नग्न घूमने लगे तो जगत को ऐसा लगता था कि बेचारे नग्न घूमते हैं, पहनने के लिए कपड़े तक नहीं हैं, सवारी नहीं है, पैर में जूते तक नहीं हैं, घर-स्त्री-पुत्र कुछ भी नहीं है। इन वस्तुओं के बिना ये कितने दुखी हैं? - यह सोचकर सब लोग उन्हें यह सब देने के लिए तैयार थे।

सम्पूर्ण जगत तो यही मानता है कि इनके बिना ही सब जीव दुःखी हैं और उन्हें यह उपलब्ध करा देंगे तो सब सुखी हो जाएँगे।

इसप्रकार इन वस्तुओं को हमने सुख की निशानी मान लिया है। ये वस्तुएँ मुनिराजों के पास नहीं हैं; इसलिए उन्हें दुःखी मान लिया है। अरहंत और सिद्धों के पास भी नहीं हैं; इसलिए उन्हें भी दुःखी मान लिया है।

आचार्य कहते हैं कि संसारी को स्वभाव से ही दुःख है। चक्रवर्ती और इन्द्रों का वैभव उनके दुःख की निशानी है, सुख की नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिनके इन्द्रियाँ जीवित हैं, ऐसे परोक्षज्ञानियों के दुःख स्वाभाविक ही है।

यहाँ आचार्य ने इन्द्रियज्ञानवाले को परोक्षज्ञानी एवं अतीन्द्रिय ज्ञानवाले को प्रत्यक्षज्ञानी कहा है।

‘इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं है’ - यदि हम सर्वथा ऐसा मानेंगे तो परोक्षज्ञान ज्ञान ही सिद्ध नहीं होगा। अरहंतों के अतीन्द्रियज्ञान है अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान है तथा संसारी के इन्द्रियज्ञान अर्थात् परोक्षज्ञान है - आचार्यदेव ने यहाँ ऐसा भेद किया है। मति-श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान है, चाहे वह सम्यग्दृष्टि के हो या मिथ्यादृष्टि के? यदि सम्यग्दृष्टि को परोक्षज्ञान है तो उसे इन्द्रियज्ञान नहीं है - ऐसा कैसे कहा जा सकता है?

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों परोक्षज्ञान हैं एवं अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष हैं। अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान मात्र पर को ही जानते हैं। अतः सम्यग्दृष्टियों को तथा मुनिराजों को आत्मा

का ज्ञान, सुख तथा अनुभव परोक्ष ही है। जबतक उन्हें केवलज्ञान प्रगट नहीं होता, तबतक वह परोक्ष ही रहता है।

पण्डित टोडरमलजी ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी में इसे विस्तार से स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है कि अनुभव में प्रत्यक्षपना संभव नहीं है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष और साव्यवहारिक प्रत्यक्ष तो वह हो ही नहीं सकता। अध्यात्म की अपेक्षा कहें तो उसे अनुभव प्रत्यक्ष कहा जा सकता है; परन्तु वास्तव में वह परोक्ष ही है।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी में लिखा है कि अनुभव प्रत्यक्ष में आत्मा उसप्रकार भी दिखाई नहीं देता है; जिसप्रकार आँखों से कोई चीज दिखती है। आँखों से इस रूमाल को देखने में जितनी स्पष्टता होती है, उतनी भी स्पष्टता आत्मा के अनुभव में नहीं होती। रूमाल के प्रदेश प्रत्यक्ष हो रहे हैं, इसके परमाणु दिख रहे हैं; अनुभव में तो आत्मा के प्रदेश भी नहीं दिखते।

६४वीं गाथा के भावार्थ में लिखा है कि ‘परोक्षज्ञानियों के स्वभाव से ही दुःख है; क्योंकि उनके विषयों में रति वर्तती है। कभी-कभी तो वे असह्य तृष्णा की दाह से मरने तक की परवाह न करके क्षणिक इन्द्रिय विषयों में कूद पड़ते हैं। यदि उन्हें स्वभाव से ही दुःख न हो तो विषयों में रति ही न होनी चाहिए।’

अग्रिम गाथा में आचार्य इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हैं -

पप्पा इट्टे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण ।

परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥६५॥

(हरिगीत)

इन्द्रियविषय को प्राप्त कर यह जीव स्वयं स्वभाव से ।

सुखरूप हो पर देह तो सुखरूप होती ही नहीं ॥६५॥

स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ जिनका आश्रय लेती है - ऐसे इष्ट विषयों को पाकर स्वभाव से परिणमन करता हुआ आत्मा स्वयं ही सुखरूप (इन्द्रियसुखरूप) होता है, देह सुखरूप नहीं होती।

इस गाथा की टीका में इस संदर्भ में लिखते हैं कि 'वास्तव में इस आत्मा के लिए सशरीर अवस्था में भी शरीर सुख का साधन हो - ऐसा हमें दिखाई नहीं देता।'

सम्यग्दृष्टि के जो लौकिक सुख-दुःख हैं, वे भी शरीर के कारण नहीं हैं। यदि सम्यग्दृष्टि सुखी है तो वह शरीर के कारण नहीं है, वह आत्मा के अनुभव के कारण ही सुखी है।

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा ।

विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥६६॥

(हरिगीत)

स्वर्ग में भी नियम से यह देह देही जीव को।

सुख नहीं दे यह जीव ही बस स्वयं सुख-दुखरूप हो ॥६६॥

एकांत से तो स्वर्ग में भी शरीर शरीरी (जीव) को सुख नहीं देता; परन्तु विषयों के वश से सुख अथवा दुःखरूप स्वयं आत्मा होता है।

पूर्व की गाथा में आचार्य ने अतीन्द्रियसुख के बारे में कहा था और इस गाथा में वे इन्द्रियसुख की चर्चा कर रहे हैं। कहने का आशय यह है कि जो भी हमारे आत्मा में विद्यमान हैं; चाहे वह अतीन्द्रिय आनन्द हो या लौकिक सुख-दुःख हों; उन सबका कारण आत्मा में ही विद्यमान है, देह में नहीं।

अंत में आचार्य सुखाधिकार की इन दो गाथाओं के माध्यम से सोदाहरण समझाते हैं कि सुख और दुःख दोनों स्वाभाविक ही हैं।

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं ।

तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥६७॥

(हरिगीत)

तिमिरहर हो दृष्टि जिसकी उसे दीपक क्या करें।

जब जिय स्वयं सुखरूप हो इन्द्रिय विषय तब क्या करें ॥६७॥

यदि प्राणी की दृष्टि तिमिरनाशक हो तो दीपक से कोई प्रयोजन नहीं

है अर्थात् दीपक कुछ नहीं कर सकता; उसीप्रकार जहाँ आत्मा स्वयं सुखरूप परिणामन करता है; वहाँ विषय क्या कर सकते हैं ?

चमगादड़, उल्लू और बिल्ली की आँखों में इतनी ताकत होती है कि अँधेरे में भी सब दिखाई देता है; क्योंकि उनकी दृष्टि तिमिरहरा होती है। हमें देखने के लिए उजाले की जरूरत है; परन्तु उन्हें उजाले की जरूरत नहीं पड़ती है।

ऐसे ही जिनके स्वाभाविक सुख है; उनको सुख के लिए पाँच-इन्द्रियों के विषयों की जरूरत नहीं है। कहने का आशय यही है कि इस जीव के सुख-दुःख का जिम्मेदार वही है और कोई दूसरा नहीं।

इस संदर्भ में ६८वीं गाथा में दिया गया दूसरा उदाहरण इसप्रकार है-
सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।

सिद्धों वि तहा णाणं सुहं च लोके तहा देवो ॥६८॥

(हरिगीत)

जिसतरह आकाश में रवि उष्ण तेजरु देव है।

बस उसतरह ही सिद्धगण सब ज्ञान सुखरु देव हैं ॥६८॥

आकाश में सूर्य अपने आप ही तेज, उष्ण और देव हैं; उसीप्रकार लोक में सिद्ध भगवान भी (स्वयमेव) ज्ञान, सुख और देव हैं।

सूर्य में तेज, गर्मी व प्रकाश - ये तीन गुण स्वभाव से ही हैं। सूर्य को देवता कहा जाता है; इस विवक्षा से उसमें देवत्व, उष्णत्व व तेजत्व ये स्वभाव से ही है, किसी दूसरे की वजह से नहीं है। वह अपने आप ही गर्म है, प्रकाशमय है; किसी दूसरे के कारण वह गर्म व प्रकाशमय नहीं है।

ऐसे ही सिद्ध भगवान अपने ज्ञान, सुख व देवत्व में स्वयं ही कारण हैं, उन्हें किसी दूसरे की जरूरत नहीं है।

इसप्रकार आचार्य यहाँ सुखाधिकार समाप्त करते हैं।

अब आचार्य शुभपरिणामाधिकार प्रारम्भ करते हैं।

शुभपरिणाम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं -

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु ।
 उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥६९॥
 जुत्तो सुहेण आदा तिरिओ वा माणुसो व देवो वा ।
 भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इन्द्रियं विविहं ॥७०॥
 सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे ।
 ते देहवेदणट्ठा रमंति विएसु रम्मेसु ॥७१॥
 (हरिगीत)

देव-गुरु-यति अर्चना अर दान उपवासादि में ।
 अर शील में जो लीन शुभ उपयोगमय वह आत्मा ॥६९॥
 अरे शुभ उपयोग से जो युक्त वह तिर्यग्गति ।
 अर देव मानुष गति में रह प्राप्त करता विषयसुख ॥७०॥
 उपदेश से है सिद्ध देवों के नहीं है स्वभावसुख ।
 तनवेदना से दुखी वे रमणीक विषयों में रमे ॥७१॥

देव, गुरु और यति की पूजा में, दान में, सुशीलों में और उपवासादिक में लीन आत्मा शुभोपयोगात्मक है ।

शुभोपयोगयुक्त आत्मा, तिर्यच, मनुष्य अथवा देव होकर, उतने समय तक विविध इन्द्रियसुख प्राप्त करता है ।

जिनदेव के उपदेश से यह सिद्ध है कि देवों के भी स्वभावसिद्ध सुख नहीं है; वे (पंचेन्द्रियमय) देह की वेदना से पीड़ित होने से रम्य विषयों में रमते हैं ।

शुभोपयोग में लीन तिर्यच, मनुष्य और देव सभी शुभोपयोग के फल में इन्द्रियसुखों की प्राप्ति करते हैं ।

पूर्व में आचार्यदेव ने शुद्धोपयोगाधिकार में कहा था कि शुद्धोपयोगी मुनि निर्वाणसुख को प्राप्त करते हैं और अन्य शुभोपयोगी मुनि स्वर्गसुख को प्राप्त करते हैं । यह भी कहा था कि स्वर्गसुख घी में उबलते हुए

प्राणियों के दुःख के समान ही है ।

यहाँ नरक को छोड़कर शेष तीन गतियाँ ली हैं; क्योंकि नरक शुभपरिणाम का फल नहीं है; किन्तु तिर्यच आयु को शुभ माना गया है ।

तिर्यच में भी कोई मरना नहीं चाहता है, यदि उसे मारने के लिए दौड़ते हैं तो वह जान बचाने के लिए भागता है । इससे आशय यह है कि वह उसे अच्छा मान रहा है; अतः वह शुभ है, शुभ का फल है; इसप्रकार शुभ के फल में तीन गतियाँ ली हैं; नरकगति नहीं ली है । वह इन तीन गतियों में उतने समय तक विविध इन्द्रियसुख प्राप्त करता है । तिर्यच भी शुभोपयोग के फल में सुख प्राप्त करता है । तिर्यच भोग-भूमियाँ होते हैं; पर नारकी भोगभूमियाँ नहीं होते ।

अमेरिका के कुत्ते और बिल्लियों को रहने के लिए एयर कंडीशन घर एवं घूमने के लिए कारें मिलती हैं । उनके भी ऐसे पुण्य का उदय है; परन्तु ऐसे पुण्य का उदय नारकी के नहीं है; इसलिए उन्होंने तिर्यच को तो शुभोपयोग के फल में लिखा, पर नारकी को नहीं ।

पंचेन्द्रियों के विषयों का जो सुख है, वह शुद्धोपयोग का फल नहीं है और वह वास्तव में सुख ही नहीं है -

णरणारयतिरियसुरा भजन्ति जदि देहसंभवं दुक्खं ।

किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥७२॥

(हरिगीत)

नर-नारकी तिर्यच सुर यदि देहसंभव दुःख को ।

अनुभव करें तो फिर कहो उपयोग कैसे शुभ-अशुभ ? ॥७२॥

मनुष्य, नारकी, तिर्यच और देव (सभी) यदि देहोत्पन्न दुःख को अनुभव करते हैं, तो जीवों का वह (शुद्धोपयोग से विलक्षण अशुद्ध) उपयोग शुभ और अशुभ - दो प्रकार का कैसे हो सकता है ?

पंचेन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति पुण्य के उदय से होती है और उनमें जीव दौड़-दौड़कर रमता है । वह रमणता पाप है; इसप्रकार उनमें पाप और पुण्य का भेद करने से कुछ लाभ नहीं है । शुभोपयोग

हो या अशुभोपयोग हो – दोनों के फल सच्चे सुखरूप तो हैं ही नहीं।

आचार्य यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं कि एक का नाम सुख है और एक का नाम दुःख है; पर हैं तो दोनों दुःख ही – ऐसी स्थिति में शुभोपयोग और अशुभोपयोग – ऐसे भेद करने से क्या लाभ ?

पुण्य के उदय से अनुकूल भोगसामग्री प्राप्त होती है और पाप से उदय से प्रतिकूल भोगसामग्री प्राप्त होती है।

परन्तु हम कहते हैं कि पुण्य के उदय से शादी हुई और पाप के उदय से शादी नहीं हुई। अरे भाई ! ऐसा कहने पर तो सभी ब्रह्मचारी पापी हो जाएँगे। यहाँ ऐसा कहना चाहिए कि पुण्य के उदय से अनुकूल पत्नी का संयोग होता है और पाप के उदय से प्रतिकूल पत्नी का संयोग होता है।

इसीप्रकार यदि ऐसा कहेंगे कि पुण्य के उदय से रोटियाँ मिलीं और पाप के उदय से रोटियाँ नहीं मिली तो सभी उपवास वाले पापी हो जाएँगे। यहाँ ऐसा कहना चाहिए कि पुण्य के उदय से अनुकूल भोज्य सामग्री मिली और पाप के उदय से प्रतिकूल भोज्यसामग्री मिली, पेट में जाते ही दर्द शुरू हो गया, न खाने में मजा आया और न पीने में।

पुण्य-पाप दोनों ही संयोग है; लेकिन पाप के उदय को हमने वियोग में घटित किया। पुण्य एवं पाप का उदय न हो तो न अच्छा संयोग मिले न बुरा।

यदि दोनों का उदय न हो तो ज्ञानभानु का उदय होता है –

‘पुण्य पाप सब नाश कर ज्ञान भान परकाश।’

पुण्य और पाप – दोनों ही से भोग सामग्री मिल रही है, चाहे वह अच्छी मिले, चाहे बुरी; अनुकूल पत्नी मिले अथवा प्रतिकूल पत्नी मिले; आखिर तो सब भोगसामग्री ही है। उनसे यदि भोगसामग्री मिलती है तो उसमें शुभ और अशुभ – ऐसे दो भेद करने से क्या लाभ है ?

आगे आचार्य कहेंगे कि जिन्हें पुण्य व पाप में अंतर दिखाई देता है; दोनों एक हैं – ऐसा दिखाई नहीं देता; वे सभी अज्ञानी हैं और वे अपार

संसार में भ्रमण करेंगे।

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।

हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥७७॥

(हरिगीत)

पुण्य पाप में अन्तर नहीं है जो न माने बात ये।

संसारसागर में भ्रमे मदमोह से आच्छन्न वे ॥७७॥

७२वीं गाथा के भावार्थ में और अधिक स्पष्ट किया है –

‘शुभोपयोगजन्य पुण्य के फलरूप में देवादिक की सम्पदायें मिलती हैं और अशुभोपयोगजन्य पाप के फलरूप में नरकादिक की आपदायें मिलती हैं; किन्तु वे देवादिक तथा नरकादिक दोनों परमार्थ से दुःखी ही हैं।

इसप्रकार दोनों का फल समान होने से शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों परमार्थ से समान ही हैं अर्थात् उपयोग में अशुद्धोपयोग में – शुभ और अशुभ नामक भेद परमार्थ से घटित नहीं होते।’

एक ने डरा धमकाकर लूटा और एक ने चाय-पानी पिलाकर लूटा, प्रेम से लूटा। लुटेरों में ऐसे दो भेद करने से आप क्या सिद्ध करना चाहते हैं ? जिसप्रकार लुटेरों में अच्छे-बुरे का भेद करने से कोई लाभ नहीं है; उसीप्रकार अशुद्धोपयोग में पाप व पुण्य ऐसे दो भेद करने से हमें क्या उपलब्ध होगा ?

शुभपरिणामाधिकार से कई व्यक्ति ऐसा ही समझते हैं कि इसमें आचार्यदेव ने ‘देवपूजा करना चाहिए’ – ऐसा लिखा होगा; पर आचार्यदेव ने तो ‘शुभभाव भी करनेयोग्य नहीं अथवा शुभभाव को धर्म नहीं मानना’ – यह समझाने के लिए शुभपरिणामाधिकार लिखा है।

शुभभाव करने के लिए शुभपरिणामाधिकार नहीं लिखा है।

इस गाथा के माध्यम से आचार्य इसे स्पष्ट करते हैं –

कुलिसाउहचक्कधरा, सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।

देहादीणं विद्धिं, करंति सुहिदा इवामिरदा।।७३।।

(हरिगीत)

वज्रधर अर चक्रधर सब पुण्यफल को भोगते।

देहादि की वृद्धि करें पर सुखी हों ऐसे लगे।।७३।।

वज्रधर और चक्रधर शुभापयोगमूलक (पुण्यों के फलरूप) भोगों के द्वारा देहादिकी पुष्टि करते हैं और इसप्रकार भोगों में रत वर्तते हुए सुखी जैसे भासित होते हैं। (इसलिये पुण्य विद्यमान हैं)

इस ७३वीं गाथा की टीका बहुत मार्मिक है -

“शक्रेन्द्र और चक्रवर्ती अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगों के द्वारा शरीरादि को पुष्ट करते हुए - जैसे गोंच (जोंक) दूषित रक्त में अत्यन्त आसक्त वर्तती हुई सुखी जैसी भासित होती है; उसीप्रकार उन भोगों में अत्यन्त आसक्त वर्तते हुए ये शक्रेन्द्र और चक्रवर्ती सुखी जैसे भासित होते हैं, इसलिये शुभोपयोगजन्य फलवाले पुण्य दिखाई देते हैं (अर्थात् शुभोपयोगजन्य फलवाले पुण्यों का अस्तित्व दिखाई देता है।)”

मूल गाथा को पढ़ने से हमें ऐसा लगता है कि चक्रवर्ती तथा इन्द्रों को पुण्य के उदय से बहुत सुख प्राप्त होता है - ऐसा आचार्य कह रहे हैं।

परन्तु आचार्य तो यह कह रहे हैं कि जिसप्रकार जोंक गंदे खून को पीकर खुश होती है और सुख अनुभव करती है; उसीप्रकार ये इन्द्र और चक्रवर्ती पाँच इन्द्रियों के विषयों का सेवन करते हुए अपने को सुखी अनुभव करते हैं, सुखी मानते हैं एवं इसमें वे अनुकूलता का वेदन करते हैं। गोंच और गंदे खून का उदाहरण देकर अमृतचन्द्राचार्य ने लौकिक सुख-सुविधाओं का हेयत्व सिद्ध किया है।

अगली गाथा में भी इसे ही विस्तार दिया गया है तथा इसकी टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने फिर गोंच का उदाहरण देकर उस विषय को स्पष्ट किया है।

ते पुण उदिणतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि ।

इच्छंति अणुभवन्ति य आमरणं दुक्खसंतत्ता।।७५।।

(हरिगीत)

अरे जिनकी उदित तृष्णा दुःख से संतप्त वे।

हैं दुखी फिर भी आमरण वे विषयसुख ही चाहते।।७५।।

जिनकी तृष्णा उदित है ऐसे वे जीव तृष्णाओं के द्वारा दुःखी होते हुए मरणपर्यंत विषयसुखों को चाहते हैं और दुःखों से संतप्त होते हुए उन्हें भोगते हैं।

इसे ही टीका में उदाहरण के माध्यम से विस्तार से स्पष्ट किया है -

“जिनके तृष्णा उदित है - ऐसे देवपर्यंत समस्त संसारी, तृष्णा दुःख का बीज होने से पुण्यजनित तृष्णाओं के द्वारा भी अत्यन्त दुःखी होते हुये मृगतृष्णा में से जल की भाँति विषयों में से सुख चाहते हैं और उस दुःख संताप के वेग को सहन न कर सकने से विषयों को तबतक भोगते रहते हैं, जबतक कि विनाश को प्राप्त नहीं हो जाते।”

तात्पर्य यह है कि अंतिम समय तक उसको भोगने की कोशिश करते रहते हैं।

जिसप्रकार जोंक गंदे खून को पीने के लिए चिपट जाती है, यदि उसे छुड़ाने की कोशिश करो तो भी वह मरने तक छूटती नहीं है। संसी (संडासी) से पकड़कर उसे खींचना चाहो तो भी हम उसे जिन्दा नहीं निकाल सकते। जब वह पूरा खून पी लेगी और उसका पेट भर जाएगा; तभी वह उसे छोड़ेगी, हम उसे बीच में से नहीं हटा सकते। मरणपर्यन्त से आशय मरते दमतक नहीं है; अपितु मौत की कीमत पर - ऐसा है। स्वयं का मरण न भी हो तो भोग के भाव का तो मरण होता ही है।

जैसे खाना खा रहे हो और पेट भर जाये, फिर भी लड्डू खाना नहीं छोड़ते। मरणपर्यन्त से तात्पर्य यह है। जीवन के अंतिम समय तक पंचेन्द्रिय के विषयों को भोगना चाहते हैं; लेकिन रोजाना मरणपर्यन्त अर्थात् जबतक वह भाव जीवित है, पेट नहीं भर गया है, अब और

अंदर जाता नहीं; तबतक यह खाता रहता है।

एक ऐसे व्यक्ति को मैंने देखा है जो बाजार में चाट वगैरह खाता था। जब उसका पेट भर जाता तो वह मुँह में ऊँगलियाँ डालकर वोमेटिंग (उल्टी) करता था और फिर चाट, कचौड़ी, पकौड़ी खा लेता था।

पचास बीमारियाँ है, डायबिटीज है; फिर भी इसे मिश्री-मावा चाहिए। यह कहता है कि - 'देख लूँगा, ज्यादा होगा तो दो इन्जेक्शन और लगवा लूँगा।' इसप्रकार प्राणी मरणपर्यन्त मृत्यु की कीमत पर भी इन विषयों को भोगते हैं। वास्तव में यह दुःख ही है, सुख नहीं है।

अब आचार्य जिसे यह जगत सुख मानता है, वह सुख कैसा है ? इसकी चर्चा करते हैं -

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।

जं इंदिएहिं लब्धं तं सोक्खं दुःखमेव तहा ॥७६॥

(हरिगीत)

इन्द्रियसुख सुख नहीं दुख है विषम बाधा सहित है ।

है बंध का कारण दुखद परतंत्र है विच्छिन्न है ॥७६॥

जो इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह सुख परसंबंधयुक्त, बाधा सहित, विच्छिन्न, बंध का कारण और विषम है; इसप्रकार वह दुःख ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस अधिकार में यह सिद्ध किया गया है कि पुण्य के उदय में प्राप्त होनेवाला विषयसुख सुख नहीं, वस्तुतः दुख

ही है। सुख सुख तो अतीन्द्रिय-आनंद ही है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है, यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा-अधर्म है।

अपने में से अपनापन खो जाना ही अनन्त दुःखों का कारण है और अपने में अपनापन हो जाना ही अनन्त सुख का कारण है। अनादिकाल से यह आत्मा अपने को भूलकर ही अनन्त दुःख उठा रहा है।

- आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-४६

सातवाँ प्रवचन

प्रवचनसार ग्रन्थाधिराज के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के शुभपरिणामाधिकार पर चर्चा चल रही है।

जब पुण्य के उदयवाले चक्रवर्ती और इन्द्रादि भी दुखी हैं तो फिर पुण्य और पाप में क्या अन्तर रह जाता है ? जो व्यक्ति पुण्य को पाप के समान ही हेय नहीं मानता; वह एकप्रकार से पुण्य के फल में ही आसक्त है।

इसके बाद ७९वीं गाथा की उत्थानिका में कहते हैं कि सर्वसावद्ययोग को छोड़कर चारित्र अंगीकार किया होने पर भी यदि मैं शुभोपयोग परिणति के वश होकर मोहादि का उन्मूलन न करूँ तो मुझे शुद्ध आत्मा की प्राप्त कहाँ से होगी ? इसप्रकार विचार करके मोहादि के उन्मूलन के प्रति सर्वारम्भ (सर्वउद्यम) पूर्वक कटिबद्ध होता है।

वस्तुतः बात यह है कि यह जीव तो जीवनभर शुभोपयोग के मोह में फँसा रहे और उसी में लगा रहे तो आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि ।

ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥७९॥

(हरिगीत)

सब छोड़ पापारंभ शुभचारित्र में उद्यत रहें।

पर नहीं छोड़े मोह तो शुद्धात्मा को ना लहें ॥७९॥

पापारम्भ को छोड़कर शुभ चारित्र में उद्यत होने पर भी यदि जीव मोहादि को नहीं छोड़ता तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता।

अमृतचन्द्राचार्य इस गाथा की टीका में बाह्यक्रियारूप चारित्र एवं शुभभाव की चर्चा अभिसारिका का उदाहरण देते हुए इसप्रकार करते हैं-

“जो जीव या जो मुनिराज समस्त सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप परमसामायिक नामक चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी धूर्त अभिसारिका

(नायिका – संकेत के अनुसार अपने प्रेमी से मिलने जानेवाली स्त्री) की भाँति शुभोपयोगपरिणति से अभिसार (मिलन) को प्राप्त होता हुआ अर्थात् शुभोपयोग परिणति के प्रेम में फंसता हुआ मोह की सेना के वशवर्तनपने को दूर नहीं कर डालता, जिसके महादुख संकट निकट है – ऐसा वह शुद्ध आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

इसलिए मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने के लिए कमर कसी है।”

यह बहुत मार्मिक टीका है। जब कोई व्यक्ति मुनिदीक्षा लेता है तो उसके समस्त सावद्य का त्याग होता है। उस समय उसके परिणामों को देखें तो पायेंगे कि उसके परिणाम आत्मा के कल्याण करने के ही थे, समाज के उद्धार करने के नहीं, हर गाँव के मन्दिर की वेदी ठीक हो, वेदी का मुख वास्तुशास्त्र के अनुसार हो – ऐसे नहीं थे। हर गाँव के पास टेकड़ी (पहाड़ी) पर तीर्थ बना दूँ। क्या मुनिव्रत लेते समय उनके मन में ऐसे संकल्प रहे होंगे ?

कुन्दकुन्दाचार्य ने तो स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ‘जब तेरे परिणाम शिथिल होने लगे तो उस दिन का विचार करना कि जिस दिन तुमने दीक्षा ली थी।

आचार्यदेव ने महत्त्वपूर्ण बात यह कही कि तूने दीक्षा लेते समय यह प्रतिज्ञा की थी कि ‘मैं परमसामायिकरूप शुद्धोपयोग चारित्र को अंगीकार करता हूँ।’

यहाँ इस विषय को समझाने के लिए आचार्यदेव ने धूर्त अभिसारिका का उदाहरण दिया है।

अभिसारिका वह प्रेमिका है जो रात्रि में ऐसे वस्त्र पहनती है कि दूर से कुछ पता ही नहीं चले। यदि अमावस की रात्रि है तो वह काले कपड़े पहनकर आती है और पूर्णिमा की रात है तो वह सफेद साड़ी पहनकर आती है। पुराने जमाने में राजाओं के यहाँ बहुत पहरे लगे रहते थे। तब

जो प्रेमिका उन पहरेदारों को धोखा देकर, घूस देकर जैसे-तैसे प्रेमी के पास पहुँच जाये; वह धूर्त अभिसारिका है।

आचार्यदेव यहाँ अभिसारिका का उदाहरण देकर यह समझा रहे हैं कि शुद्धोपयोग की प्रतिज्ञा लेकर शुभोपयोग में लग जाए तो समझना कि वे शुद्धोपयोगरूप सर्वांग सुन्दर रानी को छोड़कर शुभभावरूपी धूर्त अभिसारिका के चक्कर में पड़ गए हैं। इतने कठोर शब्दों का प्रयोग किया है आचार्यदेव ने।

देखो, आचार्यदेव ने शुभभाव की क्रिया को धूर्त अभिसारिका बताया है। अभिसारिका शब्द स्वयं अपवित्र है, उसके साथ धूर्त शब्द और लगा दिया है। यहाँ तो ‘धतूरा और नीम चढ़ा’ की कहावत चरितार्थ हो गई।

यहाँ कहा है कि जो शुभोपयोगरूप परिणति से अभिसार (मिलन) को प्राप्त हुआ है, वह महासंकट में है। निगोद के अतिरिक्त और कोई महासंकट नहीं है। तात्पर्य यह है कि वह अल्पकाल में ही निगोद वापिस चला जायेगा।

जातिस्मरण के आधार से अभी जो यह बता रहा है कि वह पूर्व में मनुष्य था या देव था; उससे हम पूछते हैं कि भूतकाल में तो अनादिकाल से हम सभी निगोद में ही थे, वहाँ से निकलकर इस गति में आए हैं – यह तो महासत्य है न ! मध्य में कोई एक पर्याय श्रेष्ठ आ गई तो भूतकाल तो बहुत लंबा है। सबसे अधिक भूतकाल तो अंधकारमय ही रहा है। इसी भूतकाल में किसी एक पर्याय में चमत्कार हो गया था तो उसी पर्याय में एकत्वबुद्धि करके महिमावंत होकर भविष्य को बिगाड़ रहा है।

आचार्यदेव तो यहाँ यह कह रहे हैं कि जो शुभोपयोग में लग रहे हैं – ऐसे मुनिराज भी महादुःखसंकट के निकट हैं। मान-प्रतिष्ठा का भाव न रखते हुए यदि गृहस्थ मन्दिर बनवा रहा है तो वह शुभभाव है। पर जिसने पाप का आरंभ त्याग दिया; उसके लिए तो यह पुण्य भी नहीं है;

क्योंकि मकान बनाना, सड़के बनाना – यह सब पापारम्भ है। यह गृहस्थ का कार्य है। साधु तो मात्र दूर से दर्शन कर सकता है।

साधु यदि इन सबकी प्रेरणा देते हैं तो वह कृत-कारित-अनुमोदना समान होने के कारण पाप ही की श्रेणी में आता है।

यहाँ तो उन मुनिराजों के सन्दर्भ में कहा गया है कि जिनका व्यवहारचारित्र पूर्णतः सम्यक् है एवं जो निर्दोष शुभचर्या में लगे हुए हैं; किन्तु मोह को नहीं छोड़ते हैं तो वे धूर्त अभिसारिका के चक्कर में फँस गए हैं। ऐसे लोग शुद्धात्मा को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

देखो ! यहाँ आचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि ऐसी भूमिका में रहनेवालों को तो सम्यग्दर्शन सम्भव भी नहीं है। तो चारित्र की क्या बात करें ?

अब आचार्य स्वयं के सन्दर्भ में कहते हैं कि – “**अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम्**। – इसलिए मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने को कमर कसी है।”

यहाँ आचार्य दर्शनमोह और चारित्रमोह – दोनों की चर्चा कर रहे हैं। आचार्यदेव ने यहाँ ‘मैंने कमर कसी है।’ यह शब्दप्रयोग किया है; अतः यह निश्चितरूप से चारित्रमोह की ही बात है; अतः इस उत्थानिका को ८० व ८१ दोनों गाथाओं की उत्थानिका समझना चाहिए।

‘मैंने मोह की सेना को जीतने के लिए कमर कसी है।’ – ऐसा कहकर अमृतचन्द्राचार्य यह नहीं बताना चाहते हैं कि मैं कुछ करने जा रहा हूँ और न ही वे अपनी महिमा बता रहे हैं। इस भाषा के माध्यम से वे यह कहना चाहते हैं कि ‘यदि तुम्हें आत्मा का कल्याण करना है तो मोह की सेना को जीतने के लिए कमर कस लो।’

जब कोई किसी सज्जन के पास यह पूछने जाता है कि ‘भाई साहब! ऐसी-ऐसी परिस्थिति है, ऐसी परिस्थिति में मुझे क्या करना चाहिए? आप मुझे सलाह दो।’

तब वह सज्जन ऐसा ही कहता है कि ‘भाईसाहब! मैं आपकी बात

तो क्या बताऊँ। लेकिन यदि मैं ऐसी परिस्थिति में फंसा होता तो मैं ऐसा करता और ऐसा नहीं करता। मैं तो ऐसी जगह एक सैकेण्ड भी खड़ा नहीं रह सकता, मैं तो उस आदमी के पास जाता ही नहीं, मैं तो उसकी शक्ल ही नहीं देखता। अब आपको जो जँचे सो करो। आप मेरी सलाह पूछते हैं तो उसके हिसाब से तो आपको इस बात में उलझना ही नहीं चाहिए। आपको इस बारे में सोचना ही बन्द कर देना चाहिए।’

इसीप्रकार आचार्यदेव कह रहे हैं कि मैंने तो मोह की सेना को जीतने के लिए कमर कसी है। तात्पर्य यह है कि आपको भी यही करना चाहिए।

कपड़े बेचनेवाले दुकानदार भी इसी प्रवृत्ति के होते हैं। हमें धोती का जोड़ा लेना है; अतः हम उससे पूछते हैं कि मैं आपसे पूछता हूँ कि मुझे इसमें से कौन-सी धोती लेनी चाहिए।

इस पर दुकानदार कहता है कि ‘भाई साहब ! मैंने तो यह पहन रखी है, मुझे तो यही धोती-जोड़ा अच्छा लगता है।’

इसप्रकार आचार्यदेव ने ‘**बद्धा कक्षेयम्**’ कहकर इसी भाषा का प्रयोग किया है। आचार्य कहते हैं कि भाई, क्रियाकाण्ड में, देह की क्रिया में ही मत उलझे रहो। शुभभाव हो रहे हैं सो ठीक हैं। भूमिका के अनुसार वे होना ही चाहिए। तुम शुभभाव करके बड़ी गलती कर रहे हो – ऐसा हम नहीं कह रहे हैं; परन्तु शुभभाव में सन्तुष्ट होना, इसी में धर्म मानना बड़ी गलती है।

इस पर यदि कोई कहे कि यदि आप ऐसा कहते हैं तो मैं पूजा करना छोड़ दूँगा तो हम कहते हैं कि छोड़ देना, उससे कोई आसमान टूटकर गिरनेवाला नहीं है – ऐसी धमकी क्यों देते हो? हम तो आपसे ऐसा नहीं कह रहे हैं कि आप पूजा करना छोड़ दो। भाई ! मैं तो उसे धर्म मानना छोड़ दो – ऐसा कह रहा हूँ।

यहाँ पूजा छोड़ने की बात नहीं है; क्योंकि जिस भूमिका में जैसा

होता है; उस भूमिका में वैसा ही होगा। इसीप्रकार हम दान देने का निषेध नहीं करते हैं। हम तो दान देने के बाद जो 'मैं चौड़ा और बाजार संकड़ा' ऐसी प्रवृत्ति होती है, उसका निषेध कर रहे हैं।

अब आचार्य यहाँ मोह की सेना को जीतने के लिए क्या उपाय करना चाहिए - इस सन्दर्भ में विचार करते हैं। यहाँ ८० वीं गाथा की भूमिका के अन्तर्गत मोहरूपी सेना को जीतने के उपाय का प्रकरण चल रहा है।

यहाँ आचार्य उस भूमिका की चर्चा कर रहे हैं, जिस भूमिका में चाहे मुनि हो, चाहे गृहस्थ हो; परन्तु उसे आत्मा का अनुभव नहीं है। आचार्य कह रहे हैं कि भूमिका के योग्य तुम्हारी सम्पूर्ण धार्मिक क्रियाएँ अच्छी हों; भाव भी भूमिकानुसार शुभ हो; पर उनसे कुछ भी सिद्ध होनेवाला नहीं है। तुमने बहुत उत्कृष्ट काम कर लिया है - इस धोखे में मत रहना।

यहाँ कोई क्रिया छोड़ने का प्रकरण नहीं है, यहाँ तो मोह की सेना को जीतने का उपाय बता रहे हैं।

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयेत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

(हरिगीत)

द्रव्य-गुण-पर्याय से जो जानते अरहंत को।

वे जानते निज आत्मा दृगमोह उनका नाश हो ॥८०॥

जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है; वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है।

अरहंत इस पद में देव-शास्त्र-गुरु तीनों समाहित होते हैं। अरहंत देव, उनकी दिव्यध्वनि शास्त्र और उसके प्रतिपादक भावलिङ्गी सन्त गुरु हैं। जिसे आत्मा का अनुभव नहीं है, उसे एकदम अंतर से आत्मा का अनुभव नहीं हो जायेगा। उसे अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय का निर्णय

करना होगा; वह निर्णय देशनालब्धि अथवा जिनवाणी के आधार से ही होगा। यह निर्णय दिव्यध्वनि से होगा अथवा गणधरों के द्वारा गूँथी हुई द्वादंशाग वाणी से होगा। इसप्रकार अरहंत इस पद में देव-शास्त्र-गुरु तीनों समाहित होते हैं। वास्तव में तो अरहंत भगवान ही परमगुरु हैं। शेष तो परम्परागुरु हैं।

जबतक आत्मा का अनुभव नहीं हुआ है, तबतक शुभभाव ही है। इसलिए आचार्य ने इस गाथा को शुभपरिणामाधिकार में समाहित किया है।

यहाँ आचार्यदेव ने अरहंत को 'द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने' की बात की है; जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि आचार्य यह विशेषण नहीं लगाते तो हम अरहंत को ३४ अतिशय और ८ प्रातिहार्यों से ही देखते।

इसप्रकार इसी में अटक जाते। इसप्रकार जीव भ्रमित न हो; इसलिए ही आचार्यदेव ने यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने की बात कही है।

द्रव्य-गुण-पर्याय से जाने अर्थात् अरहंत को वस्तुस्वरूप से जाने। अरहंत तो अवस्था का नाम है; फिर आचार्यदेव ने यहाँ 'द्रव्य-गुण-पर्याय से जानो' यह बात क्यों कही ?

आचार्यदेव चाहते हैं कि हम अरहंत पर्याय में विद्यमान सर्वज्ञता को जाने, वीतरागता को जाने; क्योंकि हमारा स्वभाव भी सर्वज्ञत्वशक्ति सम्पन्न हैं। ये मतिज्ञान हमारा स्वभाव नहीं है। हमारा पर्यायस्वभाव भी सर्वज्ञ जैसा ही है।

आचार्य यहाँ यह लिखते हैं कि जो अरहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानेगा; वह अपने आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानेगा।

आचार्य यहाँ यह कह रहे हैं कि अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानो अर्थात् उनके द्रव्य को पहिचानो; उनमें जो अनंत गुण हैं, उन्हें जानो और उनकी पर्यायों को भी जानो। जो आत्मा अरहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है, वही आत्मा अपने आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है और उसका ही मोह नाश को प्राप्त होता है।

इस विधि को अमृतचन्द्राचार्य ने टीका की इन दो पंक्तियों में और गंभीरता प्रदान की है - 'जो वास्तव में अरहंत को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है; क्योंकि दोनों में निश्चय से अंतर नहीं है।'

इन पंक्तियों पर मुमुक्षुओं में बहुत चर्चा चलती है।

अरहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने में दो दृष्टियाँ मुख्य हैं। प्रथम यदि हम पर्याय का विचार करें तो अरहंत पर्याय में सर्वज्ञता व वीतरागता मुख्य हैं। उनकी इस अवस्था को गहराई से जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। जब हम सर्वज्ञ व वीतरागी पर्याय को जानेंगे, तब हम यह जानेंगे कि सर्वज्ञता आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय है और वीतरागता चारित्रगुण की पर्याय है। इसप्रकार हमने गुण को जाना। फिर यह गुण आत्मा के हैं। इसप्रकार हमने द्रव्य को जाना।

आचार्य कहते हैं कि अरहंत की पर्याय में जैसी सर्वज्ञता व वीतरागता प्रगट हुई है; वैसा ही हमारा स्वभाव है। इसप्रकार आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव व वीतरागस्वभाव को जानने के लिए अरहंत का सर्वज्ञस्वभाव व वीतरागस्वभाव जानना जरूरी है।

यहाँ कोई पूछता है कि क्या मेरे आत्मा में से भी सर्वज्ञता व वीतरागता की पर्याय प्रगट होगी? तब आचार्य कहते हैं कि भगवान ने उसके प्रगट होने की गारंटी दी है। लेकिन उसके प्रगट होने की एक व्यवस्थित विधि है; उस विधि से ही तेरा लक्ष्य सम्पन्न होगा। वह स्वभाव में है, इसलिए प्रगट होगी। वह विधि आत्मा के आश्रय की है; उसके आश्रय से ही तुझे सर्वज्ञता व वीतरागता मिलेगी।

जब इस जीव को यह निर्णय हो जाता है कि मैं वर्तमान में भी वीतराग व सर्वज्ञस्वभावी हूँ; तब वर्तमान की पर्याय में जो राग व अज्ञान है; उसकी उपेक्षा करके वीतरागस्वभावी व सर्वज्ञस्वभावी अपने आत्मा में अपनापन हो जाता है।

इसप्रकार आचार्य ने वीतराग व सर्वज्ञ स्वभाव प्रगट होने का उपाय बताया अर्थात् उपर्युक्त विधि बताई।

दूसरा बिन्दु यह है कि अरहंत और अपने आत्मा की समानता को जानो। द्रव्य और गुणों से तो यह आत्मा अरहंत के समान है ही; पर्याय में भी समानता है; क्योंकि कालान्तर में हमें भी तो ऐसी ही पर्याय प्रगट होगी।

आगे टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने द्रव्य, गुण, पर्याय को परिभाषित किया है कि अन्वय द्रव्य है, अन्वय के विशेषण गुण हैं और अन्वय के व्यतिरेक (भेद) पर्याय हैं।

इस कठिन विषय को भावार्थ में और अधिक सरलभाषा में स्पष्ट किया है - "इसप्रकार अपना आत्मा भी द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से मन के द्वारा ज्ञान में आता है। इसप्रकार त्रैकालिक निज आत्मा को मन के द्वारा ज्ञान में लेकर - जैसे मोतियों को और सफेदी को हार में ही अन्तर्गत करके मात्र हार ही जाना जाता है; उसीप्रकार आत्मपर्यायों को और चैतन्यगुण को आत्मा में ही अन्तर्गर्भित करके केवल आत्मा को जानने पर परिणामी-परिणाम-परिणति के भेद का विकल्प नष्ट होता जाता है; इसलिए जीव निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होता है और उससे दर्शनमोह निरास्रव होता हुआ नष्ट हो जाता है। यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने का उपाय प्राप्त कर लिया है - ऐसा कहा है।"

आचार्य यहाँ कह रहे हैं कि मोती और डोरा मत देखो, हार को देखो; तभी वास्तविक आनंद आएगा। सभी यही कहते हैं कि मैंने नौलखा हार पहना है, ऐसा कोई नहीं कहता कि मैंने मोती पहने हैं।

डोरा व मोती निकाल दो और मात्र हार रखो - ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं है। डोरा व मोती इसके विकल्प में नहीं हैं, ज्ञान में नहीं हैं; ज्ञान में मात्र हार है। बस बात इतनी ही है।

जिसप्रकार डोरा व मोती निकाल दो और मात्र हार रखो - ऐसी भाषा का प्रयोग कभी नहीं होता; उसीप्रकार गुण निकालो, पर्याय निकालो और मात्र द्रव्य को रखो - ऐसी दृष्टि द्रव्यदृष्टि नहीं है।

यहाँ, आचार्यदेव ने परिणाम, परिणामी और परिणति की चर्चा की है। इसमें कहा है कि परिणाम के भेद का विकल्प नष्ट होता जाता है अर्थात् भेद का विकल्प नष्ट होता है, भेद नहीं।

प्रत्येक आत्मा में अनंत गुण हैं और प्रतिसमय एक गुण की एक पर्याय होती है - हममें और अरहंत भगवान में पर्याय संबंधी यह समानता है।

जैसे - चाहे चपरासी हो, चाहे जिलाधिकारी हो - दोनों ही सरकारी नौकर हैं; जो उनमें भेद है, उसे मुख्य नहीं करना है।

ऐसे ही अरहंत और हमारा आत्मा परिणमनशील है; इसप्रकार दोनों में परिणमनशीलता समान है - इसप्रकार दोनों की पर्याय में समानता है। पर्याय का जो भेद है; वह व्यक्तिगत स्तर पर है; उसे यहाँ नहीं देखना है।

हम जैनी और तुम जैनी - इसप्रकार दोनों की एक ही जाति है। प्रवचन सुनने के लिए जो श्रोता आए हैं; उनमें कोई चपरासी भी हो सकता है और मन्त्री भी हो सकता है; पर जैन तो दोनों ही हैं। दोनों को यदि प्रवचन सुनना हो तो सबके साथ नीचे ही बैठना होगा।

एक बार आदर्शनगर में एक निवृत्त (रिटायर्ड) कलेक्टर साहब मेरा प्रवचन सुनने आए थे। वे प्रवचन के मध्य में बहस करने लग गए तो मैंने उन्हें रोक दिया। तो उन्होंने कहा 'जानते हो - मैं कौन हूँ ? आखिर आप मुझे समझते क्या हैं ?' मैंने कहा 'आप एक श्रोता हो। मैं तो बस यही जानता हूँ।' उन्होंने झट से कहा कि 'मैं कलेक्टर हूँ।' मैंने कहा 'आप कलेक्टर होंगे; लेकिन इस समय मेरे लिए तो आप श्रोता ही हैं।'।

इन्दिरा गांधी प्रधानमंत्री थीं; लेकिन वे भी अपने पति फिरोज गांधी के लिए तो पत्नी ही थीं। किसी का पति प्रधानमंत्री हो; लेकिन उसकी पत्नी के लिए तो वह पति ही है।

जब इसप्रकार परिणाम, परिणामी व परिणति के भेद का विकल्प नष्ट हो जाता है; तब यह जीव निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होता जाता है। उससे इसका दर्शनमोह निराश्रय होता हुआ नष्ट होता जाता है।

इसके पश्चात् आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने का उपाय प्राप्त कर लिया है।

अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानो तो अपने आत्मा का जानना होगा और स्वयमेव ही मोह का नाश होगा।

अब ८१ वीं गाथा की उत्थानिका में लिखते हैं कि -

“अथैवं प्राप्तचिन्तामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति। -

अब, इसप्रकार मैंने चिन्तामणि रत्न प्राप्त कर लिया है; तथापि प्रमाद चोर विद्यमान है - ऐसा विचार कर जागृत रहता है।”

मोक्ष के उपायरूप चिन्तामणिरत्न मिल गया है; लेकिन प्रमादरूप चोर चारों तरफ घूम रहे हैं; इसलिए मुझे जागना चाहिए।

पण्डित भूधरदासजी ने इसे पद्यरूप में इसप्रकार स्पष्ट किया है -

मोहनींद के जोर, जगवासी घूमें सदा।

कर्मचोर चहूँ ओर, सरवस लूटैं सुध नहीं।।

पण्डित भूधरदासजी ने कर्मों को चोर बताया है और यहाँ आचार्यदेव प्रमाद को चोर कह रहे हैं।

आचार्य ने पहले यह कहा था कि 'उठो, जागो!' अब आचार्य 'जागते रहो।' ऐसा कह रहे हैं। वे कह रहे हैं कि जो तुमने प्राप्त कर लिया है, वह अनंतकाल तक टिकेगा नहीं; क्योंकि अभी इसे क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है; इसलिए हे जीव ! जागते रहो।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जीवो ववगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।

जहदि जदि रागदोसे, सो अप्पाणं लहदि सुद्धं।।८१।।

(हरिगीत)

जो जीव व्यपगत मोह हो - निज आत्म

उ प ल ि ष्ठ क र े ।

वे छोड़ दें यदि राग रुष शुद्धात्म उपलब्धि करें ॥८१॥

जिसने मोह को दूर किया है और आत्मा के सम्यक् तत्त्व को प्राप्त किया है - ऐसा जीव यदि राग-द्वेष को छोड़ता है तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।

जिस जीव ने आत्मा का अनुभव कर लिया है, दर्शनमोह का नाश कर दिया है - ऐसा जीव यदि राग-द्वेष को छोड़ देवे तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।

यही विषय टीका में अत्यन्त सरलभाषा में स्पष्ट किया है -

“इसप्रकार जिस उपाय का वर्णन किया है, उस उपाय के द्वारा मोह को दूर करके भी, सम्यक् आत्मतत्त्व को प्राप्त करके भी यदि जीव राग-द्वेष को निर्मूल करता है, तो शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। (किन्तु) यदि पुनः-पुनः उसका अनुसरण करता है, राग-द्वेषरूप परिणमन करता है, तो प्रमाद के अधीन होने से अनुभवरूप चिंतामणिरत्न के चुराये जाने से अन्तरंग में खेद को प्राप्त होता है। इसलिए मुझे राग-द्वेष को दूर करने के लिए अत्यन्त जागृत रहना चाहिए।”

आचार्यदेव यहाँ आत्मोपलब्धि के लिए एक महत्त्वपूर्ण संदेश देते हैं कि यदि इस जीव ने आत्मा में पुरुषार्थ कायम नहीं रखा तो यह औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन एक सुनिश्चितकाल में छूट जाएगा। इसलिए इस सम्यग्दर्शन को कायम रखने के लिए भी जागना जरूरी है और आगे बढ़ने के लिए अर्थात् चारित्रमोह को नष्ट करने के लिए भी जागना जरूरी है, जागते रहना जरूरी है।

पर-पदार्थों में उलझे रहना ही सोना है और अपने आत्मा में जमना-रमना, अपने आत्मा के ध्यान में ही मग्न रहना जागना है। ●

आठवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के शुभपरिणाम अधिकार पर चर्चा चल रही है। इसमें ८०-८१वीं गाथा तक चर्चा हो चुकी है। अब आचार्य ८२वीं गाथा में घोषणा करते हैं कि -

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।

किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥८२॥

(हरिगीत)

सर्व ही अरहंत ने विधि नष्ट कीने जिस विधी ।

सबको बताई वही विधि हो नमन उनको सब विधी ॥८२॥

सभी अरहन्त भगवान उसी विधि से कर्माशों का क्षय करके तथा उसीप्रकार से उपदेश करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, उन्हें नमस्कार हो।

अचानक नमस्काररूप गाथा यहाँ कैसे आई ? इसका उत्तर आचार्यदेव ने इस गाथा की उत्थानिका में दिया है। ‘अब, भगवन्तों के द्वारा स्वयं अनुभव करके प्रगट किया हुआ यही एक निःश्रेयस का पारमार्थिक-पन्थ है - इसप्रकार मति को व्यवस्थित करते हैं।’

अतः आचार्यदेव कहते हैं कि अब अधिक शोध-खोज के चक्कर में पड़ने की जरूरत नहीं है। इतना बताने के बाद भी यह जीव ऐसा विचार करता है कि क्या यह सत्य है, क्या यह जरूरी है ? इसप्रकार भ्रमित होता है तो वह अभी समझा ही नहीं है।

आजतक जिन्होंने कर्मों का नाश किया है, जो वर्तमान में कर रहे हैं और भविष्य में भी जो कर्मों का नाश करेंगे; उनके लिए यही एक रास्ता है।

तीनों काल यही एक उपाय है, था और रहेगा। इसलिए आचार्यदेव यहाँ मति को व्यवस्थित करते हैं अर्थात् इसके पश्चात् भी आगे और कोई रास्ता निकल आएगा - इसप्रकार दिमाग को घुमाने की जरूरत नहीं है। इसे टीका में आचार्य ने उदाहरण देकर विशेष स्पष्ट किया है -

“अतीतकाल में क्रमशः हुए समस्त तीर्थंकर भगवान प्रकारान्तर का असंभव होने से, जिसमें द्वैत संभव नहीं है; ऐसे इसी एकप्रकार से कर्माशों का क्षय करके स्वयं अनुभव करके परमाप्तता के कारण भविष्यकाल में अथवा इस वर्तमान काल में अन्य मुमुक्षुओं को भी इसीप्रकार उपदेश देकर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; इसलिए निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नहीं है – ऐसा निश्चित होता है अथवा अधिक प्रलाप से बस होओ ! मेरी मति व्यवस्थित हो गई है। भगवन्तों को नमस्कार हो।”

इसलिए आचार्य ऐसा उपदेश देते हैं कि अब मति को व्यवस्थित करो, अधिक प्रलाप से क्या लाभ है ?

आचार्यदेव कह रहे हैं कि अब ये जो खोज की चंचलवृत्ति है, उससे विराम लो।

जैसे – कोई लड़का शादी करना चाहता है। तब वह पच्चीसों जगह अपने योग्य लड़कियाँ देखता है। जब उसका दिमाग एक जगह स्थिर हो जाता है, उसकी सगाई हो जाती है; तब भी यदि कोई कहता है कि अभी और दो-चार जगह देख लो, तो उसका क्या आशय हो सकता है? यह बात समाज में भी बर्दाश्त के काबिल नहीं होती। लड़की के घरवालों को यह पता चल जाए कि अभी भी इसने लड़की देखना जारी रखा है तो वे भी इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकते हैं। सगाई होने के पश्चात् लड़कियों को देखने में विराम लगना ही चाहिए।

यदि वह समाज में जाए और कहे कि मेरी सगाई हो गई है, फिर भी चार जगह लड़कियाँ देखने गए। सगाई हो गई फिर भी आपने ऐसा क्यों किया ? यदि उससे ऐसा पूछते हैं और वह कहता है कि लड़की तो आपकी जैसी सुन्दर हिन्दुस्तान में कहीं नहीं है। इसलिए कहीं अन्यत्र रिश्ता होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसलिए अन्यत्र देखने से आपको क्या फर्क पड़ता है ?

भाईसाहब! यहाँ लड़की सुंदर है या नहीं है और दूसरी जगह उसका

रिश्ता होगा कि नहीं होगा ? यह बात नहीं है। तुम्हारे मन में जो कचास है, बेईमानी है; वह यहाँ प्रगट हो गई है।

क्या लड़की के बाप को इतना धैर्य हो सकता है ? होना भी नहीं चाहिए।

ऐसे ही यद्यपि इस जीव को मुक्ति का मार्ग ख्याल में आया है; फिर भी भटकने की वृत्ति अभी है। इससे यही तात्पर्य है कि इसका मर्म इसे ख्याल में नहीं आया है। इसकी गहराई इस जीव को ख्याल में नहीं आई है।

ऐसे ही यदि तुम कहो कि तुम्हारा मोक्षमार्ग यदि सच्चा है तो और दस जगह देख लेने दो। इससे क्या फर्क पड़ता है; लौटकर तो यहाँ ही आना है। आचार्य कहते हैं कि हमें तो कोई फर्क नहीं पड़ता, पर तेरी अनास्था तो प्रगट हो ही गई।

गुरुदेव ऐसे व्यक्ति के लिए ऐसा फरमाते हैं कि – अभी भी यह मर रहा है। इसे आचार्य कुन्दकुन्ददेव का समयसार प्राप्त है एवं अमृतचन्द्र आचार्य की आत्मख्याति मिल गई है। इसे सब मर्म ख्याल में आ गया है। इसे पूरा पक्का-दृढ़ विश्वास है कि गुरुदेव जो कहते हैं, वह सच्ची बात है। फिर भी इसका यह विकल्प बना रहता है कि अन्यत्र भी कहीं देख लूँ, कहीं नई बात मिल जाएगी। भाई ! कहीं भी जाओगे इससे पृथक् कोई सत्य मिलेगा ही नहीं, अंत में यहीं आना पड़ेगा।

आचार्य यहाँ कह रहे हैं कि इसके भटकाव से यही स्पष्ट होता है कि इसके अंतर में अभी कचास है, विकल्प शेष हैं। इस जीव के जो भटकने की वृत्ति है, इसकी एकनिष्ठता में जो शंका उपस्थित हुई है, उससे आचार्यदेव परिचित हैं; इसलिए कहते हैं कि अधिक प्रलाप से क्या फायदा ?

यह कहता है कि मजा नहीं आया, थोड़ा और समझाओ। इसे ही ध्यान में रखकर आचार्य कहते हैं कि अधिक प्रलाप से क्या फायदा ?

इस कथन का आशय मात्र इतना ही है कि समझ में आने का लक्षण एकमात्र तृप्ति है। इस जीव को और अधिक सुनने का, अन्यत्र जाने का, दुनिया में भटकने का जो विकल्प है; वह अतृप्ति का ही सूचक है।

एकमात्र यही रास्ता है, अनन्ते जीव इसी रास्ते से मोक्ष गए हैं। अभी वर्तमान में जो जीव मोक्ष जा रहे हैं, छः माह आठ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाएँगे; वे किसी अन्य उपाय से मोक्ष में जाएँगे; यह संभव ही नहीं है।

देशनालब्धि के माध्यम से तत्त्व को समझकर, फिर प्रायोग्यलब्धि में होते हुए करणलब्धिपूर्वक आत्मानुभव करके, आत्मा में लीन होकर, चारित्र धारण करके ही यह जीव मोक्ष जाता है - यही मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

दब्बादिएसु मूढो, भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति ।

खुब्भदि तेणुच्छण्णो, पप्पा रागं व दोसं वा ॥८३॥

(हरिगीत)

द्रव्यादि में जो मूढता वह मोह उसके जोर से।

कर रागरुष परद्रव्य में जिय क्षुब्ध हो चहुंओर से ॥८३॥

जीव के द्रव्यादि सम्बन्धी मूढ भाव (द्रव्यगुणपर्याय संबंधी जो मूढतारूप परिणाम) वह मोह है, उससे आच्छादित वर्तता हुआ जीव राग अथवा द्वेष को प्राप्त करके क्षुब्ध होता है।

८३ और ८४वीं गाथा की टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने इसे उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है -

“धतूरा खाये हुए मनुष्य की भाँति द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी पूर्ववर्णित तत्त्व-अप्रतिपत्तिलक्षण जो जीव का मूढभाव है, वह मोह है।

आत्मा का स्वरूप उक्त मोह (मिथ्यात्व) से आच्छादित होने से यह आत्मा परद्रव्य को स्वद्रव्यरूप से, परगुण को स्वगुणरूप से और परपर्यायों को स्वपर्यायरूप से समझकर-स्वीकार कर अतिरूढ़ दृढ़तर संस्कार के

कारण परद्रव्य को ही सदा ग्रहण करता हुआ, दग्धइन्द्रियों की रुचि के वश से अद्वैत में भी द्वैत प्रवृत्ति करता हुआ, रुचिकर-अरुचिकर विषयों में राग-द्वेष करके अति प्रचुर जलसमूह के वेग से प्रहार को प्राप्त पुल की भाँति दो भागों में खण्डित होता हुआ अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त होता है।

इसप्रकार मोह, राग और द्वेष - इन भेदों के कारण मोह तीन प्रकार का है।

इसप्रकार तत्त्व-अप्रतिपत्तिरूप वस्तुस्वरूप के अज्ञान के कारण मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित होते हुए इस जीव को - घास के ढेर से ढंके हुए गड्डे को प्राप्त होनेवाले हाथी की भाँति, हथिनीरूप कुट्टनी के शरीर में आसक्त हाथी की भाँति और विरोधी हाथी को देखकर उत्तेजित होकर उसकी ओर दौड़ते हुए हाथी की भाँति - विविधप्रकार का बंध होता है; इसलिए मुमुक्षुजीव को अनिष्ट कार्य करनेवाले इस मोह, राग और द्वेष का यथावत् निर्मूल नाश हो - इसप्रकार क्षय करना चाहिए।”

आचार्य ने यहाँ हाथी के तीन उदाहरण देकर मोह, राग और द्वेष को स्पष्ट किया है।

इन उदाहरणों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि आचार्य भयंकर जंगल में रहते थे। जहाँ हाथियों के झुण्ड घूमा करते थे - ऐसे गहन वन में रहते थे।

प्रथम उदाहरण में, पहले एक गड्डा बना दिया जाता था और उसके ऊपर घास डाल दिया जाता था। उस गड्डे के उदाहरण से आचार्य ने मोह को समझाया है।

दूसरे उदाहरण में, हथिनी को ऐसा प्रशिक्षित किया जाता था कि वह हाथी को फँसाकर उसे अपने पीछे दौड़ाती थी। इसप्रकार के हाथी के माध्यम से यहाँ राग को समझाया है।

तीसरे उदाहरण में, हाथी को ऐसा प्रशिक्षित किया जाता था कि वह सामनेवाले हाथी को ललकारता था। तब वह दूसरा हाथी उससे

लड़ने के लिए आता था। जब वह लड़ने के लिए आता था, तब वह उस गड्डे में गिर जाता था।

द्वितीय उदाहरण में हथिनी राग में फँसाकर हाथी को गड्डे में गिराती है और इस उदाहरण में द्वेष में फँसाकर हाथी को गड्डे में गिराया जाता है।

‘घास के ढेर से ढके हुए खड्डे को प्राप्त होनेवाले हाथी की भाँति’ – यह मोह (अज्ञान) संबंधी उदाहरण है। ‘हथिनीरूपी कुट्टनी के शरीर में आसक्त हाथी की भाँति’ – यह राग संबंधी उदाहरण है और ‘विरोधी हाथी को देखकर, उत्तेजित होकर (उसकी ओर) दौड़ते हुए हाथी की भाँति’ – द्वेष संबंधी उदाहरण है।

यहाँ तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं – धोखा खाकर मोह में पड़े और अपनापन स्थापित कर लें अथवा राग करे अथवा द्वेष करे; परन्तु ये तीनों चीजे फँसाती ही हैं।

अरे ! आप भी खण्डेलवाल और मैं भी खण्डेलवाल। आप भी छाबड़ा मैं भी छाबड़ा – इसप्रकार अपनेपन में फँसाना, यह मोह का ही उदाहरण है। किसीप्रकार अपनापन स्थापित करना – यह प्रत्येक की वृत्ति है। यदि परदेश में उसे कोई जापानी मिलता है और उससे इसकी कोई रिश्तेदारी नहीं है। वह किसी भी रूप में उससे जुड़ा हुआ नहीं है। फिर भी जापान एशिया में है, इसलिए हम भी एशियन और तुम भी एशियन – इसप्रकार उसमें कहीं न कहीं से अपनापन स्थापित करता है। यह अपनापन जोड़ने की वृत्ति ही मिथ्यात्व है। अपनापन जोड़ना फँसाने और फँसाने की वृत्ति है।

इसीप्रकार जहाँ भी थोड़ा-सा संयोग मिलता हुआ दिखता है, वहाँ यह तुरंत अपनापन जोड़ लेता है। आप भी मुमुक्षु, मैं भी मुमुक्षु, आप दिगम्बर, मैं भी दिगम्बर – इसप्रकार सम्प्रदाय से अपनापन जोड़ता है। आप जैनी, मैं भी जैनी – इसप्रकार जाति से, गोत्र से – ऐसे विविधप्रकार से यह अपनापन जोड़ने का प्रयत्न करता है।

जिससे समानता दिखें और जहाँ एकता उत्पन्न हो, राग का कारण दिखे, वहाँ तुरंत राग उत्पन्न होता है। उस राग का कारण एकत्व व मोह ही है।

यह स्वयं अमरीकन है और दूसरा एशियन है, उसमें कोई अपनापन का बिन्दु भी नहीं है, फिर वह अच्छा आदमी है – इसप्रकार उसकी अच्छाइयाँ बताकर उसमें राग पैदा करता है। यदि उस व्यक्ति को पछाड़ना है, तब उसके विरोधी का साथ देना ही पड़ेगा। इस उद्देश्य से जैसे पाकिस्तान विरोधी है, पर चाइना से निपटना है; तब विरोधी का विरोधी दोस्त हो जाता है – ऐसे सिद्धान्त निकालकर उससे मोह, राग व द्वेष – इन तीनों को पुष्ट करता है। सम्पूर्ण जगत मोह, राग और द्वेष – इन तीनों में ही फँसता-फँसाता आ रहा है।

मोह, राग और द्वेष इन तीनों का उदाहरण देकर आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि ये तीनों अनिष्ट कार्य करनेवाले हैं; इसलिए मोह, राग व द्वेष – इन तीनों का यथावत् निर्मूल नाश हो; हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। ८१वीं गाथा तक आचार्य ने मोह, राग और द्वेष के नाश का उपाय बताया। ८२वीं गाथा में यह प्रेरणा दी कि करनेयोग्य कार्य मात्र यही है; अब और अधिक खोजा-खोजी के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। खोजने का कार्य सिद्ध हो गया है। अब मात्र पुरुषार्थ प्रारम्भ करना शेष है।

और जरा देख लें, और जरा देख लें – ऐसा अतृप्ति का भाव शेष रहना ही नहीं चाहिए। अब निर्णय हो गया है और समय अल्प है; अतः पुरुषार्थ प्रारम्भ करो।

दुकान पर जाते हैं, सब निर्णय हो जाते हैं; तब ऐसा ही कहा जाता है कि अब खरीदो और भागो। कपड़ा खरीद लिया है, दर्जी के यहाँ कपड़ा सिलने डाल दिया है। दर्जी ने उसे काट दिया है; इतना सबकुछ होने पर भी यदि वह कहता है कि कहीं अपनापन ठगाए तो नहीं गए ? थोड़ा दो दुकानें और देख लें। ऐसे मूर्खों के लिए हम यही समझाते हैं कि अब

तो काम हो ही गया है। अब कुछ हो तो सकता नहीं; फिर व्यर्थ ही समय खराब क्यों करता है ? अब तेरे पास जो भी समय शेष है; वह इन व्यर्थ की बातों में नष्ट करोगे तो खाना छूट जाएगा, तुम्हारे सभी कार्यक्रम गड़बड़ा जाएँगे। अब तुम आगे की सोचो।

इसप्रकार आचार्य समझाते हैं कि जिस बिन्दु पर पहुँचना चाहिए – ऐसे वास्तविक बिन्दु पर पहुँचने के बाद भी हमारी जो भटकने की वृत्ति चालू रहती है, वह बहुत खतरनाक है; क्योंकि वह हमें फिर उसी चक्कर में डाल सकती है, जिस चक्कर से हम बड़ी मुश्किल से सुलझ कर आए हैं।

किसी ने कपड़ा खरीद लिया और दर्जी के यहाँ भी डाल दिया। अब वह एक दुकानदार से कहता है कि आपके यहाँ कोई अच्छा-सा कपड़ा हो तो दिखाना। दुकानदार तो समझ जाता है कि इसे कपड़ा तो खरीदना नहीं है, यह मात्र भाव पूछ रहा है। तब वह दुकानदार उसे १० रु. मीटर कम बता देता है। ८० रु. मीटर खरीदा हो तो उसे ७० रु. मीटर बता देता है। वह व्यक्ति वहाँ से भाव सुनकर जहाँ से कपड़ा खरीद लिया था; उस व्यक्ति के पास जाता है और उससे झगड़ा करने लगता है। तू-तू, मैं-मैं प्रारम्भ हो जाती है। वह कहता है कि आज तो मैंने यहाँ से कपड़ा खरीदा; अब भविष्य में मैं कभी यहाँ से कपड़ा नहीं खरीदूँगा। वे दोनों शत्रु बन जाते हैं।

यदि इस जीव को सच्चा मार्ग मिल गया है और जिनवाणी माता पर पूर्ण विश्वास है, कुन्कुन्दाचार्य तथा अमृतचन्द्राचार्य ने जो लिपिबद्ध किया है; उस पर यदि पूर्ण विश्वास है तो फिर अब शोध व खोज की प्रक्रिया का कुछ महत्त्व ही नहीं रहता है। यदि यह सच्चा मार्ग मिलने के उपरांत भी शोध व खोज की प्रक्रिया प्रारम्भ रखता है तो ऐसे व्यक्ति के लिए कुछ उपदेश नहीं है। उसके भाग्य में भटकना ही है।

पाँच वर्ष तक श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय में

जैन तत्त्वज्ञान का गहराई से अध्ययन करें; फिर तत्त्व से विमुख हो जाय, ऐसे छात्र की शिकायत जब समाज करती है तो हम कहते हैं जिस छात्र को पाँच वर्ष तक समझाने से समझ में नहीं आया; वह अब पाँच मिनट के समझाने से कैसे समझेगा ?

उस शिष्य को 'अध्यापकों को नमस्कार करना चाहिए' – यह बात समझाकर अपने ही समय को व्यर्थ नष्ट करना है। विद्यार्थी को अध्यापकों को नमस्कार करना चाहिए – यह समझाने के लिए भी क्या महाविद्यालय खोला जाता है या प्रवचनसार जैसे शास्त्र की गाथाओं का अर्थ समझाने के लिए महाविद्यालय खोला जाता है। जिस महाविद्यालय में गुरुजनों को नमस्कार करना चाहिए – यह समझाना पड़े, यह उस महाविद्यालय का दुर्भाग्य ही है। यदि शिष्य गुरु के पास आता है तो गुरु ऐसा तत्त्व समझाए कि सहज ही शिष्य का विनम्र भाव से मस्तक झुक जाए।

आप हमें नमस्कार ही नहीं करते, आप मुनियों के विरोधी हो; प्रारम्भ से यहीं समझाने लगे। भाई ! यह समझाना कोई समझाना नहीं है। नमस्काररूप क्रिया तो अन्तर्निहित महिमा से ही प्रगट होती है। इसमें अधिक प्रलाप से क्या लाभ है ? आचार्य कहते हैं कि अब पूर्ण शक्ति से मोह के नाश करने का उद्यम करो।

अब शिष्य आचार्य से पूछता है कि – 'महाराज कोई दूसरा रास्ता है ?' तब आचार्य लिखते हैं कि – "अथ मोहक्षपणोपायान्तर-मालोचयति। – अब मोह के नाश के उपायान्तर की आलोचना करते हैं।"

आचार्य ने पूर्व में तो यह कहा था कि कोई दूसरा रास्ता नहीं है और यहाँ वे स्वयं ही दूसरा रास्ता बता रहे हैं। वस्तुतः यह दूसरा रास्ता नहीं है; उसी का सहयोगी रास्ता है।

आप किसी को यह बताते हैं कि भाईसाहब! यह विद्यालय बहुत अच्छा है; इसमें पाँच वर्षतक रहकर आप पढ़ेंगे तो इससे आपको बहुत

लाभ होगा। अब वह कहता है कि भाईसाहब ! यह तो मैंने निश्चित कर लिया है; लेकिन कोई दूसरा उपाय बताओ। 'अरे! जब तुमने यह निश्चित किया है कि इसमें भर्ती होना है तो अन्य किसी उपाय कि क्या आवश्यकता है ?'

'भाईसाहब, हमें इस महाविद्यालय में प्रवेश कैसे मिलेगा ? इसका उपाय बताओ। अब तो इसप्रकार का प्रश्न करना चाहिए। इसप्रकार जो प्रथम उपाय का सहयोगी उपाय हो; उसे ही उपायान्तर कहा जाता है अर्थात् यह उपाय का उपाय और मार्ग का मार्ग है।'

अब मोहक्षय करने का उपायान्तर विचारते हैं -

जिणसत्थादो अट्टे पच्चक्खादीहिं, बुज्झदो णियमा।

खीयदि मोहोवचयो, तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥८६॥

(हरिगीत)

तत्त्वार्थ को जो जानते प्रत्यक्ष या जिनशास्त्र से।

दृगमोह क्षय हो इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए ॥८६॥

जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जाननेवाले के नियम से मोहोपचय क्षय हो जाता है; इसलिए शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।

आचार्य यहाँ उपायान्तर बता रहे हैं। वैसे १२ व १३ गाथा से ही आचार्य ने उपाय बताना प्रारम्भ कर दिया था; परन्तु ८०वीं गाथा में आचार्य ने इस उपाय की घोषणा की थी कि जो अरहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय से जाने, वह आत्मा को जानता है एवं उसका मोह नाश को प्राप्त होता है। वहाँ मात्र द्रव्य-गुण-पर्याय से जाने - ऐसा ही कहा था; उन द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने का उपाय नहीं बताया था। अब यहाँ आचार्य उन द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने का उपाय बता रहे हैं।

द्रव्य-गुण-पर्याय को शास्त्र के सम्यक् अध्ययन से अर्थात् स्वाध्याय से जानो - यहाँ यही उपायान्तर बताया है। इसप्रकार यहाँ अरहंत को

द्रव्य-गुण-पर्याय से जानो - इसका उपसंहार भी किया है और ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन अधिकार की भूमिका भी बाँध रहे हैं। यहाँ आचार्य शास्त्रों से द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने की प्रेरणा दे रहे हैं।

आचार्यदेव ने इस ग्रन्थ के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में द्रव्य-गुण-पर्याय की सामान्य एवं विशेषरूप से चर्चा की। जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को कैसे जाने? तब आचार्यदेव ने शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए - ऐसा कहा। इसप्रकार यहाँ उपायान्तर से आशय किसी विरुद्ध उपाय से नहीं है।

जब मैं प्रशिक्षण शिविर में जाता हूँ तो वहाँ एक विशेष बात समझाता हूँ कि भाईसाहब! हम आपके प्रतिद्वंद्वी नहीं है। जैसे दो मेडिकल कॉलेज हैं, वहाँ कोई ऐसा कहे कि यह मेरा प्रतिद्वंद्वी है। दोनों महा-विद्यालय में से किन छात्रों को नौकरी मिली - इसमें वे दोनों प्रतिद्वंद्वी हो सकते हैं; लेकिन उन महाविद्यालयों में प्रवेश पाने तक जो पहली कक्षा से लेकर बारहवीं कक्षा तक की पढ़ाई कराते हैं; वे तो उनके सहयोगी ही हैं; क्योंकि यदि वे नहीं पढ़ायेंगे तो मेडीकल कॉलेज को छात्र कहाँ से मिलेंगे ?

हम भी इस विद्यालय में आपके लिए कच्चा माल तैयार कर रहे हैं। मुनि बनने से पूर्व जिनशास्त्रों का अध्ययन होना जरूरी है; विद्वान होना जरूरी है, वह हम तैयार कर रहे हैं। हमने मुनि बनाने के लिए कच्चा माल तैयार किया है, यदि आप मुनि हैं तो आप इन्हें भी मुनि बना लो। हम सदाचारी विद्वान तैयार कर रहे हैं।

सदाचारी शाकाहारी समाज हो, गाँव-गाँव में पाठशाला चले, गाँव-गाँव में बालक णमोकार मंत्र सीखें - इसमें किसी की भी प्रतिद्वंद्वता नहीं है; क्योंकि यह तो धर्मप्रचार के लिए पूर्व भूमिका है।

इसीप्रकार आचार्य यहाँ कह रहे हैं कि हम जिस उपायान्तर की चर्चा कर रहे हैं, वह उपाय ८०वीं गाथा के उपाय के विरुद्ध नहीं है;

अपितु उसका सहयोगी उपाय है।

उपाय यह है कि द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहंत को जानना और उपायान्तर यह है कि इन द्रव्य-गुण-पर्यायों को विविध शास्त्रों के स्वाध्याय से जानना चाहिए; क्योंकि एक ही जगह सभी विषय विस्तार से नहीं कहे जा सकते।

आचार्यदेव ने हमें उपाय बता दिया है; अब हमें उस उपाय को जानना है तो शास्त्रों का स्वाध्याय करके जानना चाहिए।

यदि कोई तुम्हें समझाता है; पर उसमें सही अर्थ भासित न होकर अनर्थ भासित होता है तो शास्त्र तुम्हारे पास साक्षी हैं; किसी और से पूछने की आवश्यकता ही नहीं है। इसप्रकार यहाँ आचार्यदेव ने उसी उपाय के सहयोगी उपाय को उपायान्तर कहा है -

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।

जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥८९॥

(हरिगीत)

जो जानता ज्ञानात्मक निजरूप अर परद्रव्य को।

वह नियम से ही क्षय करे दृगमोह एवं क्षोभ को ॥८९॥

जो निश्चय से ज्ञानात्मक - ऐसे अपने को और पर को निज-निज द्रव्यत्व से संबद्ध जानता है, वह मोह का क्षय करता है।

८६वीं गाथा में आचार्यदेव ने ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार की भूमिका बाँधी थी और अब यहाँ ज्ञेय-ज्ञानविभागाधिकार की भूमिका बाँध रहे हैं। ऐसा कह रहे हैं कि शास्त्रों से द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर 'ज्ञान-स्वभावी आत्मा मैं हूँ और अन्य सम्पूर्ण जगत रूप अन्य द्रव्य मैं नहीं हूँ' - ऐसा जानना ही मोह के क्षय का उपाय है। आचार्य ने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर उसमें स्व-पर भेदविभाग करने का आदेश दिया है। इसप्रकार जानने का लाभ यह है कि जो मैं हूँ, उसमें जम जाना है।

अब सब प्रकार से स्व-पर के विवेक की सिद्धि आगम से करने

योग्य है - ऐसा उपसंहार करते हैं -

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।

अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥९०॥

(हरिगीत)

निर्मोह होना चाहते तो गुणों की पहिचान से।

तुम भेद जानो स्व-पर में जिनमार्ग के आधार से ॥९०॥

यदि आत्मा अपनी निर्मोहता चाहता हो तो जिनमार्ग से गुणों के द्वारा द्रव्यों में स्व और पर को जानो। तात्पर्य यह है कि स्व-पर के विवेक से मोह का नाश किया जा सकता है; इसलिए जिनागम के द्वारा विशेष गुणों से ऐसा विवेक करो कि अनन्त द्रव्यों में से यह स्व है और यह पर है।

इस गाथा में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिन शास्त्रों के स्वाध्याय से द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर गुणों के आधार पर स्व और पर का विभाग किया जा सके, स्व और पर का विभाग करके पर से अपनापन तोड़कर स्व में अपनापन जोड़ा जा सके; उन्हीं शास्त्रों का स्वाध्याय अभीष्ट है; क्योंकि मोहक्षय का यही उपाय है; अन्य बातों में उलझना ठीक नहीं है।

९१वीं गाथा की यह टीका महत्त्वपूर्ण है -

“सादृश्यास्तित्व से समानता को धारण करते हुए भी स्वरूपास्तित्व से विशेषता से युक्त द्रव्यों को स्व-पर के भेदविज्ञानपूर्वक न जानता हुआ, न श्रद्धा करता हुआ जो जीव मात्र श्रमणता (द्रव्यमुनित्व) से आत्मा का दमन करता है; वह वास्तव में श्रमण नहीं है।

जिसे रेत और स्वर्णकणों का अन्तर ज्ञात नहीं है, उस धूल को धोनेवाले पुरुष को जिसप्रकार स्वर्णलाभ नहीं होता; उसीप्रकार उक्त श्रमणाभासों में से निरुपराग आत्मतत्त्व की उपलब्धि लक्षणवाले धर्म का उद्भव नहीं होता, धर्मलाभ प्राप्त नहीं होता।”

सभी द्रव्य सत् हैं – ऐसी जो महासत्ता है, वही सादृश्यास्तित्व है। इसमें भेदज्ञान नहीं हो पाता है। सादृश्यास्तित्व में से ही स्वरूपास्तित्व प्रगट होता है। ‘मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ’ – यह मेरा स्वरूपास्तित्व है और ‘आप ज्ञानानन्दस्वभावी हैं’ – यह आपका स्वरूपास्तित्व है।

लेकिन मेरा अस्तित्व मेरे में है, पर से उसका कोई संबंध नहीं। जिसे इस स्वरूपास्तित्व का पता नहीं है, वह कितने ही शास्त्र पढ़े, मुनिपना धारण करें, उसका जीवन व्यर्थ ही है।

जिसप्रकार सर्राफा बाजार में दुकानों के पास नालियाँ होती हैं तो बहुत सारे स्वर्णकण उन नालियों में, धूल में गिर जाते थे और धूलधोया लोग नाली में से कीचड़, धूल-मिट्टी इकट्ठा करके कीचड़ एवं धूल को धो-धोकर उसमें से स्वर्णकण निकालते हैं। उस नाली में, धूल में इतने स्वर्णकण गिर जाते हैं कि उससे ही उन धूलधोया लोगों की आजीविका चलती है।

आचार्य कहते हैं कि जो धूलधोया का धंधा करे और उसे यदि स्वर्णकण कौन-सा है, मिट्टी कौन-सी है एवं कंकड़ पत्थर कौन-से हैं? इसका ज्ञान नहीं हो तो उसे स्वर्णकण कैसे मिलेंगे? उसकी निगाह में वे स्वर्णकण आयेंगे; लेकिन उन्हें वह पहचान नहीं पाएगा। ऐसे लोग स्वर्णकणों की प्राप्ति के अभाव में भूखें ही मरेंगे।

उसीप्रकार भरपूर स्वाध्याय करके भी, जिसने स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं किया है, उनका जीवन धूलधोये की भाँति ही निष्फल जाएगा। इस कथन का आशय यह है कि आगम से द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानकर उसमें से स्वत्व निकालना आना चाहिए।

अब आचार्य इन पंक्तियों के आधार से इस अधिकार का समापन करते हैं – “उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणं संपत्ती

– इसप्रकार पाँचवी गाथा में प्रतिज्ञा करके,
चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिदिट्ठो

– इसप्रकार ७वीं गाथा में साम्य ही धर्म है – ऐसा निश्चित करके,
परिणमदि जेण दव्वं तत्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं ।

तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥

– इसप्रकार ८वीं गाथा में जो आत्मा का धर्मत्व कहना आरंभ किया और जिसकी सिद्धि के लिए –

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्दसंपओग जुदो ।

पावदि णिव्वाणसुहं..... ॥

– इसप्रकार ११वीं गाथा में निर्वाणसुख के साधनभूत शुद्धोपयोग का अधिकार आरंभ किया, विरोधी शुभाशुभ उपयोग को हेय बताया, शुद्धोपयोग का वर्णन किया, शुद्धोपयोग के प्रसाद से उत्पन्न होनेवाले आत्मा के सहज ज्ञान और आनन्द को समझाते हुए ज्ञान और सुख के स्वरूप का विस्तार किया; अब किसी भी प्रकार शुद्धोपयोग के प्रसाद से उस आत्मा के धर्मत्व को सिद्ध करके परमनिस्पृह, आत्मतृप्त ऐसी पारमेश्वरी प्रवृत्ति को प्राप्त होते हुए, कृतकृत्यता को प्राप्त करके अत्यन्त अनाकुल होकर, भेदवासना की प्रगटता का प्रलय करते हुए ‘मैं स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ’ – इसप्रकार रहते हैं।”

टीका की इन पंक्तियों में १२ गाथाओं में वर्णित समस्त विषय को समेट लिया है। प्रथम उन्होंने शुद्धोपयोग की चर्चा की, उसके फल में प्राप्त होनेवाली अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय सुख का प्रकरण आया; इसके पश्चात् शुभपरिणामाधिकार की चर्चा की; जिसमें वास्तविक मोक्ष का मार्ग बताया कि जो अरहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है, वह आत्मा को जानता है एवं उसका मोह नाश को प्राप्त होता है। फिर उपायान्तर की चर्चा की एवं उसमें यह प्रेरणा दी कि शास्त्रों का स्वाध्याय करो।

शुद्धोपयोग तो मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है एवं शास्त्र-स्वाध्यायवाला शुभभाव उस मार्ग का सहयोगी है, उपायान्तर है। वह इसका प्रतिद्वंद्वी

नहीं है। इस शुभपरिणामाधिकार को गम्भीरतापूर्वक ध्यान से पढ़ने के बाद यह स्पष्ट होगा कि यह वही अधिकार है, जिसमें शुभभाव को अभिसारिका कहा है। जो सम्पूर्ण निर्दोष मुनिलिंग का पालन करता है - ऐसे मुनि के क्रियाकाण्ड और शुभभाव का भी यहाँ निषेध किया गया है; किन्तु स्वाध्यायवाले शुभभाव को उपायान्तर बताया है एवं इसका समर्थन भी किया है। यही कारण है कि स्वाध्याय को परमतप कहा गया है।

गृहस्थों के षट् आवश्यक में भी स्वाध्याय समाहित है और मुनियों के षट् आवश्यक में भी स्वाध्याय समाहित है। मुनियों के देवपूजा, गुरुपासना आदि नहीं है; परन्तु स्वाध्याय उन्हें भी अनिवार्यरूप से कहा गया है। अन्यत्र द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव संबंधी बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं; लेकिन स्वाध्याय में ये बाधाएँ भी उपस्थित नहीं होतीं।

रात्रि में भोजन करना ठीक नहीं है, परन्तु स्वाध्याय दिन-रात में आप कभी भी कर सकते हैं।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि हमारा पूरा समय सफर में ही गुजर जाता है; हम वहाँ कैसे देवदर्शन करें, कैसे पूजन करें और कैसे प्रवचन सुने ? उनसे कहते हैं कि आप रेल में, प्लेन में मोक्षमार्गप्रकाशक, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय तो कर ही सकते हैं। शास्त्रों में ऐसी जगह पढ़ने के लिए कोई मनाही नहीं है। बस में गंदी-गंदी कहानियाँ, अखबार, पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ते हैं; उसकी जगह यदि आबाल-वृद्ध सभी स्वाध्याय करें तो इससे स्वाध्याय के लिए समय की कमी नहीं रहेगी।

महिलाओं के मुनिधर्म नहीं हो सकता है, पुरुषों को यह (विशिष्ट) व्रत नहीं हो सकता। यदि कोई पुरुष सुगंधदशमी व्रत करता है तो उसपर हँसा जाता है और कहा जाता है कि यह तो महिलाओं का व्रत है; परन्तु स्वाध्याय में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसमें महिला पुरुष ऐसा भेद नहीं है और न ही भाषा की कोई समस्या है। हमारे सद्भाग्य से अब

प्रत्येक भाषा में लगभग सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

यदि हम टोडरमलजी के समय का विचार करें तो हमें समझ में आएगा कि आज हम कितने भाग्यशाली हैं। तब संस्कृत-प्राकृत पढ़ानेवालों की व्यवस्था नहीं थी। आज तो इसे पढ़ाने के लिए कॉलेज बने हुए हैं। तब मात्र संस्कृत-प्राकृत में ही धार्मिक ग्रन्थ थे, जनभाषा में कोई ग्रन्थ नहीं था; अतः शास्त्रस्वाध्याय करना बहुत कठिन था।

आज हमारे पास सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं; वह भी अत्यल्प मूल्य में; कभी-कभी वे आधी कीमत में भी उपलब्ध हो जाते हैं। पहले जमाने में कोई सेठ अपने बेटे के लिए ग्रन्थ लिखाये तो उसके १०० रु. देने पड़ते थे। वे १०० रु. आज के एक लाख रुपए के बराबर हैं। इसप्रकार तब एक किताब एक लाख रु. में मिलती थी; आज वही किताब २० रु. में मिल जाती है।

लोग शिकायत करते हैं कि महंगाई बढ़ गई है; लेकिन इस विश्लेषण से तो शास्त्रों के सन्दर्भ में महंगाई घटी है। हमारे जैनसमाज में करोड़ों के कार्यक्रम तैयार हो रहे हैं। मुमुक्षु, गैरमुमुक्षु सभी बड़े-बड़े स्मारक खड़े कर रहे हैं। पहाड़ियाँ कटकर तीर्थ बन रहे हैं। इसकी तुलना में शास्त्रों में कितना खर्चा होता है ?

जिन्हें नाम कमाना है, उन्हें भी अपनी राशि शास्त्रों में ही खर्च करने में लाभ है। यदि किसी व्यक्ति ने किसी गाँव में मंदिर बनाया और उसपर अपना नाम लिख दिया तो उस गाँव में जो व्यक्ति जाएगा, वहाँ उस मंदिर को देखेगा; मात्र उसे ही पता चल पावेगा, अन्य को नहीं।

यदि आपने १००० रु. किसी ग्रंथ की कीमत कम करने में दिए और उसकी १०,००० प्रतियाँ छपीं तो आपका नाम १०,००० गाँवों में पहुँच जाएगा। यदि यह व्यक्ति १०,००० बार अपना नाम एक पर्चे पर छपाता तो १,००० रु. से भी अधिक खर्चा आता; फिर भी उसे कोई पढ़नेवाला ही नहीं मिलता। समयसार महाशास्त्र के साथ, कुन्दकुन्ददेव

के ग्रन्थ में इसका नाम है; इसलिए इसके नाम को भी लोग घर में सम्हालकर रखते हैं। इसप्रकार नाम भी कमाना है तो भी शास्त्र में ही अपनी राशि को लगाना लाभदायक है।

पंचकल्याणक में इन्द्र बनने के लिए पाँच-पाँच लाख रुपए खर्च करते हो। वहाँ तो मात्र एक बार आपके लिए एक वाक्य बोलने को दिया जाता है; पर इतने खर्चों में तो सम्पूर्ण हिन्दुस्तान के मंदिरों में समयसार पहुँच सकता है, सारे मंदिरों में प्रवचनसार पहुँच सकता है।

मैं यहाँ ऐसा नहीं कह रहा हूँ, वहाँ पैसे खर्च नहीं करना। मैं तो मात्र तुलना कर रहा हूँ। वहाँ भी खर्च करना और यहाँ भी खर्चा करना; परंतु तुलना करना भी सीखना। इसपर गम्भीरता से विचार करना जरूरी है कि क्या जिनवाणी को घर-घर पहुँचाने का काम वस्तुतः श्रेष्ठतम नहीं है?

आचार्यदेव ने स्वयं ही शुभभावों का बड़ी निदर्यता से निषेध किया है; परन्तु शास्त्रस्वाध्याय को उपायान्तर के रूप में स्थापित किया है।

स्वयं स्वाध्याय करो एवं दूसरे को भी स्वाध्याय करवाओ। घर में बैठकर यदि पाँच व्यक्ति मिलकर तत्त्वाभ्यास करते हैं तो वह महान कार्य है; उससे अपना घर पवित्र होता है। जिसप्रकार घर में थोड़ी-सी बदबू आती हो तो हम अगरबत्ती जला देते हैं। यदि घर में स्वाध्याय या तत्त्वचर्चा शुरू होती है तो घर में जो दुर्भावों की दुर्गन्ध है, वह साफ हो जाती है।

१० मिनट पूर्व जो टी.वी. की गंदगी घर में फैली थी; घर में तत्त्वचर्चा शुरू करेंगे तो वह स्वयमेव ही निकल जाएगी, पर्यावरण की शुद्धि हो जाएगी। स्वाध्याय घर-घर को शुद्ध करेगा, मंदिर को शुद्ध करेगा अर्थात् पर्यावरण को शुद्ध करेगा।

पूजा अपने विचार भगवान के सम्मुख प्रगट करना है; किन्तु स्वाध्याय भगवान की बात सुनना है। आप ही विचारिए कि अपनी बात भगवान को सुनाना अधिक महत्त्वपूर्ण है या भगवान की बात

सुनना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

वस्तुतः अपनी बात भगवान को कहने की जरूरत ही नहीं है; क्योंकि लिखा है कि -

तुमको बिन जाने जो क्लेश, पाए सो तुम जानत जिनेश।

हे भगवन्! आपको जाने बिना मैंने जो क्लेश उठाए हैं, उन्हें आप भलीभाँति जानते हैं; क्योंकि आपको केवलज्ञान है।

हम नहीं कहेंगे तो भी वे हमारी दशा जानते हैं; पर आप उन्हें बताओ तो भी उन्हें कोई ऐतराज नहीं है।

भगवान से यदि पूछे कि हे भगवन्! इन दुःखों से छूटने का क्या उपाय है; तब वे भी वही उपाय बताएँगे जो आचार्यदेव ने यहाँ बताया है। आजतक जितने जीव इस दुःख से छूटे हैं, वे इसी उपाय से छूटे हैं, आज भी छूट रहे हैं और जो भविष्य में छूटेंगे वे भी इसी उपाय से छूटेंगे।

आचार्यदेव कहते हैं कि जो शास्त्र में लिखा है; वह सब भगवान की ही बातें हैं। सभी शास्त्र जिनोपदिष्ट ही है। अतः स्वाध्याय करना उपायान्तर है। असली उपाय प्राप्त करने का यह उपाय है।

यह मोहमुक्ति का मार्ग सभी तीर्थकरों ने गणधरदेवों की उपस्थिति में, सौ इन्द्रों की उपस्थिति में, सन्तों की उपस्थिति में बताया है। अतः इसमें किसी भी प्रकार की शंका-आशंका करना उचित नहीं है।

शंका-आशंका करने से हाथ तो कुछ आनेवाला नहीं है; किन्तु इस मार्ग के लाभ से हम अवश्य वंचित हो जावेंगे। अतः सर्व संकल्प-विकल्पों से विराम लेकर शास्त्रस्वाध्याय के माध्यम से द्रव्य-गुण-पर्यायों का जानने का प्रयास करना चाहिए, समस्त लोक में से निज भगवान आत्मा को पहिचान कर उसी में जम जाना, रम जाना चाहिए। एकमात्र यही मार्ग है।

अतः सभी लोग जिनवाणी के स्वाध्याय करने का संकल्प लें - इस मंगल भावना से विराम लेता हूँ।

नौवाँ प्रवचन

अबतक प्रवचनसार परमागम के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार पर चर्चा चली; अब ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार आरंभ करते हैं। इस अधिकार को आचार्य जयसेन ने सम्यग्दर्शन अधिकार नाम दिया है।

आत्मा के कल्याण के लिए जगत में जो जाननेयोग्य पदार्थ हैं; उन सभी पदार्थों का वर्णन इस ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में होगा।

पहले सभी द्रव्यों की सामान्य चर्चा करेंगे; उसके बाद प्रत्येक द्रव्य की अलग-अलग विशेष चर्चा करेंगे। तत्पश्चात् ज्ञान और ज्ञेयों की भिन्नता का स्वरूप स्पष्ट करेंगे।

इसप्रकार यह ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार तीन अधिकारों में विभक्त है; जो इसप्रकार हैं -

१. द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार, २. द्रव्यविशेषप्रज्ञापन अधिकार और ३. ज्ञान-ज्ञेयविभागाधिकार।

द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार प्रवचनसार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश है; क्योंकि इसमें प्रतिपादित वस्तुस्वरूप जबतक हमारे ख्याल में नहीं आएगा, तबतक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती।

सम्यग्दर्शन का विषयभूत जो भगवान आत्मा है और जिसकी चर्चा समयसार में की जाती है; वह भगवान आत्मा इस प्रवचनसार के द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन की पृष्ठभूमि पर ही समझा जा सकता है।

अतः द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार में जो वस्तु की द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक व्यवस्था बताई गई है; सर्वप्रथम उसकी चर्चा करते हैं -

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि ।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥१३॥
जो पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग ति णिद्धिटा ।
आदसहावम्हि णिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥१४॥

(हरिगीतिका)

गुणात्मक हैं द्रव्य एवं अर्थ हैं सब द्रव्यमय ।

गुण-द्रव्य से पर्यायें पर्यायमूढ ही हैं परसमय ॥१३॥

पर्याय में ही लीन जिय परसमय आत्मस्वभाव में ।

थित जीव ही हैं स्वसमय - यह कहा जिनवरदेव ने ॥१४॥

पदार्थ द्रव्यस्वरूप है, द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं और द्रव्य तथा गुणों से पर्याये होती हैं। पर्यायमूढ जीव परसमय (अर्थात् मिथ्यादृष्टि) हैं।

जो जीव पर्यायों में लीन हैं, उन्हें परसमय कहा गया है; जो जीव आत्मस्वभाव में स्थित हैं; वे स्वसमय जानने।

जो मात्र पर्यायों को ही जानते हैं, उनको ही सम्पूर्ण तत्त्व समझ लेते हैं; वे जीव अज्ञानी, परसमय और मिथ्यादृष्टि हैं।

जो सम्यग्दृष्टि हैं, जो मुक्ति के मार्ग में लगे हुए हैं; जिन्होंने सच्चा सुख प्राप्त करने का उपाय प्राप्त कर लिया है; ऐसे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती से आगे के सभी जीव स्वसमय कहलाते हैं।

जो द्रव्यों को नहीं जानते हैं, गुणों को नहीं जानते हैं और मात्र पर्यायों को जानकर उसमें ही अपनापन स्थापित कर लेते हैं, वे अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। वे पर्यायमूढ हैं; क्योंकि वे पर्यायों में एकत्वबुद्धि धारण करनेवाले हैं।

आगे आचार्य द्रव्य-गुण-पर्याय का विश्लेषण करते हैं।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि - 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' अर्थात् द्रव्य गुणपर्यायात्मक है। 'सद्द्रव्यलक्षणम्' अर्थात् सत् द्रव्य का लक्षण है और 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' अर्थात् सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त होता है।

तत्त्वार्थसूत्र के उक्त कथनों की अपेक्षा प्रवचनसार के इस द्रव्य-सामान्यप्रज्ञापन अधिकार में प्रतिपादित विषयवस्तु की विशेषता यह है कि तत्त्वार्थसूत्र में गुण-पर्याय के समुदाय को द्रव्य कहा है, जबकि यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय के समुदाय को अर्थ कहा गया है।

जो द्रव्यों के सभी प्रदेशों में अनादिकाल से अनंतकाल तक रहनेवाले हैं; उनको गुण कहते हैं अर्थात् जहाँ काल की एवं क्षेत्र की सीमा नहीं है, जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों (प्रदेशों) में एवं उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में सदा विद्यमान रहते हैं, उन्हें गुण कहा जाता है।

द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक प्रत्येक वस्तु (अर्थ-पदार्थ) के साथ द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव भी जुड़े हुए हैं। द्रव्य अर्थात् वस्तु, क्षेत्र अर्थात् प्रदेश, काल अर्थात् उसकी अनंतानंतपर्यायों की अनादि-अनंतता और भाव अर्थात् अनन्त गुण।

जो सभी क्षेत्र अर्थात् सम्पूर्ण प्रदेशों में, सभी पर्यायों में अर्थात् अनादिकाल से अनंतकाल तक सभी अवस्थाओं में एकसा विद्यमान रहता है, उसे गुण कहा जाता है।

पर्यायें मूलतः दो प्रकार की होती हैं - द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय। द्रव्यपर्याय को व्यंजनपर्याय और गुणपर्याय को अर्थपर्याय भी कहते हैं।

अनेक द्रव्यों की मिली हुई पर्याय को द्रव्यपर्याय या व्यंजनपर्याय कहते हैं और गुणों के परिणामन को गुणपर्याय या अर्थपर्याय कहते हैं।

द्रव्यपर्याय अर्थात् व्यंजनपर्याय भी दो प्रकार की होती है - समान-जातीयव्यंजनपर्याय और असमानजातीयव्यंजनपर्याय।

समान जाति के अनेक द्रव्यों की मिली हुई पर्याय को समानजातीय व्यंजनपर्याय कहते हैं। अनेक पुद्गल परमाणु से निर्मित होने के कारण स्कन्धों को समानजातीयव्यंजनपर्याय कहते हैं।

असमान जाति के अनेक द्रव्यों से मिली हुई पर्याय को असमान-जातीयव्यंजनपर्याय कहते हैं। जीव और पुद्गलों के संयोग से उत्पन्न होनेवाली मनुष्यादि पर्यायें असमानजातीयव्यंजनपर्यायें कही जाती हैं।

गुणपर्यायें भी दो प्रकार की होती हैं - स्वभावपर्यायें और विभाव-पर्यायें। पुद्गल की परमाणु और जीव की केवलज्ञानादि स्वभावगुणपर्यायें

हैं और जीव के ज्ञानगुण की मतिज्ञानादि और पुद्गल की स्कन्ध आदि पर्यायें विभावपर्यायें हैं।

व्यवहारनय दो प्रकार का कहा गया है। अपने ही अन्दर भेद करना सदभूतव्यवहारनय है एवं अनेक द्रव्यों को मिलाकर कथन करना असदभूतव्यवहारनय है।

मनुष्यादि असमानजातीयव्यंजनपर्याय असदभूतव्यवहारनय का विषय है; क्योंकि मनुष्यादि पर्यायें अनेक द्रव्यों की मिली हुई पर्यायें हैं।

अनादिकाल से इस आत्मा ने यदि एकत्वबुद्धि की है तो वह मनुष्यादि पर्यायरूप इस असमानजातीयद्रव्य (व्यंजन) पर्याय में ही की है।

समानजातीयद्रव्यपर्याय में दो जीवों की पर्याय मिलकर एक पर्याय नहीं बनती है; क्योंकि समानजातीयद्रव्यपर्याय पुद्गलों में ही होती है। मकान में 'यह मेरा है' - यह ममत्वबुद्धिरूप और अपने शरीर में 'ये मैं हूँ' - यह एकत्वबुद्धिरूप मूढ़ता है। ऐसा पर्यायमूढ़ व्यक्ति ही परसमय है। इसप्रकार आचार्यदेव ने इन गाथाओं में जो चर्चा की है, वह विशेष कर असमानजातीयद्रव्यपर्याय एवं समानजातीयद्रव्यपर्याय की ही की है-

छहढाला में कहा है -

‘देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्वमुधा है ॥३/४॥’

तत्त्व के संबंध में मूढ़ बहिरात्मा शरीर और जीव को एक ही मानता है।

इन गाथाओं के सन्दर्भ में पर्यायमूढ़ की चर्चा करनेवाले जो विद्वान केवलज्ञानपर्याय में अपनत्व स्थापित करने की बात करते हैं, वे इस ओर ध्यान दें कि यहाँ केवलज्ञानादि पर्यायों की बात नहीं, मनुष्यादि पर्यायों की ही बात है। मैं मनुष्य हूँ, मैं तिर्यच हूँ, मैं देव हूँ, मैं नारकी हूँ - इसप्रकार संयोगों में अर्थात् प्राप्त अवस्था में जो एकत्वबुद्धि करता है, उसे ही यहाँ पर्यायमूढ़ परसमय कहा है।

अब ९५वीं गाथा को समझते हैं; जिसमें आचार्यदेव ने द्रव्य के स्वरूप की चर्चा की है।

अपरिच्यत्तसहावेणु प्पादव्ययधुवत्तसंबद्धं ।
गुणवं च सपजायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥९५॥
(हरिगीत)

निजभाव को छोड़े बिना उत्पादव्ययधुवयुक्त गुण-

पर्ययसहित जो वस्तु है वह द्रव्य है जिनवर कहें ॥९५॥

स्वभाव को छोड़े बिना जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसंयुक्त हैं तथा गुणयुक्त और पर्यायसहित हैं, उसे 'द्रव्य' कहते हैं।

'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' 'सद् द्रव्य-लक्षणम्' इसप्रकार तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य की परिभाषा तीन सूत्रों में बताई है। यहाँ एक ही गाथा में ये तीनों सूत्र समाहित हैं।

'स्वभाव को छोड़े बिना' - ऐसा कहकर आचार्यदेव ने यहाँ एक और विशेष बात बताई है।

द्रव्य का लक्षण सत् है। सत् को सत्ता अथवा अस्तित्व भी कहते हैं। इसप्रकार अस्तित्व द्रव्य का लक्षण है। द्रव्य अनंतानंत हैं। उनमें जीव अनंत हैं, पुद्गल अनंतानंत हैं, धर्म, अधर्म एवं आकाशद्रव्य एक-एक हैं तथा कालद्रव्य असंख्यात हैं।

इन सबमें द्रव्य का अस्तित्व लक्षण घटित होता है।

अस्तित्व अर्थात् सत्ता। सत्ता और अस्तित्व दो-दो प्रकार के हैं - १. महासत्ता २. अवान्तरसत्ता। १. सादृश्यास्तित्व २. स्वरूपास्तित्व। महासत्ता सादृश्यास्तित्व का ही दूसरा नाम है एवं अवान्तरसत्ता स्वरूपास्तित्व का दूसरा नाम है।

अपने स्वभाव को छोड़े बिना - इस पद का अर्थ यह है कि वस्तु स्वरूपास्तित्व को छोड़े बिना सादृश्यास्तित्व में सम्मिलित है।

मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ कि आप दिगम्बर हैं या जैन हैं ?

हम जैन भी हैं और दिगम्बर भी हैं; क्योंकि दिगम्बर जैन हैं। दिगम्बर और जैन - दोनों का एक साथ होने में कोई विरोध नहीं है।

इसीप्रकार स्वरूपास्तित्व को छोड़े बिना हम सादृश्यास्तित्व में शामिल हैं। इसप्रकार हम अवान्तरसत्ता और महासत्ता - दोनों से समृद्ध हैं; क्योंकि हम ज्ञानानन्दस्वभावी हैं। इसमें ज्ञानानन्दस्वभाव हमारी अवान्तरसत्ता है और 'हैं' अर्थात् अस्तित्व महासत्ता है।

हम चेतन होकर भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से संयुक्त और गुणपर्याय से युक्त द्रव्य हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त और गुण-पर्यायों से सहित होना हमारी महासत्ता है और ज्ञानानन्दस्वभावी चेतन होना हमारी अवान्तर सत्ता है। महासत्ता से हम सबसे जुड़े हैं और अवान्तरसत्ता की वजह से हमारा अस्तित्व स्वतंत्र है।

इसप्रकार हमने स्वरूपास्तित्व को छोड़ा नहीं है और हम सादृश्यास्तित्व में शामिल हैं। हम ऐसी महासत्ता के अंश हैं, जिसमें स्वरूपास्तित्व को छोड़ना जरूरी नहीं है। मैं अपने स्वरूपास्तित्व में भी शामिल हूँ एवं सादृश्यास्तित्व में भी शामिल हूँ।

इसप्रकार सभी जीव द्रव्य सादृश्यास्तित्व एवं स्वरूपास्तित्व से युक्त हैं। सभी का अस्तित्व समान है। आप भी अनंतगुणवाले हो एवं मैं भी अनंतगुणवाला हूँ, पुद्गल भी अनंतगुणवाला है। आप भी गुणपर्याय से युक्त हैं एवं मैं भी गुणपर्याय से युक्त हूँ। महासत्ता की अपेक्षा हम, तुम-सभी एक हैं, एक से हैं; अतः इस अस्तित्व का नाम सादृश्यास्तित्व है।

सादृश्य अर्थात् एक-सा होना। एक से होने में भी जगत में 'एक हैं' - ऐसा व्यवहार किया जाता है। हम सभी जैन एक हैं। हममें भी जैनत्व की श्रद्धा है और आपमें भी जैनत्व की श्रद्धा है। इसप्रकार हम कहना तो यही चाहते हैं कि 'हम एक से हैं।' परंतु सादृश्यास्तित्व की लोक में ऐसी भाषा है कि उसे 'एक हैं' - ऐसा ही कहा जाता है; क्योंकि यदि 'एक-सा' ऐसा कहते हैं तो उसमें भेद नजर आता है; परंतु 'एक' ऐसा कहने में एकता नजर आती है।

अतः हमें यह अपने ज्ञान में समझ लेना चाहिए कि हम जो ऐसा कह रहे हैं कि हम सब जैन एक हैं, हम सब भारतीय एक हैं – यह सब सादृश्यास्तित्व की विवक्षा से कहा जा रहा है।

इसपर यदि कोई ऐसा कहे कि हम सब एक हैं तो यह दिगम्बर और श्वेताम्बर का चक्र क्यों लगा रखा है ? हम सब यदि एक हैं तो ऐसा भेद क्यों है ?

यद्यपि हम सादृश्यास्तित्व की अपेक्षा से एक हैं; परंतु स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा से हम किसी से भी एक (अभेद) नहीं है। यह सादृश्यास्तित्व का जो कथन जिनागम में किया है, वह स्वरूपास्तित्व को छोड़े बिना है। हमने उस स्वरूपास्तित्व को छोड़कर पर के साथ एकत्व स्थापित कर लिया है – यही मिथ्यादर्शन है, यही पर्यायमूढता है, परसमयपना है।

‘मैं मनुष्य हूँ’ – ऐसा जब कहा जाता है, तब वहाँ मात्र जीवद्रव्य के ही गुण-पर्याय समाहित नहीं हैं, अपितु पुद्गलद्रव्य के गुण-पर्याय भी समाहित हैं। इसप्रकार यहाँ पर से एकत्व स्थापित किया जाता है। इस पर्याय से जो एकत्व का संबंध स्थापित है, वह संबंध असद्भूत है। वस्तुतः उससे हमारा संबंध ही नहीं है।

दो द्रव्यों के मध्य जो भेद है, वह पृथक्त्व है एवं एक ही द्रव्य में द्रव्य-गुण-पर्याय के मध्य जो भेद बताया जाता है, वह अन्यत्व है।

प्रवचनसार में अमृतचन्द्राचार्य ने इसे इसप्रकार परिभाषित किया है-
 “विभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वलक्षणम् – प्रदेशों का अलग-अलग होना पृथक्त्व का लक्षण है।” तथा “अतद्भावः अन्यत्वलक्षणम् – अतद्भाव अन्यत्व का लक्षण है। भाव की भिन्नता होना अन्यत्व का लक्षण है।”

अतद्भाव में द्रव्य-क्षेत्र और काल की भिन्नता अपेक्षित नहीं है, मात्र भाव की भिन्नता ही अपेक्षित है। जैसे – ज्ञानगुण और श्रद्धागुण का द्रव्य-क्षेत्र एवं काल एक है; परंतु भाव भिन्न है। इसमें ज्ञानगुण का

कार्य या भाव जानना है और दर्शनगुण का कार्य या भाव देखना है। यह अतद्भाव है।

हमारा कोई पड़ोसी है तो हम कहते हैं कि यह हमारा मुँहबोला भाई है और वह दूसरा मेरा सगा भाई है।

सगाभाई और मुँहबोले भाई में क्या फर्क है ?

जिनके माता-पिता एक हैं, भाई-बहिन एक हैं, मामा-मामी एक हैं, बुआ-फूफा एक हैं; यहाँ तक कि जिनका घर एक है, वह सगा अर्थात् सहोदर भाई है। जब ये माँ-बाप आदि सभी भिन्न-भिन्न हों, तब वह मुँहबोला/कहने का भाई है।

कहने की बहन में और सगी बहन में भी यही अंतर है। मुँह बोली (कहने की) बहन से शादी भी हो सकती है; परंतु सगी बहन से शादी की कल्पना भी संभव नहीं है।

ऐसे ही परद्रव्य के साथ हमारा जो संबंध है, वह कथनमात्र है; क्योंकि हमारा स्वरूपास्तित्व उससे पृथक् है। जिन द्रव्य-गुण-पर्यायों में परस्पर अतद्भाव होता है, उनका स्वरूपास्तित्व एक होता है। ऐसे ही जिनके स्वरूपास्तित्व एक होता है, पृथक्-पृथक् नहीं होता है; उनमें अतद्भाव होता है। जिनका स्वरूपास्तित्व भिन्न-भिन्न होता है एवं सादृश्यास्तित्व एक होता है, उनमें पृथक्त्व होता है।

दो द्रव्यों के मध्य जो भेद हैं; उसे भी भिन्नता कहा जाता है एवं द्रव्य-गुण-पर्याय के मध्य जो भेद हैं, उसे भी भिन्नता ही कहा जाता है। आत्मा व राग अन्य-अन्य हैं, आत्मा व ज्ञान अन्य-अन्य हैं एवं आत्मा व देह पृथक्-पृथक् हैं।

भिन्न शब्द का प्रयोग दोनों ही अर्थों में किया जाता रहा है। कथन में आत्मा व राग भिन्न-भिन्न हैं – ऐसा भी आता है एवं आत्मा व देह भिन्न-भिन्न हैं – ऐसा भी आता है।

जिनका स्वरूपास्तित्व एक है, उनके द्रव्य-गुण-पर्यायों में परस्पर

अतद्भाव होता है और जिनका स्वरूपास्तित्व अलग-अलग होता है; उन द्रव्यों में परस्पर पृथक्त्व होता है।

सादृश्यास्तित्व अर्थात् महासत्ता की अपेक्षा हम सब एक हैं। इसप्रकार परपदार्थों से हमारा 'हैं' का सम्बन्ध है, अस्तित्व का संबंध है; परंतु इसमें प्रत्येक का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है - यही स्वरूपास्तित्व है।

यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय को मिलाकर एक इकाई बनाई गई है।

यह समयसार में वर्णित इकाई नहीं है; जिसमें द्रव्य से पर्याय को भिन्न, गुण को भिन्न एवं गुणभेद को भी भिन्न कहा गया है। यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय को मिलाकर एक इकाई है, जिसे स्वरूपास्तित्व कहा गया है।

हमसे अतिरिक्त जो द्रव्य हैं, उनके साथ हमारी जो एकता की कल्पना है, वह किस आधार पर है, उसमें क्या हेतु है ?

इसमें हेतु मात्र इतना है कि वह भी है और हम भी है; इसप्रकार मात्र अस्तित्व का हेतु है। इसप्रकार मात्र 'है' की रिश्तेदारी है। मेरे और गधे के सींग में कोई संबंध नहीं है; क्योंकि गधे के सींग की न तो अवान्तरसत्ता है और न ही महासत्ता है; क्योंकि वह है ही नहीं और मैं हूँ। इसप्रकार तुम भी हो और मैं भी हूँ - इसप्रकार यहाँ 'है' का संबंध है।

अब आचार्य कह रहे हैं कि जिसने मात्र अस्तित्व संबंध के आधार पर स्वरूपास्तित्व को भूलकर किसी पर से अपनापन स्थापित कर लिया वह मिथ्यादर्शन का धारी मिथ्यादृष्टि है।

समयसार में यह बताया था कि सादृश्यास्तित्व के आधार पर स्वरूपास्तित्व को भूलकर संबंध स्थापित कर लेना मिथ्यात्व है तथा प्रवचनसार में यह बताया जा रहा है कि उससे मिथ्यात्व न हो जाय - इस डर से उस महासत्तावाले तथ्य से इन्कार करना भी मिथ्यादर्शन ही है।

महासत्ता से लेकर अवान्तरसत्ता के मध्य अनन्त सत्ताएँ हैं। 'हम

सब एक हैं' - इसमें शुद्धमहासत्ता की अपेक्षा है। इसके पश्चात् 'हम सब मनुष्य हैं' - इसमें भी अशुद्धमहासत्ता की अपेक्षा है।

'हम सब ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हैं' - यह भी महासत्ता ही है, सादृश्यास्तित्व ही है। अवान्तरसत्ता अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के बाहर नहीं निकलती है; जबकि महासत्ता में सबको शामिल किया गया है। इसप्रकार महासत्ता और अवान्तरसत्ता के मध्य लाखों सत्ताएँ हैं।

जिसमें सबकुछ आ जाय वह शुद्धमहासत्ता है और जिसमें सबकुछ तो न आवे; पर बहुतकुछ आ जाय; वह अशुद्धमहासत्ता है। 'हम सब हैं' यह शुद्धमहासत्ता का उदाहरण है और 'हम सब मनुष्य हैं' - यह अशुद्धमहासत्ता का उदाहरण है।

शुद्धसंग्रहनय में शुद्धमहासत्ता की विवक्षा है और अशुद्धसंग्रहनय में अशुद्धमहासत्ता की विवक्षा है। ऋजुसूत्रनय मात्र अवान्तरसत्ता को ग्रहण करता है। व्यवहारनय शुद्धमहासत्ता में तबतक भेद करता है कि जबतक अवान्तरसत्ता तक न पहुँच जावें।

ध्यान रहे यह व्यवहारनय निश्चय-व्यवहारवाला व्यवहारनय नहीं है; यह तो नैगमादि सप्त नयों में आनेवाला व्यवहारनय है।

'हम सब एक हैं' - ऐसा कहा, इसमें 'हैं' के आधार पर शुद्ध महासत्ता है अर्थात् इसमें सब सन्मात्र एक हो गए हैं। फिर 'चेतन' ऐसा भेद किया है, उसमें चेतनता भी महासत्ता का ही भेद है, इसमें अवान्तर सत्ता नहीं है; क्योंकि चेतनता सब जीवों में है; जबकि दो जीवों की अवान्तरसत्ता पृथक्-पृथक् है। मेरी चेतना अलग है एवं आपकी चेतना अलग है; इसप्रकार हम अवान्तरसत्ता तक तो आए नहीं। यह तो मात्र जीवत्व एवं द्रव्यत्व की पहचान है। यहाँ 'स्व' की पहचान नहीं है।

'जीवत्व' यह मेरी पहचान नहीं है। जीवत्व इस लक्षण में अनंत जीव समाहित होते हैं। फिर जीव से अलग होकर 'मनुष्य' पर आए; मनुष्य देवों तथा नारकियों से पृथक् हैं; किन्तु मनुष्य भी २९ अंकप्रमाण

हैं। इन सभी को 'मनुष्य' इस महासत्ता में समाहित कर लिया; इसलिए यह शुद्ध नहीं है; यह अशुद्धमहासत्ता है।

वस्तुतः हम महासत्ता से अवान्तरसत्ता अर्थात् सादृश्यास्तित्व से स्वरूपास्तित्व तक आएँ, अपने अस्तित्व तक आएँ; ऐसी स्थिति में जितने भी संबंध स्थापित होंगे, वे सब सदृशता के आधार पर स्थापित होने के कारण महासत्ता के आधार पर ही स्थापित होंगे।

यह सब शुद्धमहासत्ता तथा अशुद्धमहासत्ता के आधार पर ही होता है।

स्वरूपास्तित्व के अतिरिक्त कोई भी हमारा नहीं है। इसे छोड़कर सभी संबंध असद्भूत हैं।

समयसार की शैली में द्रव्य-गुण-पर्याय के सन्दर्भ में स्व के दो भेद किए हैं। जिसके आश्रय से विकल्प उत्पन्न हो - ऐसा स्व एवं जिसके आश्रय से निर्विकल्प की उत्पत्ति हो - ऐसा स्व। स्वभाव के आश्रय से विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए वह आश्रय योग्य स्व है और पर्याय के आश्रय से, गुणभेद के आश्रय से विकल्प की उत्पत्ति होती है; इसलिए वह स्व आश्रय करने योग्य नहीं है; इसकारण वह स्व एकप्रकार से पर ही है।

यदि प्रदेशों को और गुणों को अभेदरूप से जाना जाय तो वहाँ विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती है; अतः वे स्ववस्तु में समाहित हैं।

इसप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अखण्डता दृष्टि का विषय है एवं उसमें अपनापन स्थापित करना सम्यग्दर्शन है। यह समयसार की शैली है।

पर के साथ में हमारा जो महासत्ता संबंधी संबंध है; उससे इन्कार कर देना भी मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व के छूटे बिना अन्य मिथ्यात्व छूटेगा ही नहीं।

यह भाव का भेद जबतक दृष्टि में उपस्थित रहता है, तबतक विकल्प की उत्पत्ति होती है। इस जीव को वह भाव का भेद दृष्टि में से निकालना

है। वस्तु में से उसे बाहर नहीं करना है; क्योंकि वस्तु में से वह कभी बाहर हो ही नहीं सकता है। पर से एकत्व तोड़ना है। इसमें एकत्व को निकालना नहीं है; यह वस्तु में है ही नहीं - ऐसा जानना है।

भक्ष्य पदार्थ दो प्रकार के होते हैं। एक ऐसा भक्ष्य है, जिसे खाना ही नहीं है; इसकारण उसे अभक्ष्य भी कहते हैं एवं दूसरा ऐसा भक्ष्य जो खाने के बाद पेट में चला जाए, उसके बाद कुल्ला करना पड़े। उससे भी यदि मुँह जूठा रहेगा तो जिनवाणी नहीं सुन सकते हैं।

आठ प्रहर के शुद्ध घी का बना हलुआ यदि मुँह में रखे और जिनवाणी पढ़े तो ऐसा नहीं चलेगा। उस वस्तु को मुँह में रखे हुए मंदिर में प्रवेश भी नहीं कर सकते हैं। यह भक्ष्य वस्तु है; इसलिए पेट में रखो तो चलेगा; परन्तु जो माँस मदिरा आदि हैं; वे पेट में भी रखकर आओ और जिनवाणी पढ़ो तथा मंदिर में आओ तो नहीं चलेगा; क्योंकि वह व्यक्ति जिनवाणी श्रवण के भी योग्य नहीं है। यदि वह व्यक्ति जिनवाणी सुनेगा तो भी उसे सुनने का कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं होगा।

स्वरूपास्तित्व व सादृश्यास्तित्व तथा अतद्भाव व पृथक्त्व - इन दोनों में बहुत अंतर है।

यहाँ पर्यायमूढता की चर्चा मात्र केवलज्ञान व राग तक ही सीमित नहीं है।

संस्कृत के उत्कृष्ट विद्वान अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में इस भाव को इसप्रकार स्पष्ट किया है -

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।

तैनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमि नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

(दोहा)

वर्णादिक रागादि सब हैं आतम से भिन्न ।

अन्तर्दृष्टि देखिये दिखे एक चैतन्य ॥३७॥

यहाँ आचार्य ने यह स्पष्ट कहा है वर्णादि और रागादि भावों से यह भगवान आत्मा भिन्न है।

तब यह कहता है कि शिवभूति मुनिराज को भी केवलज्ञान हुआ था। उन्होंने मात्र 'तुषमाष भिन्न' जाना था। जैसे तुष भिन्न है और माष भिन्न है - ऐसे ही आत्मा भिन्न है और देह भिन्न है - जब यह जानना हुआ, तब वे आत्मा के अंदर गए और उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है शिवभूति मुनि ने राग से भिन्न है - इसप्रकार क्यों नहीं जाना, उन्हें केवलज्ञान से भिन्नत्व का विकल्प क्यों नहीं आया ?

वस्तुतः शिवभूति को केवलज्ञान से एकत्व का विकल्प ही नहीं था। यह धूल तो हमें-तुम्हें साफ करनी पड़ रही है; क्योंकि हम-तुम इस धूल से धूसरित हुए हैं।

होली निकल गई और मुझे साबुन लगाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। जब मुँह लाल, काले, नीले, पीले रंग से रंगा ही नहीं गया तो फिर उसकी सफाई करने की आवश्यकता ही क्या है ?

इसीप्रकार 'तुषमासंघोषन्तो' वाले मुनिराज ने अधिक गड़बड़ी नहीं की थी; इसलिए उन्हें देह से भिन्न भगवान आत्मा को जानते ही केवलज्ञान हो गया।

अतः प्रवचनसार में जो यह कहा गया है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त वस्तु है, गुण-पर्याय से युक्त वस्तु है; वह पूर्णतः सत्य है; परंतु यहाँ मुख्य शर्त अपने स्वरूप के अस्तित्व को छोड़े बिना की है।

स्वरूपास्तित्व की मर्यादा कायम रखकर, स्वरूपास्तित्व को छोड़े बिना ही भाई-भाई का सादृश्यास्तित्व रहता है। यह मेरी पत्नी है, यह मेरी बहन है, यह मेरी मामी है, यह मेरी भाभी है - ऐसा उन्हें छुए बिना ही जितने चाहे संबंध बना लो, पर उँगली लगाई तो यह अपराध माना जाएगा।

सादृश्यास्तित्व के आधार पर पर से एकता का कथन जितना भी है; वह सब इस महासत्ता के आधार पर किया गया कथन है। ●

दसवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार पर चर्चा चल रही है। पूर्व प्रकरण में यह चर्चा हुई थी कि यह आत्मा मनुष्य, देव, नारकी आदि गतियों रूप असमानजातीयद्रव्यपर्याय में एकत्वबुद्धि के कारण ही परसमय है। सम्पूर्ण पदार्थ द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक हैं अर्थात् द्रव्य गुणात्मक है और द्रव्य और गुणों की पर्यायें होती हैं।

पूर्व प्रकरण में यह चर्चा हो चुकी है कि एक द्रव्य की पर्याय का नाम द्रव्यपर्याय नहीं है; अपितु दो द्रव्यों की मिली हुई पर्याय का नाम द्रव्यपर्याय है।

कुछ लोगों को ऐसी आशंका हो सकती है कि प्रदेशत्वगुण के विकार को व्यंजनपर्याय कहते हैं और व्यंजनपर्याय ही द्रव्यपर्याय है; इसलिए यह कहना कैसे उचित हो सकता है कि यहाँ अनेक द्रव्यों का प्रकरण है।

दूसरी शंका यह हो सकती है कि जब किसी भी तरह की पर्याय में एकत्वबुद्धि करना मिथ्यात्व है; तब यहाँ मनुष्यादि पर्यायों पर वजन क्यों दिया जा रहा है ?

प्रवचनसार की टीका में लिखा है कि 'अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत द्रव्यपर्याय है।'

अनेक द्रव्यात्मक एकता अर्थात् अनेक द्रव्यों में जो एकता स्थापित करती है; ऐसी पर्याय का नाम द्रव्यपर्याय है।

गुणपर्याय को भी प्रवचनसार की टीका में निम्नप्रकार से परिभाषित किया है - 'गुण द्वारा आयत की अनेकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत गुणपर्याय है।'

यहाँ आयत की अनेकता को गुणपर्याय कहा गया है।

यहाँ परिणमन का प्रकरण नहीं है। यहाँ दो द्रव्यों में एकता स्थापित करने का प्रकरण है। शरीर और आत्मा के प्रदेश और उन दोनों की एकतारूप मनुष्य पर्याय को द्रव्यपर्याय कहते हैं। द्रव्यपर्याय में एकत्वबुद्धि ही भूल है।

‘पर्यायमूढ परसमय है’ – ऐसे प्रकरण के समय हमारा लक्ष्य मात्र गुणपर्याय पर ही जाता है; द्रव्यपर्याय पर हमारा लक्ष्य ही नहीं जाता। हम गुणपर्याय की ही चर्चा करते हैं। हम कहते हैं कि सम्यग्दर्शन गुणपर्याय है एवं उसमें एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है, केवलज्ञान में एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है। यह बात भी उचित हो सकती है; परन्तु यहाँ प्रवचनसार में इस बात पर बल नहीं दे रहे हैं।

यहाँ आचार्य जिस प्रकरण पर अधिक जोर दे रहे हैं, उसे अमृतचन्द्रा-चार्य ने ९४ गाथा की टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया है –

‘जो जीव पुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्याय का – जो कि सकल अविद्याओं का मूल है; उसका आश्रय करते हुए यथोक्त आत्मस्वभाव की संभावना करने में नपुंसक होने से उसी में बल धारण करते हैं (अर्थात् उन असमानजातीयद्रव्यपर्यायों के प्रति ही बलवान हैं), वे जिनकी निरर्गल एकान्तदृष्टि उछलती है ऐसे – ‘यह मैं मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है’ इसप्रकार ‘अहंकार-ममकार से ठगाए जाते हुए, अविचलितचेतनाविलास मात्र आत्मव्यवहार से च्युत होकर, जिसमें समस्त क्रियाकलाप को छाती से लगाया जाता है ऐसे मनुष्य व्यवहार का आश्रय करके रागी-द्वेषी होते हुए द्रव्यरूप कर्म के साथ संगतता के कारण (परद्रव्यरूप कर्म के साथ युक्त हो जाने से) वास्तव में परसमय होते हैं अर्थात् परसमयरूप परिणमित होते हैं।’

आचार्य अमृतचन्द्र स्वयं इस बात पर विशेष बल दे रहे हैं कि जीवपुद्गलात्मक असमानजातीयद्रव्यपर्याय ही सकल अविद्याओं का मूल है। तात्पर्य यह है कि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में जो कुछ भी विकृति हुई

है, अविधारूप परिणमन हुआ है; उन सबका मूल असमानजातीय-द्रव्यपर्याय में एकत्वबुद्धि है, ममत्वबुद्धि है।

यहाँ केवलज्ञान की बात तो दूर कोई यह भी मानने को तैयार नहीं है कि मैं सम्यग्दर्शन हूँ, मैं केवलज्ञान हूँ, मैं सिद्ध हूँ; लेकिन मैं मनुष्य हूँ, मैं जैनी हूँ, मैं व्यापारी हूँ – ऐसा सभी मान रहे हैं। इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि सकल अविधाओं का मूल असमानजातीयद्रव्यपर्याय में एकत्वबुद्धि अर्थात् उसे अपना जानना है।

हमें सुबह से शाम तक उसी की चिन्ता है, उसी के ध्यान में हम दिन-रात मग्न हैं। हम सुबह घूमने के लिए, दौड़ने के लिए जाते हैं; तो वह सब उसके लिए ही करते हैं ? यहाँ घूमने में न तो केवलज्ञान का प्रयोजन है और न सम्यग्दर्शन का ? हम यही चाहते हैं कि हमारी यह असमानजातीयमनुष्यपर्याय और १०-५ वर्ष सरलता से चल जावे।

यद्यपि यह सत्य है कि गुरुदेवश्री ने गुणपर्यायों पर अधिक वजन दिया था। उनका उन पर वजन देना उचित भी था; क्योंकि उनकी तरफ जगत का ध्यान ही नहीं गया था। वे मात्र असमानजातीयद्रव्यपर्याय के सन्दर्भ में ही सोचते थे। इसलिए वह उस समय की अनिवार्य आवश्यकता थी; परन्तु अब उस पर आवश्यकता से अधिक ध्यान चला गया है; अतः इस पर पुनः ध्यान लाना जरूरी है।

अपने बेटे की शादी हो गई है और वह दिनभर बहू के ही कमरे में घुसा रहे तो माता-पिता को यह समझाने का विकल्प आता है कि ‘अब तुम्हारी शादी हो गई है, जीवनभर इसके साथ ही रहना है; परन्तु सब रिश्तेदार हैं तो यह सब अच्छा नहीं लगता है। जो मेहमान आए हैं, उनके साथ भी बैठो; उनसे भी मिलो, यह अच्छी बात नहीं है कि तुम बहू के ही कमरे में ही घुसे रहो।’

लेकिन यदि वही बेटा अपनी पत्नी से बोले ही नहीं तो उन्हीं माता-पिता के माथे पर सल पड़ जाते हैं। तब वे उसी बेटे को ऐसा

समझाने लगते हैं कि , प्रेम से रहो, घूमो-फिरो। क्या दिनभर धंधे-पानी में लगे रहते हो। थोड़ा घूम-फिर आओ, सिनेमा चले जाओ।’

जो सारी जिन्दगी बेटे को सिनेमा जाने से रोकते थे; वे अब उसे ही सिनेमा जाने का उपदेश दे रहे हैं।

एक केशव नाम के कवि हुए हैं; उन्होंने वैराग्यशतक जैसी वैराग्य का वर्णन करनेवाली किताब लिखी है। इसमें वैराग्य का बहुत ही प्रभावोत्पादक वर्णन है। उसे पढ़कर सारे घरवाले, उसका पुत्र भी वैरागी हो गया। वह अपनी पत्नी की तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखता था।

तब केशव कवि की पुत्रवधू बहुत चिन्तित हुई। वह भी कवयित्री थी, विदुषी थी। उसने अपने श्वसुर को सवैया छन्द में एक पत्र लिखा।

उस घर में एक बकरा और बकरी थी। बकरा कामासक्त हो रहा था, मदोन्मत्त हो रहा था।

बकरे की ओर संकेत करती हुई पुत्रवधू कहती है कि रे बकरे अधिक उद्विग्न न हो; नहीं तो मैं श्वसुरजी से कहकर तुझे भी वैरागी बनवा दूँगी।

पुत्रवधू का यह पत्र पढ़कर कवि केशव को सब स्थिति समझ में आ गई, तब उन्होंने शृंगाररस की कविताएँ लिखीं; जिसे पढ़कर उनका बेटा पूर्ववत् सामान्य हो गया।

गुरुदेवश्री ने प्रथम विवक्षा पर वजन दिया है और मैं इस दूसरी विवक्षा पर वजन दे रहा हूँ। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

केवलज्ञान भी पर्याय है एवं इसमें एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है - यह बात बड़े-बड़े विद्वानों के ख्याल में नहीं थी। सम्यग्दर्शन भी पर्याय है, उसमें एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है - यह भी किसी के ख्याल में नहीं था। ध्यान दिलाने पर भी लोग इस विवक्षा को नहीं समझते थे।

गुरुदेवश्री के पुण्यप्रताप से अब यह अवस्था हो गई है कि सब उसी को मानने लग गए हैं एवं जो सकल अविधाओं का मूल है - ऐसी जो असमानजातीयद्रव्यपर्याय है, उस द्रव्यपर्याय में एकत्वबुद्धि को आज

स्थूल बात कहने लगे हैं। स्वयं को बड़ा पण्डित माननेवाले कुछ लोग उसकी चर्चा करने में भी शर्म महसूस करते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि में यह स्थूल कथन है।

क्या अमृतचन्द्राचार्य छोटे पण्डित थे ? क्या प्रवचनसार स्थूल बातों का प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ है ? अरे भाई ! इसी महाग्रन्थ की टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने यह लिखा है कि ‘जो जीव मनुष्यादिक असमानजातीयद्रव्यपर्यायों में एकत्वबुद्धि धारण करते हैं, वे आत्मा का अनुभव करने में नपुंसक है।’

रास्ते पर एक पर्स पड़ा था, उसमें एक हजार रुपए थे। उस रास्ते पर वह अकेला ही था, कोई और नहीं था। वह चाहता तो उस एक हजार रुपए को ले जा सकता था। लेकिन उसने ऐसा नहीं किया और चिल्लाकर यह कहा कि यह किसका पर्स है, जिसमें एक हजार रुपये पड़े हैं; जिसका हो ले जाओ।

यह सुनकर पास खड़े हुए सभी लोग उसकी प्रशंसा करने लगते हैं, तब यह गद्गद् हो जाता है।

पर वह इसकी प्रशंसा कहाँ थी ? यह प्रशंसा उस समय जो ईमानदारी रूप पर्याय प्रगट हुई थी, उसकी ही महिमा थी।

यह आत्मद्रव्य की प्रशंसा नहीं है। यह तो उस समय के विकल्प की प्रशंसा है; जिसमें उसे उस समय पर्स देने का भाव आया और पर्स रखने का विकल्प नहीं आया। वह इसी में ‘मैं चौड़ा और बाजार सकरा’ हो जाता है; और अभिमान में नाचने लगता है।

वह सोचता है कि देखो, मेरी कितनी प्रशंसा हो रही है। इसे ही पर्यायदृष्टि का उछलना कहते हैं अर्थात् जिस वर्तमान पर्याय में वह है, उस वर्तमान पर्याय की प्रशंसा से इसका रोम-रोम गद्गद् हो जाता है। यही पर्यायदृष्टि का उछलना है।

इसप्रकार तू अहंकार द्वारा ठगाया जा रहा है।

ठगाया इसलिए जा रहा है; क्योंकि जिसकी प्रशंसा हो रही है, वह तू नहीं है।

किसी ने अपने पुत्र का नाम महावीर रखा। इस व्यक्ति ने अपने पुत्र का नाम महावीर इसलिए रखा; क्योंकि वह चाहता था कि कम से कम मरते वक्त तो भगवान का नाम याद आए।

यह महावीर महावीर करके मरेगा तो लोग यही कहेंगे कि भगवान का नाम लेकर मरा है; लेकिन वह वस्तुतः अपने बेटे को ही याद करके मरा है। महावीर कहकर उसकी दृष्टि किसके द्रव्य-गुण-पर्याय पर है और जगत की दृष्टि कहाँ है ?

ऐसे ही आचार्य कहते हैं कि जिसके बारे में प्रशंसा हो रही है, वह तू नहीं है।

पर्याय की प्रशंसा में इस जीव का जो उत्साह बढ़ता है; उस उत्साह का होना ही ठगाया जाना है। किसी को ठग नहीं रहा है, वह स्वयं ही ठगाया जा रहा है।

आचार्य आगे स्पष्ट कर रहे हैं कि आत्मव्यवहार तो एकमात्र अविचलित चेतना में विलास करना है। ज्ञानानंदस्वभावी जो भगवान आत्मा है, उसमें रमना ही अविचलित चेतना में रमना है।

कर्मचेतना और कर्मफलचेतना – ये अज्ञान चेतना है, जो चलायमान है एवं अंतर में एक अविचलचेतना विद्यमान है, उसका ज्ञान चिद्विलास है; परन्तु यह क्रियाकाण्ड को छाती से लगाता है; धर्माधर्म में उलझ जाता है, धर्मपत्नी का धर्म, पति का धर्म – ऐसे न जाने कितने धर्म उत्पन्न कर लिए हैं इसने। इसमें असली धर्म का ही पता नहीं चलता।

वह व्यक्ति व्यवहारकुशल है, ऐसा व्यवहार धर्म तो होना ही चाहिए – ऐसे समस्त क्रियाकलाप को यह छाती से लगाता है।

आचार्य कहते हैं कि ऐसा जो मनुष्यव्यवहार है, उसका आश्रय करके यह जीव रागी-द्वेषी होते हुए परद्रव्यरूप कर्म के साथ युक्त होकर वास्तव में परसमय होता हुआ परसमयरूप ही परिणमित होता है।

इससे हम यह समझ सकते हैं कि उस मनुष्यव्यवहार में एकत्वबुद्धि ही मिथ्यात्व है। 'मैं सम्यग्दर्शन हूँ, मैं केवलज्ञान हूँ।' – यह मनुष्यव्यवहार नहीं है। इस कथन से आशय मात्र इतना ही है कि यहाँ अमृतचन्द्राचार्यदेव ने स्वयं पूरा वजन असमानजातीयद्रव्यपर्याय पर ही दिया है।

पण्डित टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की प्रशस्ति में अपना परिचय इसी विवक्षा से दिया है –

मैं आतम अरु पुद्गल खंध, मिलकर भयो परस्पर बंध।

सो असमानजातिपर्याय, उपजो मानुष नाम कहाय ॥

एक आत्मा और अनंत पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है – इनका मिलकर जो संबंध हुआ है; वही असमानजातीयद्रव्यपर्याय है। शास्त्रीय भाषा में इसे असमानजातीयद्रव्यपर्याय कहा जाता है एवं जनभाषा में इसे ही मनुष्य कहा जाता है। ऐसी मनुष्यपर्याय में मैं उत्पन्न हुआ – इसप्रकार पण्डित टोडरमलजी ने स्वयं का परिचय दिया है।

यहाँ रत्नों के दीपक का उदाहरण दिया है; अतः घी वगैरह से युक्त दीपक को यहाँ नहीं समझना चाहिए। रत्नों का दीपक प्रत्येक कमरे में ले गए। जहाँ-जहाँ यह रत्नदीप गया, वह कमरा प्रकाशित हो जाता है।

वहाँ यदि हम कहें कि देखो, यह कमरा कितना प्रकाशित है; तो कहते हैं कि अरे भाई! प्रकाश तो रत्नदीपक का है, कमरे का अपना कोई प्रकाश नहीं है और २५ कमरों में घूमनेवाला रत्नदीपक तो एक ही है।

ऐसे ही मनुष्यपर्याय, देवपर्याय, नरकपर्याय और तिर्यचपर्याय – इन सबमें घूमनेवाला एक चैतन्यरूपी रत्नदीपक है। उसमें जो चेतना दिखती है; वह आत्मा की है।

जो प्रकाश दिखाई देता है, वह रत्न का है। समझदार आदमी का ध्यान कमरों पर न होकर, प्रकाश पर होता है, रत्नों पर होता है। जिनका ध्यान रत्नों पर है; रत्नदीपक पर है; वे सम्यग्दृष्टि हैं एवं जिनका ध्यान कमरे पर है; वे मिथ्यादृष्टि हैं।

ऐसे ही मनुष्यादि पर्यायों पर जिनकी दृष्टि है; वे मिथ्यादृष्टि हैं एवं जिनकी दृष्टि 'उसमें घूमनेवाले त्रिकाली ध्रुव पर है', वे सम्यग्दृष्टि हैं।

जिसकी आत्मा पर दृष्टि है, वह स्वयं को मनुष्य व्यवहार से नहीं जोड़ता है; क्योंकि उस मनुष्यव्यवहार में समस्त क्रियाकाण्ड को छाती से लगाया जाता है।

समाज में ऐसे उपदेशक तो बहुत मिलेंगे, जो ऐसा कहते हैं कि जिसे भगवान के दर्शन का भाव नहीं आता है, वह मिथ्यादृष्टि है; जिसे पूजन करने का एवं दान देने का विकल्प नहीं आता है, वह मिथ्यादृष्टि है; जो व्रत-उपवास नहीं करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

इसप्रकार जो सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड को नहीं करता है; वह मिथ्यादृष्टि है - ऐसे कहनेवाले तो गली-गली में मिल जायेंगे; परन्तु प्रवचनसार की टीका के कर्ता इसे मनुष्यव्यवहार कह रहे हैं एवं जो इसे छाती से लगाता है; वह असमानजातीयद्रव्यपर्याय में एकत्वबुद्धिवाला है; अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है।

ज्ञानीजनों का व्यवहार ऐसा नहीं होता है। ज्ञानीजनों का व्यवहार तो ऐसा होता है कि वे इस क्रियाकाण्ड को छाती से नहीं लगाते हैं।

क्रियाकाण्ड तो ज्ञानी के भी होता है; उन्हें भगवान के प्रति भक्ति का भाव आता है, दान देने का भाव होता है, जिनवाणी को घर-घर पहुँचाने का भाव आता है - इसप्रकार ये सब भाव ज्ञानी के होते हैं; परन्तु इनमें उसकी रंचमात्र भी एकत्वबुद्धि नहीं है।

'इस क्रियाकाण्ड को करने से मैं धर्मात्मा हो गया' - ऐसा किंचित्मात्र भी विकल्प ज्ञानी को नहीं आता है।

उस समय ज्ञानी के जो आत्मा में एकत्वबुद्धि है, आत्मचेतना-विलासमात्र में एकत्वबुद्धि है, उसमें जो उसे उत्साह है; वह धर्म की क्रिया है, जिसे वह सम्यक्प्रकार से जानता है। वहाँ जो तीव्रता, मंदता होती है, वह उदय के अनुसार होती है।

सम्यग्दृष्टि को समय-समय पर तीव्र और मिथ्यादृष्टि को मंद उदय हो सकता है। कभी मिथ्यादृष्टि को तीव्र व सम्यग्दृष्टि को मंद उदय हो सकता है। इसका संबंध अंतर में आत्मा में एकत्वबुद्धिरूप सम्यग्दर्शन से नहीं है; वह जैसा उदयानुसार होता है, वैसा होता है।

इसे भावार्थ में और अधिक सरलता से स्पष्ट किया है -

“मैं मनुष्य हूँ, शरीरादिक की समस्त क्रियाओं को मैं करता हूँ, स्त्री-पुत्र-धनादिक के ग्रहण-त्याग का मैं स्वामी हूँ।’ इत्यादि मानना सो मनुष्यव्यवहार है, ‘मात्र अचलित चेतना ही मैं हूँ’ ऐसा मानना-परिणमित होना सो आत्मव्यवहार है।’

इसप्रकार आचार्यदेव ने वजन 'असमानजातीय द्रव्यपर्यायवाले परसमय हैं।' पर ही दिया है।

जो एक द्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्याय हैं एवं उनका जो अस्तित्व है, वह स्वरूपास्तित्व है। जितने पदार्थ लोक में हैं; उन अनंत पदार्थों में इसीप्रकार का अस्तित्व है। इसप्रकार अस्तित्व अस्तित्व में समानता है। इस समानता के आधार पर, महासत्ता के आधार पर, उनमें एकता की कल्पना करना ही सादृश्यास्तित्व है। इसप्रकार समानता के आधार पर जो एकता है वह सादृश्यास्तित्व है।

हम तुम एक से हैं, इसलिए यहाँ आचार्यदेव 'एक हैं' - ऐसा कह रहे हैं। उस सादृश्यास्तित्व के आधार पर हम सब एक हैं - ऐसा जानकर यदि कोई स्त्री-पुत्रादिक में अपनत्व करता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। स्वरूपास्तित्व का ज्ञान करके, उसमें एकत्वबुद्धि को जोड़े बिना, उसी के समान जो दूसरी वस्तुएँ हैं, उनमें एकत्व करना मिथ्यात्व है।

स्वरूपास्तित्व अर्थात् अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के भीतर ही सत्ता होती है। सत्ता अर्थात् अस्तित्व गुण। जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से सहित है, वही द्रव्य है, वही सत्ता है। यह सत्ता पृथक् से कोई अन्य चीज नहीं है।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह सत्ता द्रव्य से भिन्न है या अभिन्न ?

भिन्नता दो प्रकार की होती है एक पृथक्ता एवं दूसरी अन्यता। पृथक्ता अर्थात् दो पदार्थ जुड़े-जुड़े हैं एवं अन्यता अर्थात् जिनकी सत्ता एक है तथा स्वभाव भिन्न हैं। जिनकी सत्ता पृथक् है, उनमें पृथक्ता होती है एवं जिनकी सत्ता एक है, उनमें अन्यता होती है।

हिन्दुस्तान व पाकिस्तान इन दोनों में पृथक्ता है एवं हिन्दुस्तान व राजस्थान तथा राजस्थान व मध्यप्रदेश इन दोनों में अन्यता है।

द्रव्य तथा गुणों के मध्य एवं द्रव्य तथा पर्याय के मध्य अन्यता होती है, पृथक्ता नहीं। दो द्रव्यों के मध्य पृथक्ता होती है, अन्यता नहीं। एक द्रव्यों की दो पर्यायों में अन्यता होती है, पृथक्ता नहीं। एक द्रव्य के दो गुणों में अन्यता होती है, पृथक्ता नहीं।

अब यहाँ विषय की स्पष्टता के लिए यह प्रश्न उपस्थित करता हूँ कि मेरा ज्ञानगुण एवं आपका दर्शनगुण इनमें पृथक्ता है या अन्यता है ?

यहाँ पृथक्ता है; क्योंकि इसमें मेरा ज्ञानगुण एवं आपका दर्शनगुण लिया है। यदि यहाँ मेरा ही दर्शनगुण एवं मेरा ही ज्ञानगुण लेते तो अन्यता होती। एक द्रव्य गुण पर्याय में जहाँ मात्र भाव से ही भिन्नता होती है एवं द्रव्य-क्षेत्र व काल से अभिन्नता होती है, वहाँ अन्यता है। ज्ञान का जाननेरूप भाव है एवं दर्शन का देखनेरूप भाव है - इसप्रकार भावों में भिन्नता है।

कई लोग अन्यता और पृथक्ता में अंतर नहीं जानते तथा चाहे जहाँ/चाहे जैसा प्रयोग करते हैं।

मैं देह से इसलिए पृथक् हूँ; क्योंकि देह व आत्मा - ये दो पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं। राग से आत्मा इसलिए अन्य है; क्योंकि इसमें दो द्रव्य नहीं है।

पृथक्त्व का और अन्यत्व का लक्षण निम्नांकित गाथा में आचार्य स्पष्ट करते हैं -

पविभक्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स ।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं ॥१०६॥
(हरिगीत)

जिनवीर के उपदेश में पृथक्त्व भिन्नप्रदेशता।

अतद्भाव ही अन्यत्व है तो अतत् कैसे एक हों ॥१०६॥

विभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्व है - ऐसा वीर का उपदेश है। अतद्भाव अन्यत्व है, जो उसरूप न हो वह एक कैसे हो सकता है ?

जिनके प्रदेश भिन्न हैं, उनमें पृथक्त्व है और जो अतद्भाव है, उसे वीरशासन में अन्यत्व कहा गया है।

अन्यत्व हो वहाँ एक हो सकते हैं; परंतु पृथक्त्व में एक नहीं हो सकते हैं।

अतद्भाव है सो अन्यत्व है। कथंचित् सत्ता द्रव्यरूप नहीं है एवं द्रव्य सत्ता नहीं है; अतः वे एकरूप नहीं है। द्रव्य व सत्ता में पृथक्ता नहीं है, अन्यता है। वह अन्यता भी कथंचित् है। कथंचित् दोनों एक हैं एवं कथंचित् दोनों अलग हैं। टीका में आचार्यदेव ने स्पष्ट लिखा है कि - 'विभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्व का लक्षण है। वह तो सत्ता और द्रव्य में सम्भव नहीं है।'

यहाँ पृथक्ता इसलिए संभव नहीं है; क्योंकि सत्ता व द्रव्य के प्रदेश एक हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि 'भिन्नता' शब्द का प्रयोग पृथक्ता और अन्यता - इन दोनों के स्थान पर खुलकर समान रूप से किया जाता रहा है; अतः यह ध्यान रखना बहुत जरूरी है कि भिन्नता का अर्थ प्रकरण के अनुसार किया जावे।

अब, आगे आचार्य विस्तार से इस बात को सिद्ध करेंगे कि सत्ता व द्रव्य में अन्यता है, पृथक्ता नहीं है। उत्पाद भी सत् है, व्यय भी सत् है एवं ध्रौव्य भी सत् है। तीनों यदि सत् हैं तो तीनों में तीन सत् हैं या दो सत् हैं या एक सत् है ?

अस्तित्व नामक जो गुण है, वह तीनों में एकसा है, उन तीनों में एक ही अस्तित्व गुण है। वस्तुतः इनमें तीन सत् नहीं है, एक ही सत् है।

सत् के अंश को भी सत् कहा जाता है; इसलिए उत्पाद भी सत् है, व्यय भी सत् है एवं ध्रौव्य भी सत् है। जो सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य - इन तीनों में व्याप्त है, वही सत्ता द्रव्य में व्याप्त है।

जो प्रदेशों और पर्यायों में व्याप्त रहे, उसे गुण कहते हैं। प्रदेशों और पर्यायों में व्याप्त होने से सत्ता गुण है। इसप्रकार जो गुण-पर्यायों की सत्ता है; वह ज्ञान व दर्शन की भी सत्ता है।

हम कहते हैं कि ज्ञान का अस्तित्व है, दर्शन का अस्तित्व है; इसप्रकार अनंत गुणों का अस्तित्व है। यह ऐसी विचित्र बात है कि अनंत का अस्तित्व होकर भी सम्पूर्ण अस्तित्व मिलाकर एक ही है।

गुरुदेवश्री ने ४७ शक्तियों को समझाते हुए यह कहा है कि सत्तागुण का रूप सब में है; जिसकी वजह से वह सब में है। सत्ता तो स्वयं से सत्तास्वरूप है। शेष सभी गुण सत्ता का रूप उनमें होने से सत्तास्वरूप हैं। ज्ञान का अस्तित्व है, चारित्र का अस्तित्व है। उनमें अस्तित्व गुण का रूप होने से सभी गुणों का अस्तित्व है।

सत्ता प्रतिसमय होनेवाले उत्पाद व व्यय में स्थित है। सत्ता प्रत्येक द्रव्य, गुण एवं पर्यायों में व्याप्त है।

अब प्रकरण यह है कि सत्ता प्रत्येक द्रव्य में व्याप्त है; परंतु हमारी सत्ता व अन्य द्रव्य की सत्ता पृथक् है - इसका क्या आशय है ?

सत्ता प्रत्येक द्रव्य में है, इसमें सत्ता नामक जाति की विवक्षा है एवं जो पृथक् है - ऐसा कहा इसमें सत्ता नामक शक्ति की विवक्षा है।

सब द्रव्यों में सत्ता नामक गुण है; परंतु आत्मा के सभी गुणों में सत्ता नामक एक ही गुण है। आत्मा की सभी पर्यायों में एक ही सत्ता गुण है। इसप्रकार सादृश्यास्तित्व व स्वरूपास्तित्व के अंतर को समझना।

स्वरूपास्तित्व नामक जो सत्ता है, वह एक ही है। वह हमारे सम्पूर्ण द्रव्य, गुणों में व्याप्त होती है; लेकिन सादृश्यास्तित्व नामक जो अस्तित्व है - ऐसी वह महासत्ता सभी द्रव्यों में व्याप्त है। वह एक नहीं है, अनेक है। आचार्य ने जाति के अपेक्षा उसे एक है - ऐसा कहा है। इसे ही टीका में अमृतचन्द्राचार्य उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट करते हैं -

‘विभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्व का लक्षण है। वह तो सत्ता और द्रव्य में सम्भव नहीं है; क्योंकि गुण और गुणी में विभक्तप्रदेशत्व का अभाव होता है - शुक्लत्व और वस्त्र की भाँति।’

सफेद वस्त्र और सफेदी का अस्तित्व है; परन्तु क्या दोनों भिन्न हैं ? यदि दोनों भिन्न होते तो सफेदी को ले जाने के बाद भी वस्त्र की सत्ता होनी चाहिए। शरीर के परमाणु व आत्मा इनका अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। शुक्लत्व अर्थात् शुभ्र व वस्त्र की भाँति शरीर के परमाणु यहीं पड़े रह जाते हैं और आत्मा चला जाता है।

वह इसीप्रकार है कि जो शुक्लत्व के गुण व प्रदेश हैं; वे ही गुण व प्रदेश वस्त्र के हैं; इसलिए उनमें प्रदेशभेद नहीं हैं।

इसीप्रकार जो सत्ता गुण के प्रदेश हैं, वे ही गुणी द्रव्य के प्रदेश हैं; इसलिए उनमें प्रदेशभेद नहीं है। ऐसा होने पर भी सत्ता व द्रव्य में अन्यत्व है। सत्ता व द्रव्य में अन्यत्व लक्षण - ‘अतद्भाव’ पाया जाता है; इसलिए उनमें अन्यत्व है; क्योंकि गुण व गुणी में तद्भाव का अभाव होता है शुक्लत्व व वस्त्र की भाँति।

‘वह इसप्रकार है जैसे चक्षु इन्द्रिय के विषय में आनेवाला व एक अन्य इन्द्रियों के विषय को गोचर न होनेवाला शुक्लत्व गुण है; वह समस्त इन्द्रिय समूह को गोचर होनेवाला ऐसा वस्त्र नहीं है।’

टीका की इन पंक्तियों के माध्यम से आचार्य कह रहे हैं कि सफेदी व वस्त्र दोनों में फर्क यह है कि सफेदी मात्र चक्षुइन्द्रिय के गोचर हैं, जबकि वस्त्र चक्षु इन्द्रिय सहित समस्त इन्द्रियों के गोचर है।

ग्यारहवाँ प्रवचन

आचार्य जयसेन प्रवचनसार परमागम के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनमहाधिकार को सम्यग्दर्शनाधिकार कहते हैं; क्योंकि वे ऐसा मानते हैं कि ज्ञेयतत्त्व को सही रूप में जाने बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनमहाधिकार में सर्वप्रथम सामान्यज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापनाधिकार है। ज्ञान का ज्ञेय बननेवाले जगत के सभी पदार्थों का सामान्य स्वरूप अर्थात् सबमें पाया जानेवाला स्वरूप क्या है ? यह बताया जायेगा इस अधिकार में।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त एवं गुण-पर्यायों से संयुक्त होना ही सभी ज्ञेयों का सामान्य स्वरूप है; जो सभी ज्ञेयों में समानरूप से विद्यमान है।

प्रत्येक द्रव्य का जो विशेष स्वरूप है, उसे विशेषज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापना-धिकार में लेंगे। तत्पश्चात् ज्ञेय व ज्ञान में विभाग का अधिकार लेंगे; जिसे आचार्यदेव ने ज्ञेय-ज्ञानविभागाधिकार नाम दिया है।

सामान्यज्ञेयप्रज्ञापनाधिकार में अभीतक महासत्ता और अवान्तरसत्ता की चर्चा हुई। अवान्तरसत्ता अर्थात् स्वरूपास्तित्व। प्रत्येक द्रव्य का अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की सीमा में रहना ही स्वरूपास्तित्व है।

अपने ज्ञान और दर्शन गुण में परस्पर अतद्भाव है। एक द्रव्य के दो गुणों के मध्य अतद्भाव होता है; परन्तु दो द्रव्यों के मध्य अतद्भाव नहीं होता, अत्यन्ताभाव होता है। जिसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावरूप चतुष्टय भिन्न-भिन्न हों, उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं।

पर्यायों के मध्य परस्पर अतद्भाव होता है। गुणों के मध्य परस्पर अतद्भाव होता है। द्रव्य और गुण के मध्य भी परस्पर अतद्भाव होता है, गुण और पर्याय के मध्य परस्पर अतद्भाव होता है। द्रव्य और पर्याय

के मध्य भी अतद्भाव होता है; परन्तु दो द्रव्यों के मध्य अत्यन्ताभाव होता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि एक द्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्यायों के बीच परस्पर अतद्भाव और दो द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव होता है।

इसके संदर्भ में गुरुदेवश्री का एक प्रभावी वाक्य है - 'भावे भेद छे'। इसका अर्थ यह है कि द्रव्य-क्षेत्र एवं काल की अपेक्षा भेद नहीं है, मात्र भाव की अपेक्षा भेद है। ऐसे भेद को अतद्भाव कहते हैं और जहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव - चारों की अपेक्षा भेद हो, वहाँ अत्यन्ताभाव होता है।

जिनवाणी में 'भाव' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव - इन चारों को मिलाकर भी भाव शब्द का प्रयोग होता है और तीन को छोड़कर अकेले भाव के अर्थ में भी भाव शब्द का प्रयोग होता है।

अतः जहाँ 'भाव' शब्द का प्रयोग हो, वहाँ उसका अर्थ समझने/करने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त भाव शब्द का प्रयोग आत्मा में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषादिक भावों के लिए भी किया जाता है। जब ऐसा कहा जाता है कि जिसके जैसे भाव होंगे, उसकी गति भी वैसी ही होगी; तब वहाँ प्रयुक्त भाव शब्द राग-द्वेष भाव के अर्थ में ही समझना चाहिए।

ऐसे ही परिणाम शब्द हैं, जिसके अनेक अर्थ होते हैं। परिणाम मात्र परिवर्तन को ही नहीं कहा जाता; अपितु द्रव्य और गुणों को भी परिणाम कहा जाता है।

विशेषतः प्रवचनसार के इस प्रकरण में आगे इसकी चर्चा है कि उत्पाद भी परिणाम है, व्यय भी परिणाम है और ध्रौव्य भी परिणाम है।

हमारी इन शब्दों के अर्थ में जो संकुचित दृष्टि हुई है, उसके कारण हम एक विशिष्ट अर्थ में ही इन शब्दों का अर्थ समझते हैं।

इसकारण भी वस्तुस्वरूप का मर्म हमारे ख्याल में नहीं आ पाता। हम पर्याय शब्द का भी सीमित अर्थ ग्रहण करते हैं; जबकि पर्याय शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत है।

पूर्व प्रकरण में पर्याय की चर्चा हो चुकी है। एक व्यंजनपर्याय है, जो दो द्रव्यों की मिली हुई पर्याय है। यहाँ पर्याय शब्द से 'मनुष्य पर्याय तिर्यचपर्याय' यह अर्थ लिया जाता है और कहीं-कहीं गुण को भी पर्याय कहा जाता है। सहभावी पर्याय गुण ही तो है।

शास्त्र में इस बात की विस्तार से चर्चा है कि आत्मा क्रम और अक्रम से प्रवर्तमान पर्यायों का पिण्ड है। यहाँ अक्रम का अर्थ गुण है एवं क्रम का अर्थ पर्याय है। इसप्रकार शास्त्रों में गुण के अर्थ में पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है।

शास्त्रों में प्रदेशभेद और गुणभेद को भी पर्याय कहा है।

इसका कारण यह है कि जो-जो पर्यायार्थिकनय का विषय बनता है; उन सभी की जिनवाणी में पर्याय संज्ञा है। तथा जो-जो द्रव्यार्थिकनय का विषय बनता है; उन सभी की द्रव्य संज्ञा है। गुणभेद एवं प्रदेशभेद - दोनों पर्यायार्थिकनय के विषय हैं; अतः उन्हें पर्याय कहा जाता है।

अब, प्रवचनसार की ९९वीं गाथा के भावार्थ पर विचार करते हैं।

भावार्थ इसप्रकार है - "प्रत्येक द्रव्य सदा स्वभाव में रहता है इसलिए 'सत्' है। वह स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप परिणाम है। जैसे द्रव्य के विस्तार का छोटे से छोटा अंश वह प्रदेश है; उसीप्रकार द्रव्य के प्रवाह का छोटे से छोटा अंश वह परिणाम है।

प्रत्येक परिणाम स्व-काल में अपने रूप से उत्पन्न होता है, पूर्वरूप से नष्ट होता है और सर्व परिणामों में एकप्रवाहपना होने से प्रत्येक परिणाम उत्पाद-विनाश से रहित एकरूप-ध्रुव रहता है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में समयभेद नहीं है। तीनों ही एक ही समय में हैं। ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणामों की परम्परा में द्रव्य स्वभाव से ही

सदा रहता है; इसलिए द्रव्य स्वयं भी, मोतियों के हार की भाँति, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।"

यहाँ 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणामों' - ऐसा कहकर परिणाम का स्वरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है - यह स्पष्ट किया है।

अभी ऐसे कई लोग हैं जो मात्र उत्पाद एवं व्यय को ही परिणाम मानते हैं तथा ध्रौव्य को उससे पृथक् करते हैं। वे कहते हैं कि ध्रौव्य तो द्रव्य है एवं उत्पाद-व्यय पर्याय हैं; इसलिए परिणाम हैं।

परन्तु यहाँ यह स्पष्ट लिखा है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणाम अर्थात् उत्पादात्मक परिणाम, व्ययात्मक परिणाम एवं ध्रौव्यात्मक परिणाम। देखो, यहाँ उत्पाद और व्यय के साथ-साथ ध्रुवता को भी परिणाम कहा है।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य यह द्रव्य का स्वभाव है; परन्तु हम यह मानते हैं कि उत्पाद-व्यय पर्याय हैं एवं वे पर्याय के स्वभाव हैं, द्रव्य के स्वभाव नहीं हैं। कई लोग इसी की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि पलटना तो पर्याय का काम है।

प्रवचनसार को समझने से पूर्व यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि पलटना न द्रव्य का कार्य है और न ही पर्याय का; प्रत्युत पलटना वस्तु का स्वभाव है, क्योंकि वस्तु स्वयं परिणमनशील है।

वस्तु का स्वभाव पलटकर भी नहीं पलटना है और नहीं पलटकर भी पलट जाना है।

यदि वस्तु पलटने रूप ही होती तो अनादि की होती ही नहीं; क्योंकि वह कभी की नष्ट हो गई होती, पलट गई होती; पर उसमें नित्यता भी है, जो अनादि से है। आचार्य कहते हैं कि नित्यत्व और अनादित्व इनका संयोग है। जो वस्तु अनादि होगी, वही नित्य होगी और जो नित्य होगी, वही अनादि होगी।

अब आचार्य कहते हैं कि यदि वस्तु अर्थात् आत्मा पलटती नहीं होती तो फिर निगोद में ही होती, आज मनुष्यगति में नहीं आ पाती।

अतः ये जो पलटनेवाला स्वभाव है, जिसे कुछ मुमुक्षु अपना स्वभाव ही मानने को तैयार नहीं हैं, जिसे वे हीन दृष्टि से देखते हैं; उन्हें यह समझना जरूरी है कि उस स्वभाव के कारण ही तुम निगोद से निकलकर यहाँ तक आए हो एवं उसी स्वभाव के कारण इस संसार से निकलकर मोक्ष में जाओगे। इसलिए मैंने लिखा है कि -

जब अनित्यता वस्तु धर्म तो क्योंकर दुःखकर हो सकती।

और जब स्वभाव ही दुःखमय हो सुखमयी कौनसी हो शक्ती।।

इस भगवान आत्मा में ४७ शक्तियों में से एक उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व नामक शक्ति भी है। वह शक्ति अनादि-अनंत है, वह शक्ति आत्मा का स्वभाव है।

जब उत्पाद-व्यय-ध्रुव्यरूप होना आत्मा का स्वभाव है; तब पलटना आत्मा के लिए दुःखकर कैसे हो सकता है ?

तब वे कहते हैं कि गुरुदेवश्री ने कहा है कि यह आत्मा पर से भिन्न है, पर्याय से भिन्न है और अब आप कह रहे हो कि पर्याय अर्थात् पलटना वस्तु का स्वभाव है।

यह मतभेद नहीं, विवक्षा की भिन्नता है। परिवर्तनशील अंश पर दृष्टि केन्द्रित रहने से दृष्टि में अस्थिरता बनी रहती है। परिवर्तनशील अंश में अपनत्व स्थापित करने से सदा दुःख के ही प्रसंग बनते हैं। यह परदेशी की प्रीति जैसा है; क्योंकि परदेशी चार दिन रहकर फिर जानेवाला है। उससे प्रेम करनेवाले तो दुःखी ही होनेवाले हैं; इसलिए उससे राग करने का, उसमें अपनत्व स्थापित करने का निषेध है।

इसीप्रकार यहाँ विवक्षा विशेष से पर्याय का निषेध किया गया है। निषेध तो एक विशिष्ट पर्याय का ही किया गया है, परिणमन का निषेध नहीं किया गया है, परिणमनस्वभाव का निषेध नहीं किया गया है।

परिणमन वस्तु का स्वभाव है। उत्पाद और व्यय स्वभाव हैं। जिसका उत्पाद हुआ है, वह नष्ट भी होगा। वस्तु में से उत्पाद-व्यय का नाश नहीं होता है। वस्तु में जो उत्पाद हुआ है, नाश उसका होता है। उत्पाद तो अगले समय में फिर होता है। इसे हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं।

एक माता के पुत्र हुआ और वह उत्पन्न होते ही प्रसव के दौरान ही मर गया। उत्पन्न हुआ पुत्र मर गया है; परन्तु अभी उस माँ में पुत्र उत्पन्न करने की जो शक्ति है; वह तो नहीं मरी। अभी जब उसकी उत्पादन क्षमता नष्ट नहीं हुई तो उत्पाद कहाँ नष्ट हुआ ? उसमें जो राग उत्पन्न हुआ था, वह राग नष्ट हुआ है; उत्पाद तो अभी भी कायम है। अगले समय में वीतरागता का उत्पाद होता है। उत्पाद तो राग में भी है और वीतरागता में भी है। उत्पादकत्व और व्ययत्व का नाश नहीं हुआ; उत्पाद और व्यय तो प्रतिसमय होंगे।

पर्याय जो एकबार चली गई; अब वह उस पर्याय के रूप में पुनः कभी नहीं आएगी; किन्तु केवली के ज्ञान में तो वह खचित है, विद्यमान ही है। स्वकाल में वह पर्याय खचित है; परंतु अब न वह काल आएगा और न ही वह पर्याय।

सर्वज्ञ भगवान की वाणी से जो तत्त्व समझा जाता है, उसमें जो मर्म होता है, गहराई होती है, सत्यार्थता होती है; वह सत्यार्थता अपनी कल्पना से समझने में नहीं आ सकती।

पूज्य गुरुदेवश्री ने क्रमबद्धपर्याय को आगम के आधार से समझा और समझाया और अब यही सिद्धान्त वैज्ञानिकों की समझ में भी आ रहा है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भूत-वर्तमान-भविष्य निश्चित है; परन्तु इस निष्कर्ष में उन्हें सर्वज्ञ का सहारा नहीं था। उन्होंने अपनी ही बुद्धि से कल्पना के माध्यम से इस जगत को देखा; जिसमें एक बहुत बड़ी भूल हुई है।

जब मैं अमेरिका गया; तब लोगों ने मुझे एक अमेरिकन फिल्म का

विशिष्ट भाग दिखाया। उस फिल्म की कथा यह थी कि एक व्यक्ति किसी कारणवश कालचक्र में उल्टा घूम जाता है। कालचक्र तो सीधा घूमता है; लेकिन वह उल्टा घूमने लगता है। वह व्यक्ति ६० वर्ष का था; परंतु कालचक्र के विपरीत परिणमन से वह व्यक्ति ३० वर्ष का हो जाता है। इस पूरी फिल्म में उस नायक के जीवन में ३० से ६० वर्ष तक घटित सभी घटनाओं का चित्रण किया गया है। बाद में इन्हीं घटनाओं को फिर से दोहराया गया है।

अब, वह नायक मानसिक रूप से तो ६० वर्ष का है; लेकिन शारीरिक रूप से ३० वर्ष का हो गया है तो उसे देखकर उसकी प्रेमिका उस पर मोहित हो जाती है। फिर ३० वर्ष पूर्व की घटनाओं को पुनः प्रस्तुत किया गया है; परंतु नायक उन घटनाओं में सहज नहीं रह पाता है।

इस उदाहरण के माध्यम से मैं यह कहना चाहता हूँ कि उन्होंने कालचक्र को परिणमनशील और सुनिश्चित तो बताया; परन्तु उसे दोहराया अर्थात् एक बार घटित कालचक्र उल्टा भी घूम सकता है - ऐसा कहकर उन्हीं घटनाओं को पुनः प्रस्तुत किया।

सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार कालचक्र परिणमनशील है; परंतु वह उल्टा नहीं घूम सकता। सर्वज्ञ के ज्ञान में तो ऐसा नहीं आया है कि कालचक्र रिपीट भी हो सकता है। यह मरकर दूसरा भव धारण कर सकता है; लेकिन इसी भव में ६० वर्ष का व्यक्ति ३० वर्ष का नहीं हो सकता है। पाश्चात्य विद्वानों ने सर्वज्ञ से यह सिद्धान्त समझ लिया होता तो वे ऐसी भूल नहीं करते।

अब मैं जब विदेश जाता हूँ तो वे लोग कहते हैं कि देखो इसमें आपकी क्रमबद्धपर्याय को समझाया है। वे लोग इस फिल्म को गाँव-गाँव में दिखाते भी हैं। कई व्यक्तियों ने इसपर लेख भी लिखें। तब मैंने उनसे कहा कि भाई! यह सर्वज्ञ भगवान की क्रमबद्धपर्याय नहीं है; इसमें

उक्त भूल है।

इससे ही संबंधित और एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि जिन लोगों को जातिस्मरण हो जाता है; उनका चित्त विभक्त हो जाता है।

उन्हें भूतकाल की जिस पर्याय का जातिस्मरण हुआ है; वह पर्याय वर्तमान में पुनः कभी आनेवाली नहीं है, वे संयोग पुनः कभी प्रगट होंगे ही नहीं; परन्तु जिसे जातिस्मरण हुआ है; उसका चित्त उन्हीं संयोगों में उलझता है। इसप्रकार उसका चित्त विभक्त हो जाता है। इससे उसे कुछ भी लाभ नहीं होता।

आज यदि हमें जातिस्मरण हो जावे और पूर्वभव में हम कैसे थे, कहाँ थे ? यह पता चल जावे; तब हम आधे वर्तमान जीवन में रहेंगे और आधे पूर्वभव में। यहाँ रहें कि वहाँ रहें कुछ समझ में ही नहीं आएगा।

सबसे बड़ी समस्या तो तब खड़ी होती है; जब वे संयोग कदाचित् अभी भी विद्यमान हों; लेकिन वे उसी रूप में तो होंगे नहीं।

किसी दो वर्ष के बालक को जातिस्मरण हो जाय और वह पचास वर्ष की विधवा महिला की ओर संकेत करके कहे कि यह मेरी पत्नी है; तो क्या होगा ?

कहने का आशय यह है कि क्या वह बालक उस महिला से पत्नी के रूप में और वह महिला उस बालक से पतिरूप में व्यवहार कर सकती है ? हानि के अतिरिक्त इसमें कुछ भी होनेवाला नहीं है।

लोक में वही पर्यायें पुनः नहीं आ सकती हैं; लेकिन वे हमारे ज्ञान में आ सकती हैं; पर यदि वे ज्ञान में भी आए तो भी क्षयोपशमज्ञानवालों को, रागी जीवों को उनसे कुछ लाभ होनेवाला नहीं है।

रागी जीवों का चित्त इससे विभक्त ही रहनेवाला है।

जो वीतरागी-परमात्मा सर्वज्ञ भगवान हुए हैं, उन्हें अनन्त भूतकाल की पर्यायें ज्ञान में आती हैं; लेकिन उससे उन्हें कोई समस्या नहीं है;

क्योंकि उन पर्यायों के साथ उनका कोई रागात्मक संबंध ही नहीं है।

संबंध दो प्रकार के होते हैं – एक पर को अपना माननेरूप संबंध एवं दूसरा पर से राग करनेरूप संबंध – दोनों प्रकार के संबंध जब पूर्णरूप से टूटे; तभी केवलज्ञान प्रगट होता है।

जब पर को अपना माननेरूप मान्यता टूटती है, राग-द्वेष का परिणाम खत्म होता है; तब पूर्व भव के अनंत माँ-बाप दिखाई दे तो भी कुछ हानि नहीं है। यदि केवलज्ञान के पूर्व पूर्व भव के अनंत माँ-बाप दिखाई दिए तो समस्या उत्पन्न हो सकती है। सम्यग्दर्शन के बाद भी यदि ऐसा हो तो भी गड़बड़ी खड़ी हो सकती है। सम्यग्दर्शन के पूर्व यदि सर्वज्ञता होगी तो अपनत्व का चक्कर खड़ा होगा एवं सम्यग्दर्शन के बाद यदि सर्वज्ञता होगी तो राग-द्वेष की समस्या उत्पन्न होगी।

अतः जैनदर्शन में ऐसी अद्भुत वस्तुव्यवस्था है कि जिसमें यह निहित है कि सर्वज्ञता तभी प्रगट होगी; जब एक समय पूर्व वीतरागी हो जाए। उससे पूर्व सर्वज्ञता प्रगट नहीं हो सकती है।

इस गाथा में प्रदेशों के क्रम के माध्यम से पर्यायों का क्रम समझाया गया है; क्योंकि वर्तमान में विद्यमान होने से प्रदेशक्रम की बात आसानी से समझी जा सकती है; पर पर्यायों की क्रमबद्धता को समझना आसान नहीं है; क्योंकि भूत की पर्यायें नष्ट हो गई हैं और भविष्य की पर्यायें अभी प्रगट नहीं हुई हैं।

ये तीनों काल की पर्यायें केवलज्ञान में विद्यमान हैं, केवलज्ञानगम्य हैं; इसलिए वे हमारे लिए सूक्ष्म हैं; परन्तु प्रदेशवाली पर्याय अर्थात् असंख्य प्रदेश वर्तमान काल में मौजूद हैं; उन्हें आसानी से जाना जा सकता है; इसलिए वे हमारे लिए स्थूल हैं।

एक रूमाल में एक हजार सूत्र (डोरे) हैं; जो दाएँ से बाएँ गुँथे हुए हैं। क्या एक नंबर के सूत्र (डोरा) को हजार नम्बर के सूत्र तक ला सकते हैं? यदि उसे वहाँ लाएँगे तो रूमाल फट जाएगा।

इसीप्रकार द्रव्य के एक प्रदेश को उसके स्थान पर से हटाकर दूसरे

स्थान पर लेंगे तो उस द्रव्य के ही दो टुकड़े हो जाएँगे। द्रव्य में जो असंख्यात प्रदेश खचित हैं; वे जिस स्थान पर हैं, उन्हें उसी स्थान पर रखना अनिवार्य है – यह सिद्धान्त है।

रूमाल को घड़ी करके रखते हैं तो उसे पुनः फैला भी सकते हैं। ऐसे ही भगवान आत्मा फैलता भी है एवं सिकुड़ता भी है।

जब यह आत्मा संकुचित होता है तो सबसे छोटी अवगाहना में रह जाता है और जब विस्तार को प्राप्त होता है तो लोकालोक में फैल जाता है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर इसके एक-एक प्रदेश छा जाते हैं।

जिसप्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य – इसप्रकार गुणों के नाम हैं; वैसे प्रदेशों के ऐसे कोई नाम नहीं हैं; लेकिन फिर भी हम उनमें भेद कर सकते हैं।

हम यह भी कह सकते हैं कि ये पूर्व दिशावाले प्रदेश हैं; ये उत्तरवाले प्रदेश हैं और इनका फैलाव पश्चिम की तरफ है। उनमें एक सुनिश्चित व्यवस्थित क्रम है; परंतु शास्त्रों में उनका कोई विशिष्ट नाम नहीं दिया है; क्योंकि उससे कोई प्रयोजन भी नहीं है।

गुणों के परिणमन में प्रयोजन है – एक जानने का काम करता है, एक देखने का काम करता है, एक श्रद्धा, एक आनंद का काम करता है। इसप्रकार भिन्न-भिन्न गुणों के भिन्न-भिन्न कार्य हैं; इसलिए वहाँ नाम बताना जरूरी है; लेकिन प्रदेशों के इसप्रकार अलग-अलग नाम नहीं हैं और उनके नाम बताने की जरूरत भी नहीं है।

अब, वह जो आत्मा के असंख्यातलोक प्रमाण प्रदेश हैं; केवली समुद्घात के समय जो लोकालोक के एक-एक प्रदेश पर एक-एक अवस्थित हो जाते हैं; क्या उनके क्रम को बदला जा सकता है?

जब आत्मा लोकाकाश में फैलेगा तो आत्मा के मध्य के आठ प्रदेश और सुमेरु पर्वत के मध्य के आठ प्रदेश अथवा परमाणु उन दोनों का एक ही स्थान होगा।

लोकाकाश के प्रदेश नहीं बदले जा सकते हैं, वे जहाँ हैं, वहीं

रहेंगे। जयपुर के प्रदेश जयपुर में और दिल्ली के प्रदेश दिल्ली में ही रहेंगे। जयपुर को दिल्ली की जगह और दिल्ली को जयपुर की जगह नहीं रख सकते। प्रदेश तो बदले नहीं जा सकते हैं; लेकिन अपनी मन की कल्पना से जयपुर का नाम दिल्ली रख दो और दिल्ली का नाम जयपुर रख दो; पर यह मन की कल्पनामात्र होगी, वास्तविक नहीं।

हमने फैले हुए रूमाल को समेट लिया, समेटते समय भी उनका क्रम नहीं बदला है। जिस सूत्र (डोरा) के पास जो सूत्र था; वह उसी सूत्र के पास है, उसका क्रम नहीं बदला है।

ऐसे ही संकोच अवस्था में आत्मा के प्रदेश नहीं बदलते; वे जिस क्रम में सुव्यवस्थित थे, अभी भी वे उसी क्रम में व्यवस्थित हैं।

जिसप्रकार प्रदेशों का क्रम नहीं बदला जा सकता है; उसीप्रकार पर्यायों का क्रम भी नहीं बदला जा सकता। यह विस्तार-सामान्य है और वह आयत-सामान्य है। यह तिर्यक् सामान्य है और वह उर्द्धता सामान्य है। प्रदेशों के क्रम को विस्तारक्रम कहते हैं और पर्यायों के क्रम को प्रवाहक्रम कहते हैं।

प्रत्येक वस्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमय है। आचार्य समंतभद्र आप्तमीमांसा में घोषणा करते हैं -

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।

असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व स्वरूपचतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव से है। आत्मा द्रव्य है, अनंत गुण आत्मा के स्वभाव हैं। अनादि-अनंत पर्यायें द्रव्य का स्वकाल है और असंख्यप्रदेश द्रव्य का स्वक्षेत्र है।

जैसे द्रव्य को नहीं भेदा जा सकता है; वैसे ही द्रव्य के क्षेत्र को भी नहीं भेदा जा सकता है। द्रव्य के क्षेत्र को भेदा नहीं जा सकता है का तात्पर्य यह है कि प्रदेश पलटे नहीं जा सकते हैं। जिसप्रकार उसके एक

गुण को भी कम नहीं किया जा सकता है, जिसप्रकार उसका स्वभाव नहीं पलटा जा सकता; उसीप्रकार उसका स्वकाल भी नहीं पलटा जा सकता है। अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक प्रत्येक गुण की एक-एक पर्याय एक-एक क्षण में खचित है।

द्रव्यपर्याय, गुणपर्याय इत्यादि जो भी पर्यायें हैं; वे सब सुनिश्चित हैं - यही क्रमबद्धपर्याय है। आचार्य कहते हैं कि जैसे प्रदेश नहीं पलटे जा सकते हैं, वैसे ही पर्यायें भी नहीं पलटी जा सकती है। इसका नाम है क्रमबद्धपर्याय।

इसप्रकार इस १९वीं गाथा से क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि होती है।

आगे १०२वीं गाथा में आचार्य ने पर्याय के जन्मक्षण और नाशक्षण को स्पष्ट किया है; जिसका उल्लेख गुरुदेवश्री बहुत करते थे।

इसमें हमारी समस्या यह है कि जब हम काल की चर्चा करते हैं तो हमारा ध्यान कालद्रव्य की तरफ आकृष्ट होता है; लेकिन निश्चयकाल हमारे ख्याल में नहीं आता है। हमारा ध्यान मात्र व्यवहारकाल की तरफ ही चला जाता है; लेकिन यहाँ जिस काल की चर्चा चल रही है; वह हमारा काल है; इसलिए इसे स्वकाल कहा है। यह पर्यायों की क्रमबद्धता है।

समयसार परमागम में आचार्य ने यह भावना भाई है कि - न द्रव्येन खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि। तात्पर्य यह है कि मैं चारों ओर से अखण्ड हूँ और अखण्ड रहूँ।

सिखों में दो दल हैं - अकाली दल एवं निरहंकारी दल।

अकाली दल से उनका तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा काल से खण्डित नहीं होता है। ऐसा माननेवाले अकाली दल में हैं। वे कहते हैं कि धर्म पर काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

लोग यह कहते हैं कि अब समय बहुत बदल गया है, अब पुराना

धर्म काम नहीं आएगा, अब धर्म के नियम बदलने पड़ेंगे। काल का प्रभाव सब पर होता है। काल सभी को खा जाता है; परन्तु अकाली दलवाले ऐसा नहीं मानते। वे कहते हैं कि जिसको काल नहीं खाता है, जो काल से अप्रभावी है; धर्म वह है। अग्नि हजार वर्ष पूर्व भी गर्म होती थी, आज भी गर्म है तथा अनंतकाल बाद भी गर्म ही रहेगी; क्योंकि उस पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता है। इसलिए वे कहते हैं कि हम उस धर्म के उपासक हैं; जिसपर काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

तात्पर्य यह है कि जो परिस्थितियों से बदल जाय, वह धर्म नहीं है। पहले अहिंसा धर्म था तो क्या आज हिंसा धर्म हो जाएगा ? पहले अनेकांत धर्म था तो क्या आज एकान्त धर्म हो जाएगा ?

निरहंकारी वे हैं, जो अहं नहीं करते हैं अर्थात् स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब-सम्पत्ति ये सब मेरे हैं - इसप्रकार का अहं (घमण्ड) नहीं करते हैं।

घमण्ड तो अहंकार का बहुत स्थूल अर्थ है। जैनदर्शन में भी ऐसा ही है कि 'मैं देह हूँ' - ऐसी अहंबुद्धि ही अहंकार है, यह अहंबुद्धि ही मिथ्यात्व है। पर मैं एकत्व करना ही अहं करना है। जिन्होंने पर में से एकत्व तोड़ दिया है, जिन्होंने एकमात्र भगवान आत्मा में एकत्व स्थापित किया है; वे निरहंकारी हैं।

यदि उक्त व्याख्या को सही माने तो हम भी अकाली हैं, निरहंकारी हैं।

वस्तु के स्वरूप पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता है अर्थात् 'न कालेन खण्डयामि' इसलिए हम अकाली हैं। इसप्रकार हम दोनों ही दलवाले हैं, हम अकाली भी हैं और निरहंकारी भी हैं।

प्रतिसमय परिवर्तन होना ये मेरा धर्म है, मेरा गुण है, मेरा स्वभाव है। यह मेरी पर्याय नहीं है; क्योंकि पर्याय तो उसका नाम है, जो चली जाती है; परन्तु यह मेरा स्वभाव नाशवान नहीं है।

नाशवान तो वह है, जिसका उत्पाद हुआ था; लेकिन उत्पादकत्व शक्ति (उत्पाद होना) का नाश नहीं हुआ है। इसे समझने से बहुत बड़ा

आश्वासन/सम्बल मिलता है।

किसी माता का पुत्र उत्पन्न होते ही मर गया तो वह माता बहुत उदास हो जाती है। तब उस माता को आश्वासन देते हुए सभी समझाते हैं कि - 'हो गया सो हो गया। अभी तू वृद्ध थोड़े ही हो गई।'।

इसका आशय यह है कि अभी इस माता की उत्पादन क्षमता थोड़े ही समाप्त हो गई। अभी यह एवं इसका पति जीवित है तो दूसरा पुत्र उत्पन्न हो जाएगा, चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसप्रकार लोग उस माता को आश्वासन देते हैं।

ऐसे ही आचार्य यह कह रहे हैं कि जिसका उत्पाद हुआ है, उसका व्यय हुआ है; परन्तु उत्पादस्वभाव का व्यय थोड़े ही हुआ है, वह तो प्रतिसमय निरंतर चल रहा है। व्यय तो उसका हुआ है, जिसका उत्पाद हुआ था। राग का उत्पाद हुआ था एवं अब उसका ही व्यय भी हुआ; परन्तु मेरी उत्पाद-व्यय शक्ति थोड़ी चली गई, वह तो अभी भी कायम है।

उत्पाद-व्यय की ध्रुवता ही ध्रौव्य है। यह भगवान आत्मा कभी नहीं पलटता है - ऐसी नित्यता भी भगवान आत्मा में है। एवं यह भगवान आत्मा सदा पलटता है - ऐसी अनित्यता भी इसमें नित्य है। यदि वह अनित्यता सर्वथा अनित्य ही होती तो वह समाप्त हो गई होती और हम मात्र नित्य ही रह जाते; परन्तु अनित्यता अनादिकाल से है एवं अनंतकाल तक वैसी की वैसी रहेगी, कभी समाप्त नहीं होगी। वस्तु के स्वभाव में से अनित्यत्व धर्म नहीं निकल सकता है।

गुरुदेवश्री इसके मर्म को जिसप्रकार समझाते हैं, वह बड़ा ही मार्मिक है। वे कहते हैं - 'पर्यायें निकल गई, परन्तु पर्याय प्रतिसमय द्रव्य में से निकले - ऐसा द्रव्य का स्वभाव तो नहीं निकल गया।'।

हम इसे इस रूप में भी समझ सकते हैं। हमारी ज्ञानपर्याय एकसमय में भगवान आत्मा को जान सकती है। सैनी पंचेन्द्रिय अपनी आत्मा का अनुभव कर सकता है। अभी भी हममें प्रतिसमय ऐसी ज्ञानपर्याय का उत्पाद हो रहा है, जिससे हम भगवान आत्मा को जानने में समर्थ हैं।

प्रत्येक सैनी पंचेन्द्रिय के क्षयोपशमज्ञान में इतनी क्षमता है कि वह अपनी आत्मा को जान सकता है। उसमें प्रतिसमय ऐसे ज्ञान का उत्पाद होता रहता है।

एक बालक को बीस रुपए दिए, तब वह तुरंत बाजार में जाकर कुल्फी खाता है। इससे उसके दाँत भी खराब होते हैं और पेट भी खराब होता है। उसी बीस रुपयों से वह बालक मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ भी खरीद सकता था। उस पैसे का वह सदुपयोग भी कर सकता था।

ऐसे ही यहाँ आचार्य कह रहे हैं कि जिस क्षयोपशमज्ञान से इस जीव ने विषय-कषाय को जाना है, राग-द्वेष को जाना है; उसी क्षयोपशम ज्ञान से यह जीव भगवान आत्मा को जानता है, जान सकता है। इसमें प्रतिसमय इतना ज्ञान उत्पन्न हो रहा है कि जिससे भगवान आत्मा को जाना जा सकता था।

आत्मा को नहीं जानकर और अप्रयोजनभूत पदार्थों को जानकर इस जीव ने ज्ञान की बर्बादी ही की है।

जब इस जीव को यह पता चलता है तो वह भयभीत हो जाता है; और वह सोचता है कि ज्ञान की इतनी बर्बादी; हाय राम ! मैं तो लुट गया।

यह जीव भयभीत न हो इसके लिए मेरा दूसरा महामंत्र यह है कि हे जीव! तेरा ज्ञान जितना बर्बाद हो गया, उसके लिए तू व्यर्थ शोक क्यों करता है? अभी भी वर्तमान में प्रतिसमय ऐसी नूतन ज्ञानपर्याय उत्पन्न हो रही है, जो भगवान आत्मा को जान सकती है। अतः व्यर्थ चिन्ता मत कर।

एक व्यक्ति के यहाँ इन्कमटैक्स का छापा पड़ गया। जो करोड़ों रुपए रखे थे; वे सब ले गए। नौ गाड़ियाँ एवं नौ मकान सरकार ने जब्त कर लिए। तब यह बहुत शोक मनाता है। इससे पूछते हैं कि वे क्या छोड़ गए, तब यह कहता है - 'एक मकान जिसमें हम रहते थे, एक गाड़ी जिसमें मैं बैठा था, एक दुकान और चालू खाता छोड़ गए, बाकी सब

सील कर दिया।

इसपर इससे कहते हैं कि तुम व्यर्थ शोक क्यों मनाते हो? जो तू भोगता था, वह सब छोड़ गए हैं; बल्कि जो बिल्कुल बंद था; तेरे उपभोग में नहीं आता था, उसे ले गए हैं। अभी तो कुछ नहीं गया है। तुम्हारे भोग में तो कुछ भी अंतर नहीं पड़ रहा है। बेडरूम, रसोई सबकुछ तो वैसा का वैसा ही है।

जिन चीजों को यह सम्हाल नहीं सकता था; जो इसके लिए व्यर्थ थी, इसके उपयोग में नहीं आती थीं और उपयोग को खाती थीं, उन्हें सील करके इन्कमटैक्सवालों ने इसके उपयोग की बचत ही की है; फिर भी यह व्यक्ति उन इन्कमटैक्सवालों को नालायक कहता है; परंतु इस जीव को यह मालूम नहीं है कि इन इन्कमटैक्सवालों से भी बड़ा इन्कमटैक्सवाला आनेवाला है जो इसका बचा हुआ मकान भी छीन लेगा, भोग सामग्री भी छीन लेगा। सारे संयोग छीन लेगा।

इसलिए हे जीव! जितनी ज्ञान की पर्यायें बर्बाद हुई हैं; उनके लिए मत रो? अभी भी आत्मा को जानने योग्य ज्ञान प्रतिसमय उत्पन्न हो रहा है। बहुत दुर्लभता से तुम्हें यह क्षमता प्राप्त हुई है, यदि अभी नहीं चेता तो ऐसा कोई दूसरा समय नहीं आएगा।

जैसे वर्तमान में तुम्हारी भोग सामग्री को छीननेवाला इन्कमटैक्स ऑफिसर का आना अनिवार्य है; ऐसे ही यदि इस वर्तमान ज्ञानपर्याय की ऐसी क्षमता का सदुपयोग नहीं होगा तो वह निश्चित ही चली जावेगी।

यह देह छूटेगी तो एकेन्द्रियादिक में चला जाएगा। शरीर की कुछ भी विलक्षण स्थितियाँ बन सकती है। कभी भी किसी भी क्षण इस शरीर का वियोग संभव है। अतः जिस क्षण तक हमारे पास यह ज्ञान की क्षमता है; तबतक कुछ नहीं लुटा है।

आज भी यदि सम्हल जाए तो कुछ भी नहीं लुटा है; परन्तु कल का कोई भरोसा नहीं है; अतः हे भाई! यह वस्तु का स्वरूप जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय है; इसे समझकर अपने आत्मा को जान ले - इसी में तेरा कल्याण है।

बारहवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनमहाधिकार में सामान्य ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार की चर्चा चल रही है। इसमें वस्तु के सामान्य स्वरूप की चर्चा स्वरूपास्तित्व को इकाई मानकर की गई है।

भारतीय मुद्रा की इकाई रुपया है। पचास पैसे के सिक्के पर १/२ रुपये लिखा रहता है। पच्चीस पैसे के सिक्के पर १/४ रुपये, दस पैसे के सिक्के पर १/१० रुपये लिखा रहता है। इसका आशय यह है कि भारतीय मुद्रा में पैसे नामक कोई इकाई नहीं है, वह रुपये के अन्तर्गत भेद है और रुपया एक यूनिट है, इकाई है। इसीप्रकार गुणपर्यायात्मक वस्तु जैनदर्शन की इकाई (यूनिट) है।

उसमें जो अनंत गुण, असंख्य प्रदेश और अनंतानंत पर्यायें हैं; वे सब उसके अंतर्गत भेद हैं। इसके अतिरिक्त इससे भिन्न जो भी हैं, वे सब उसके लिए परद्रव्य हैं।

जैनदर्शन में पर के साथ जो संबंध की चर्चा होती है; उसे असद्भूत कहा जाता है; क्योंकि वह असद्भूतव्यवहारनय का विषय है। उसे ऐसा इसलिए कहा जाता है; क्योंकि वह वास्तविक नहीं है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कभी होता ही नहीं है।

वस्तु के भीतर जो भेद करके समझाया जाता है, उसे सद्भूत कहते हैं; क्योंकि वह भेद वस्तु में है, वह काल्पनिक नहीं है।

आत्मा के जो अनंतगुण हैं; वे वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं। अतः इनका नाम सद्भूत है; परन्तु भेद के लक्ष्य से विकल्प की उत्पत्ति होती है तथा आत्मा का कल्याण निर्विकल्प आत्मा की अनुभूति में है; इसलिए उसको भी व्यवहार कहकर हेय कहा गया है।

इसप्रकार हमें यह समझ लेना चाहिए कि पर के साथ संबंध बताने वाला व्यवहार असद्भूत है और अपने में ही भेद करनेवाला व्यवहार सद्भूत है।

लोक में पिता-पुत्र के संबंध की मर्यादा यह है कि जो जिस माता-पिता से उत्पन्न हुआ है, वह उनका पुत्र है और उस पुत्र के वे माता-पिता हैं। यह नियम सरकार एवं समाज द्वारा मान्य है।

हमने माता-पिता को चुना नहीं है और हमें भी माता-पिता ने नहीं चुना है। हमारा माता-पिता के साथ जो संबंध है, वह प्रकृतिप्रदत्त ही है। उसमें किसी ने बुद्धिपूर्वक कुछ भी नहीं किया है।

यदि आप अपनी सम्पत्ति किसी को दिये बिना मर जाएँ, किसी के नाम बिना लिखे मर जावे तो सरकार आपकी सम्पूर्ण सम्पत्ति अनेक तकलीफें देनेवाले आपके पुत्र को ही सौंप देगी। जिस पड़ोसी के बेटे ने आपकी दिन-रात सेवा की है; उसे कुछ भी नहीं मिलेगा।

भारतीय कानून प्राकृतिक व्यवस्था पर आधारित है।

दूसरी बात यह है कि कई व्यक्ति कहते हैं कि भाई! जो हमारी सेवा करे, वही हमारा है। जिसे हम अपना माने, वह हमारा बेटा है; पैदा होने मात्र से क्या होता है, वह तो एक क्षणिक विकार था; सो हो गया।

मुनिराजों का भी माता-पिता और पुत्रादिक से लौकिक संबंध है, प्रकृतिप्रदत्त संबंध है, सरकार को मान्य संबंध है; परन्तु मुनिराजों का राग अपने गुरु तथा शिष्यों तक ही सीमित होता है।

वे आत्मा का ध्यान छोड़कर भी शिष्यों को पढ़ाते हैं, वे अपने गुरु की सेवा करते हैं; परंतु वे अपने माता-पिता, पुत्र-पुत्री के लिए कुछ भी नहीं करते हैं। मुनिराजों को अपने माता-पिता को उपदेश देने के लिए जाने का भी विकल्प नहीं आता, उन्हें समाधिमरण करवाने का भी विकल्प नहीं आता।

जिनसे प्राकृतिक संबंध था - ऐसे पुत्रों के लिए वे कुछ भी नहीं करते हैं और शिष्यों के लिए वे प्रतिदिन घंटों पढ़ाते हैं।

इसप्रकार मुनिराजों ने प्राकृतिक संबंधों से इन्कार कर दिया एवं जिनसे कोई संबंध नहीं था, जान-पहिचान भी नहीं थी; उन गुरु व शिष्यों से संबंध जोड़ लिया।

इसीप्रकार प्रवचनसार ग्रन्थ सरकार जैसे आशयवाला है। वह प्राकृतिक वस्तुस्थिति का प्रतिपादक है। जो द्रव्य-गुण-पर्याय हमारी सीमा के भीतर हैं; उन्हें वह अपना कहता है; परन्तु अध्यात्म का प्रतिपादक समयसार कहता है कि हममें ही उत्पन्न होनेवाला राग भी हमारा नहीं है; क्योंकि वह दुखरूप है, दुख देनेवाला है।

यद्यपि निश्चय से राग-द्वेषादि भाव ही हिंसा हैं, तथापि व्यवहार से प्राणियों का घात भी हिंसा ही है।

प्रश्न – प्राणियों का घात तो व्यवहार से ही हिंसा है और व्यवहार तो असत्यार्थ है।

उत्तर – जो भी हो; पर प्राणियों का घात करनेवाले नियम से नरकादि गति को प्राप्त होंगे; अतः यदि नरक में नहीं जाना है तो व्यवहार हिंसा को भी छोड़ देना चाहिए।

यद्यपि हम किसी जीव को सुखी-दुःखी नहीं कर सकते हैं; वे उनके पुण्य-पाप के उदय के अनुसार ही सुखी-दुःखी होते हैं। यही परमसत्य है; तथापि इसके बहाने यदि कोई अपनी प्रमादचर्या को कायम रखना चाहता है तो यह भी परमसत्य है कि इसके फल में नरक गमन होता है।

लोग ऐसा भी कहते हैं कि ज्ञायक तो ज्ञायक को ही जानता है, पर को नहीं। इसके उत्तर में ऐसा प्रश्न किया जाता है कि ज्ञायक से भिन्न ऐसा कौन-सा दूसरा ज्ञायक है, जिसको ज्ञायक जानता है? यदि ज्ञायक एक ही है तो उसमें अंश-अंशीरूप भेद करने से क्या लाभ?

इसप्रकार एक अध्यात्म का और दूसरा सिद्धान्त का सत्य है। अध्यात्म का सत्य अर्थात् समयसार का सत्य एवं सिद्धान्त का सत्य अर्थात् प्रवचनसार का सत्य।

यदि इन दोनों सत्यों को आमने-सामने किया जाय तो कौन शक्तिशाली सिद्ध होगा; वस्तुस्वरूप की कसौटी पर कौन खरा उतरेगा? सरकार किसे मान्यता देगी, जिस पुत्र को इसने अपना माना है, उसे अथवा जो इसके निमित्त से पत्नी के उदर से उत्पन्न हुआ है, उसे?

जब यह प्रश्न उपस्थित होगा कि राग आत्मा का है या पुद्गल का? तब प्रवचनसार यह कहेगा कि राग आत्मा का है और समयसार कहेगा कि राग पुद्गल का है। जब दोनों पक्ष न्यायालय में जाएँगे तो फैसला किसके पक्ष में जाएगा?

प्रवचनसार का कथन वस्तुस्वरूप के आधार से किया गया कथन है और समयसार का कथन अपने प्रयोजन के सिद्धि की दृष्टि से किया गया कथन है।

किसी को कैन्सर हो गया है और वह अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। वह व्यक्ति छह माह के भीतर ही मर जायेगा। डॉक्टर का यह कहना वस्तुस्वरूप का कथन है।

और 'कोई चिन्ता की बात नहीं है, बिल्कुल ठीक हो जाओगे।' ऐसा आश्वासन इसलिए दिया जाता है कि उसे यह सुनकर हार्ट-अटैक न हो जावे, कम से कम वह कैन्सर से ही मरे, हार्ट अटैक होकर न मर जाएँ। यह कथन इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए किया गया कथन है।

यह सिद्धान्त और अध्यात्म की दृष्टि का अंतर है।

जैनेतर दर्शनों में कुछ दर्शन ऐसे हैं; जो कहते हैं कि सारा जगत मिलकर एक ही है और वह ज्ञायक ही है, वह चिद्विवर्त है; इनमें ब्रह्माद्वैत, ज्ञानाद्वैत एवं विज्ञानाद्वैत समाविष्ट हैं।

'सर्व वै खल्विदं ब्रह्मनेह नानास्ति किञ्चनः।'

सम्पूर्ण जगत ब्रह्ममय है। 'सियाराममय सब जग जानी।' उन दर्शनों का आशय यह है कि हमें जो कुछ भी दिखाई दे रहा है; वह सब वस्तुतः कुछ भी नहीं है। यह सब हमारी ज्ञान की ही रचना है। इसमें जो कच्चा माल है, वह पुद्गल का नहीं है; वह हमारे ज्ञान का लगा हुआ है।

इसप्रकार अद्वैतवादी सम्पूर्ण जगत को ब्रह्ममय मानते हैं। वे कहते हैं कि वस्तुतः कुछ है ही नहीं, हमें जो दिखाई दे रहा है; वह सब माया ही है, भ्रम ही है। वे ऐसा मानते हैं कि यह भ्रम सब ज्ञान की ही पर्याय में

उपस्थित होता है। इसी के आधार पर वे कहते हैं कि सम्पूर्ण जगत ब्रह्ममय है। सम्पूर्ण जगत एक है।

जैनदर्शन महासत्ता के रूप में उनके इस पक्ष को स्वीकार करता है। अस्तित्व नामक गुण सबके अन्दर विद्यमान है। बस! इतना ही जैनदर्शन का पक्ष है। इसे ही कथंचित् हम सब एक हैं - ऐसा कहा जाता है; परन्तु यह सब असद्भूतव्यवहार की अपेक्षा है। इस अपेक्षा का यहाँ इतना कम वजन है कि इसे यहाँ 'असद्भूत' यह नाम दिया गया है।

हमारा पर के साथ जो संबंध है; वह महासत्ता के आधार पर है अथवा मात्र जानने के आधार पर है। इसे आचार्यदेव ने इस ग्रन्थ की २३वीं गाथा में स्पष्ट किया है -

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्धिं ।

णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२३॥

आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है, ज्ञेय लोकालोक है; इसलिए ज्ञान सर्वगत - सर्वव्यापक है।

इसकी चर्चा ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार में कर चुके हैं।

जैनदर्शन में यह महासत्ता की विवक्षा कथंचित् है और इस विवक्षा से हम सब एक हैं। हमने सबको जाना अर्थात् सब आत्मा के हो गये। आत्मा सर्वगत हो गया और सब पदार्थ आत्मगत हो गये। इस अपेक्षा में वजन असद्भूतव्यवहारनय का है।

द्रव्य-गुण-पर्याय से युक्त स्वरूपास्तित्ववाली वस्तु ही असली इकाई है। इसकी विस्तार से चर्चा पूर्व में हो चुकी है।

यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के संदर्भ में सभी यही समझते हैं कि पूर्व पर्याय का व्यय, उत्तर पर्याय का उत्पाद और वस्तु की ध्रुवता - यही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है।

प्रवचनसार में इस बात पर अधिक वजन दिया है कि तीनों का समय एक है अर्थात् एक समय में तीनों हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य

तीनों प्रतिसमय प्रत्येक द्रव्य में विद्यमान है। गुण और पर्याय भी प्रतिसमय विद्यमान रहते हैं। वस्तुतः कोई ऐसा समय नहीं है कि जब ये सब उस वस्तु में नहीं रहते हों। जिनमें ये नहीं रहते हैं; वह वस्तु ही नहीं है, अर्थ ही नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं कि जैनदर्शन में अपेक्षा लगाकर सबकुछ कहा जा सकता है; पर यह बात सत्य नहीं है; क्योंकि हम ऐसी अपेक्षा का प्रयोग नहीं कर सकते हैं कि आत्मा कथंचित् चेतन है और कथंचित् अचेतन भी है। अचेतनत्व नाम का कोई धर्म आत्मा में है ही नहीं। जो धर्म वस्तु में होता है, अपेक्षा सिर्फ उन्हीं धर्मों पर लगती है, दूसरे धर्मों पर नहीं लगती है।

प्रथम उस वस्तु में वह धर्म है या नहीं - यह देखना पड़ेगा, तभी उसमें अपेक्षा लगेगी, अन्यथा नहीं।

४७ नयों का अध्ययन करेंगे तो पता चलेगा कि वस्तु में अभाव नामक एक गुण है, धर्म है, स्वभाव है, शक्ति है।

नास्तित्व धर्म की मात्र इतनी ही विवक्षा नहीं है कि पर मैं नहीं हूँ, उसका यह भी कार्य है कि इसमें किंचित्मात्र भी पर का प्रवेश नहीं हो। वह मजबूत वज्र की दीवार है।

जब 'पूर्वपर्याय' ऐसा कहा गया; तब उसमें अनादिकाल से लेकर अबतक की सभी पर्यायें सम्मिलित होती हैं।

निगोद से यह जीव दो हजार सागर के लिए त्रसपर्याय में आता है। यह जीव इस दो हजार सागर में दो तिहाई काल देवगति में बिताता है एवं एक तिहाई काल नरक में बिताता है।

इससे यह सिद्ध है कि प्रत्येक जीव का सर्वाधिक काल देवलोक में ही बीतता है।

यदि यहाँ कुछ भी नहीं करेंगे और फिर से एकेन्द्रिय पर्याय में जाएँगे तो भी हमारा दो-तिहाई काल देवलोक में ही बीतना है। अब दुनिया में

जो अभी छह अरब व्यक्ति दिखाई देते हैं; उनमें से दो-तिहाई लोग कौन-से हैं, जो देवगति में जायेंगे ?

यहाँ हमारे प्रवचन में आनेवाले जीव शुद्ध एवं सात्त्विक जीवन बितानेवाले लोग हैं - यदि ये लोग ही देवगति में नहीं जायेंगे तो क्या मांसभक्षी लोग देवगति में जायेंगे ?

इसलिए भाई हम सबकी तो देवगति में जाने की गारंटी है; इसलिए चिंता करने की बात नहीं है। यहाँ देवगति प्राप्त करने के लिए यह चर्चा नहीं चलती है, यहाँ तो मोक्षमार्ग की चर्चा चलती है, जो महादुर्लभ है। उसी के लिए यह सम्पूर्ण प्रयत्न है। यह सब देवगति के लिए नहीं है। देवगति तो मुफ्त में ही मिलनेवाली चीज है।

अब दुनिया में जितने जीव-जंतु दिखाई देते हैं; उनमें नारकी तो देवगति में जाते नहीं और देव भी देवगति में नहीं जाते। अब जो मनुष्य और तिर्यच शेष हैं; उनमें तिर्यचों से अधिक मुख्यता मनुष्य को ही मिलेगी।

अब जो आज के इस विश्व में छह अरब मनुष्य दिखाई दे रहे हैं; उनका आचरण, खान-पान और श्रद्धा देखकर यह कहा जा सकता है कि जैनियों को तो देवलोक मिलेगा ही।

पूर्व पर्याय का व्यय और उत्तर पर्याय का उत्पाद। यहाँ पूर्व पर्याय की अपेक्षा उत्तरपर्याय और उत्तरपर्याय की अपेक्षा पूर्वपर्याय नाम दिया जाता है। स्थिति तो यह है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य प्रतिसमय विद्यमान है। उत्पाद भी सत् है, व्यय भी सत् है एवं ध्रौव्य भी सत् है। 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्' इसमें तीनों के मिश्रण का नाम सत् है।

बिना प्रयत्न के प्रतिसमय पलटना - यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है; जो प्रतिसमय प्रत्येक द्रव्य में होती रहती है। आत्मा भी एक द्रव्य है; इसलिए वह भी प्रतिसमय पलटता रहता है।

कई व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि मुझे कुछ नया करना है, मुझे अपनी

इमेज बनानी है; तब आचार्य कहते हैं कि अरे भाई! प्रतिसमय सबकुछ नया ही उत्पन्न होता है, पुराना कुछ होता ही नहीं है। प्रतिसमय नूतन रूप में उत्पन्न होना - यह प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है।

पंचवटी में सीता व राम अंदर कुटिया में सोए हुए थे और लक्ष्मणजी पहरेदारी कर रहे थे। वे पहरेदारी करते हुए सोच रहे हैं कि भाई ! हमने जिंदगी में क्या किया है ? कुछ भी तरक्की, उन्नति नहीं की है।

'मैथिलीशरणजी गुप्त' इन शब्दों में लक्ष्मण के अभिप्राय को व्यक्त करते हैं -

'यदि परिवर्तन ही उन्नति है, तो हम भी बढ़ते जाते हैं।'

यदि उन्नति का अर्थ परिवर्तन है तो हमारी भी उन्नति हो रही है; क्योंकि प्रतिसमय परिवर्तन हो ही रहा है। हमारी यह तरक्की ही है कि हम राजपाठ छोड़कर जंगल में आ गये हैं।

इस परिभाषा के द्वारा तो हम भी प्रतिसमय बढ़ रहे हैं। जब यहाँ आए थे तो २५ वर्ष के थे और अब ५ वर्ष के पश्चात् ३० वर्ष के हो गए। क्या हमने २५ से ३० वर्ष का होने के लिए कुछ किया था ? कुछ नहीं करो तो भी हम प्रतिसमय बढ़ रहे हैं। यदि बढ़ना ही उन्नति है, तरक्की है तो तरक्की होते-होते ही हम बड़े हो गये हैं और तरक्की होते-होते ही मर जायेंगे। यह भी तो एक बढ़ना है। जब अंतिम समय आता है तो उसे नाश क्यों कहा जाता है ? जब ८० वर्ष की उम्र तक बढ़ते गए तो कहते हैं कि इनका अनुभव बढ़ा, ज्ञान बढ़ रहा है। भाई! ये तो बहुत बड़े आदमी हो गए और अंतिम समय में उसे ही 'मरे' - ऐसा कहा जाता है।

प्रतिसमय नूतन उत्पाद होना - यह इस जीव का स्वभाव है एवं पुराना नष्ट होना भी इसका स्वभाव है।

आचार्य कहते हैं कि यह जीव कभी पूर्णतः नष्ट न होकर भी प्रतिसमय परिवर्तित होता रहता है।

कालिदास ने सुन्दरता को इसी आधार पर परिभाषित किया है -
'क्षण-क्षणो यन्नवतामुपैति तदीयरूपं रमणीयतायाः ।'

जो क्षण-क्षण में नया-नया लगे उसी का नाम रमणीयता है । मोक्षमार्गप्रकाशक जितने बार पढ़ते हैं; उतनी बार नया-नया लगता है, नये-नये प्रमेय ख्याल में आते हैं ।

इस भगवान आत्मा में प्रतिक्षण नूतन उत्पाद होता है ।

मैं आपसे ही पूछता हूँ कि नई चीज अच्छी होती है कि पुरानी ? चावल पुराने अच्छे होते हैं, सब्जी नई ताजी अच्छी होती है ।

यदि पुराने अच्छे होते हों तो यह भगवान आत्मा इतना पुराना है कि जिसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते हैं और यदि कोई कहे कि भाईसाहब ! हमें पुराना बिल्कुल पसंद नहीं है, तब आचार्य कहते हैं कि आत्मा इतना नया है कि एक समय भी पुराना नहीं है ।

नया होकर भी पुराना है और यह पुराना होकर भी नया है । ऐसा इस वस्तु का स्वभाव है । ऐसी कोई विचित्र महिमा इस वस्तुस्वरूप में पड़ी है । यह सामान्यज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार का विषय है ।

अब इसकी चर्चा गाथा १११ से ११३ के आधार पर करते हैं ।

यहाँ प्रश्न यह है कि सत् का उत्पाद होता है या असत् का ?

इस प्रश्न का आशय यह है कि जो उत्पन्न हुआ है, उसकी सत्ता पूर्व में थी या वह सर्वथा नया पैदा हुआ है ?

कुछ लोग इसपर कहेंगे कि जो वस्तु थी, उसका पैदा होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता और कुछ लोग कहते हैं कि यदि नई चीज पैदा होती है तो गधे का सींग भी पैदा होना चाहिए । यदि गुलाब का फूल खिलता है तो आकाश का फूल भी खिलना चाहिए ।

गाय के सिर पर सींग पैदा होता है; परंतु गधे के सिर पर नहीं होता । गाय के सिर पर जो सींग उठा, वह गाय के माथे में पहले था; इसलिए वह उगा अर्थात् वहाँ वे तत्त्व विद्यमान थे । जो बच्चा है, उसके होठों में

वे तत्त्व विद्यमान हैं, जिनमें से मूँछे निकलेगी; लड़कियों में वे तत्त्व विद्यमान नहीं हैं ।

लड़कियों में वे तत्त्व विद्यमान हैं, जिनके कारण उनके विशिष्ट अंग विकसित होते हैं । लड़कों में ऐसे तत्त्व विद्यमान नहीं हैं कि जिनके कारण उनके विशिष्ट अंग विकसित हों । जब वे दोनों पैदा होते हैं; तब भले ही वे अंग दिखाई नहीं देते हों तो भी सम्पूर्ण जगत इसे जानता है ।

मूल प्रश्न यह है कि सत् का उत्पाद है या असत् का उत्पाद ?

पहले मूँछे नहीं थी और फिर मूँछे उगी; इसलिए असत् का उत्पाद है ।

यदि वह वस्तु नहीं थी तो केवली भगवान ने ऐसी वस्तु को कैसे जाना, जो नहीं थी । मान लीजिए कुछ विशिष्ट दिनों के बाद हमें केवलज्ञान होनेवाला है । यदि भगवान महावीर से इस बारे में पूछा जाता तो वे बता सकते थे । इससे आशय यह है कि उस समय ऐसी कोई चीज विद्यमान थी; जिसके आधार पर यह जाना गया कि केवलज्ञान होगा ।

वह सत् था, इसलिए स्वकाल में प्रगट हो गया; इसलिए सत् का उत्पाद है, द्रव्यदृष्टि से हर पर्याय सत् का उत्पाद है और पर्यायदृष्टि से देखें तो असत् का उत्पाद है - यह मुख्य विषय है, जिसे १११वीं गाथा के भावार्थ में स्पष्ट किया है -

“जो पहले विद्यमान हो, उसी की उत्पत्ति को सत्-उत्पाद कहते हैं और जो पहले विद्यमान न हो, उसकी उत्पत्ति को असत्-उत्पाद कहते हैं ।

जब पर्यायों को गौण करके द्रव्य का मुख्यतया कथन किया जाता है, तब तो जो विद्यमान था, वही उत्पन्न होता है, (क्योंकि द्रव्य तो तीनों काल में विद्यमान है ।); इसलिए द्रव्यार्थिकनय से तो द्रव्य को सत्-उत्पाद है और जब द्रव्य को गौण करके पर्यायों का मुख्यतया कथन किया जाता है, तब जो विद्यमान नहीं था, वह उत्पन्न होता है (क्योंकि वर्तमान पर्याय भूतकाल में विद्यमान नहीं थी), इसलिए पर्यायार्थिकनय से द्रव्य के असत्-उत्पाद है ।

यहाँ यह लक्ष्य में रखना चाहिये कि द्रव्य और पर्यायों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं; इसलिए पर्यायों की विवक्षा के समय भी, असत्-उत्पाद में, जो पर्यायों हैं; वे द्रव्य ही हैं और द्रव्य के विवक्षा के समय भी, सत्-उत्पाद में जो द्रव्य है; वे पर्यायों ही हैं।”

यहाँ द्रव्य की दृष्टि है। पर्याय तो एकसमय में बंधी है। आगे वह थी ही नहीं और भविष्य में भी वह नहीं रहेगी। जब हमारी दृष्टि अनादि-अनंत वस्तु पर जाएगी, तभी यह वर्तमान पर्याय द्रव्य में विद्यमान है, वह स्वकाल में प्रगट हुई है - ऐसा समझ सकते हैं।

यहाँ पर्यायों को अभाव करके कथन नहीं किया गया है; अपितु पर्यायों को गौण करके कथन किया है। गौण करने से यह आशय है कि उसके बारे में चुप्पी साधना। सिर्फ ज्ञान में, वाणी में ही मुख्य-गौण की व्यवस्था है। मुख्य-गौण की व्यवस्था जिस वस्तु के बारे में की जा रही है; उस वस्तु में कुछ नहीं हो रहा है ‘मुख्य-गौण करना’ यह इसके ज्ञान की ही प्रक्रिया का नाम है। इस व्यवस्था को इसलिए भी मानना पड़ेगा; क्योंकि दो पर्यायों एकसाथ नहीं रह सकती है; नहीं तो सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन - ये दोनों पर्यायों एकसाथ माननी पड़ेगी।

मुमुक्षुओं को लक्ष्य में रखकर कुन्दकुन्द शतक में पंचास्तिकाय की पाँच गाथाएँ संकलित हैं; जिनका हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार हैं -

उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त सत्, सत् द्रव्य का लक्षण कहा।
पर्याय गुणमय द्रव्य है, यह वचन जिनवर ने कहा ॥५५॥
पर्याय बिन ना द्रव्य हो, ना द्रव्य बिन पर्याय ही।
दोनों अनन्य रहें सदा, यह बात श्रमणों ने कही ॥५६॥
द्रव्य बिन गुण हो नहीं, गुण बिना द्रव्य नहीं बने।
गुण द्रव्य अव्यतिरिक्त है, यह कहा जिनवरदेव ने ॥५७॥
उत्पाद हो न अभाव का, ना नाश हो सद्भाव में।
उत्पाद व्यय करते रहें, सब द्रव्य गुण पर्याय में ॥५८॥

सौभाग्य की बात यह है कि पंचास्तिकाय एवं प्रवचनसार दोनों ही कुन्दकुन्दचार्य के ग्रन्थ हैं। दोनों ग्रन्थों में द्रव्य-गुण-पर्याय की अभिन्नता बताई गई है।

द्रव्य से पर्यायों को सर्वथा भिन्न माननेवालों को इन गाथाओं में व्यक्त भाव पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

अब ११२वीं गाथा के भावार्थ का अध्ययन करते हैं, जो इसप्रकार है -

“जीव मनुष्य-देवादिक पर्यायरूप परिणामित होता हुआ भी अन्य नहीं हो जाता, अनन्य रहता है, वह का वही रहता है; क्योंकि ‘वही यह देव का जीव है, जो पूर्वभव में मनुष्य था और अमुक भव में तिर्यच था’ ऐसा ज्ञान हो सकता है।

इसप्रकार जीव की भाँति प्रत्येक द्रव्य अपनी सर्व पर्यायों में वह का वही रहता है। अन्य नहीं हो जाता, अनन्य रहता है। इसप्रकार द्रव्य का अनन्यपना होने से द्रव्य का सत्-उत्पाद निश्चित होता है।”

समयसार की १४वीं गाथा में जो अनन्य का बोल आया है; उसका भी यही आशय है कि नर-नारकादि पर्यायों में रहकर भी वह अन्य-अन्य नहीं हो जाता अनन्य ही रहता है; उन पर्यायों में जो एकसा रहा; वह मैं हूँ और जो बदल गया, वह मैं नहीं हूँ।

जहाँ-जहाँ भी आचार्यदेव ने अन्य और अनन्य की चर्चा की है, वहाँ-वहाँ नर-नारकादि पर्यायों ही ली हैं।

मैं मनुष्य नहीं हूँ, मैं देव नहीं हूँ, मैं नारकी नहीं हूँ, मैं राजा नहीं हूँ; ऐसा कहकर असमानजातीयद्रव्यपर्याय में एकत्वबुद्धि का ही निषेध किया है। इस प्रकरण को इस ११३वीं गाथा के भावार्थ में स्पष्ट किया है-

“जीव के अनादि-अनन्त होने पर भी, मनुष्यपर्यायकाल में देवपर्याय की या स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धपर्याय की अप्राप्ति है अर्थात् मनुष्य, देव या सिद्ध नहीं है; इसलिये वे पर्यायों अन्य-अन्य हैं। ऐसा होने से उन

पर्यायों का कर्ता, साधन और आधार जीव भी पर्यायापेक्षा से अन्यपने को प्राप्त होता है।

इसप्रकार जीव की भाँति प्रत्येक द्रव्य के पर्यायापेक्षा से अन्यपना है।

इसप्रकार द्रव्य को अन्यपना होने से द्रव्य के असत्-उत्पाद है - ऐसा निश्चित होता है।”

यहाँ स्वात्मोपलब्धि को ही सिद्ध कहा गया है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती को भी सिद्ध कहा जाता है अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि सिद्धपर्याय में स्वात्मोपलब्धि होती है।

यहाँ अमृतचन्द्राचार्यदेव ने उदाहरण के रूप में भी भविष्य की पर्याय में देवत्व या सिद्धत्व को देखा है।

व्यवहार में ऐसा कहते हैं कि - “मानलो! मैं मरकर देवगति में गया।”

तब कोई कहे कि - “भाई ऐसा क्यों! नरक गये तो।”

तब कहते हैं कि - “अरे भाई! कम से कम विकल्प में तो यह रहने दो कि देव पर्याय में गया। हम नरक की बात क्यों सोचें? अपने पूर्वजों ने भी अपने व्यवहार में इसी भाषा को अपनाया था। तब ऐसा व्यवहार होता था कि देवलोक हो गया, स्वर्गवास हो गया। ऐसा कोई नहीं लिखता था कि नरकवास हो गया। चाहे वह नरक में ही गया हो; परन्तु सभी इसी भाषा का प्रयोग करते हैं। इसका अर्थ यह है कि हमारे पूर्वजों ने नरक जाने की कल्पना ही नहीं की है।

यदि ऐसे तत्त्वज्ञान के अभ्यासी लोग स्वर्ग में नहीं जायेंगे तो क्या पापी लोग जायेंगे ?

मैथिलीशरण गुप्त ने इसके संदर्भ में बहुत उत्कृष्ट लिखा है -

मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी भी कह सकता हूँ।

किन्तु पतित को पशु कहना मैं कभी नहीं सह सकता हूँ।।

संस्कृत कवि भर्तृहरि ने तो यहाँ तक लिखा है कि - मनुष्य घास

नहीं खाता है - यह पशुओं का भाग्य है; क्योंकि जो चीज यह खाता है, वह पशुओं को नहीं मिलती। ये अनाज खाता है तो पशुओं को अनाज नहीं मिलता है। भर्तृहरि का वह छन्द इसप्रकार है -

साहित्य संगीत कलाविहीनः साक्षात्पशुपुच्छविषाणहीनः।

तृणं न खादन्नपि जीवमानः, तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥

जो मनुष्य साहित्य, संगीत और कला से विहीन है, वह व्यक्ति पूँछ और सींगों से रहित साक्षात् पशु ही है। वह घास नहीं खाता है - यह पशुओं का महाभाग्य है।

पर्याय से द्रव्य अन्य है। जो जिससे उत्पन्न हुई, वह उससे अन्य है। इसलिए वह असत् का उत्पाद हुआ है। पहले नहीं थी, अब पैदा हुई है।

जिसकी चर्चा आज बहुत चलती है, वह ११४वीं गाथा मूलतः इसप्रकार है -

दव्वट्टिण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्टिण पुणो।

हवदि य अण्णमण्णं तक्काले तम्मयत्तादो।।११४।।

(हरिगीत)

द्रव्य से है अनन्य जिय पर्याय से अन-अन्य है।

पर्याय तन्मय द्रव्य से तत्समय अतः अनन्य है।।११४।।

द्रव्यार्थिकनय से सब द्रव्य हैं और पर्यायार्थिकनय से वह अन्य-अन्य है; क्योंकि उस समय तन्मय होने से (द्रव्य पर्यायों से) अनन्य है।

आचार्य यहाँ यह बताना चाहते हैं कि द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य पर्यायों से अनन्य है और पर्यायार्थिकनय से द्रव्य पर्यायों से अन्य है।

इस विषय को अमृतचन्द्राचार्य ने टीका में विशेष स्पष्ट किया है -

“वास्तव में सभी वस्तुयें सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखनेवालों के क्रमशः सामान्य और विशेष को जाननेवाली दो आँखें हैं - (१) द्रव्यार्थिक (२) पर्यायार्थिक।

इनमें से पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुली हुई

द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा देखा जाता है; तब नारकपना, तिर्यचपना, मनुष्य-पना, देवपना और सिद्धपना पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य को देखनेवाले और विशेषों को न देखनेवाले जीवों को 'वह सब जीवद्रव्य है' - ऐसा भासित होता है।

और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बंद करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है; तब जीवद्रव्य में रहनेवाले नारकपना, तिर्यचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना-पर्यायस्वरूप अनेक विशेषों को देखनेवाले और सामान्य को न देखनेवाले जीवों को (वह जीवद्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है; क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषों के समय तन्मय होने से उन-उन विशेषों से अनन्य है - कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठमय अग्नि की भाँति। (जैसे घास, लकड़ी इत्यादि की अग्नि उस-उस समय घासमय, लकड़ीमय इत्यादि होने से घास, लकड़ी इत्यादि से अनन्य है; उसीप्रकार द्रव्य उन-उन पर्यायरूप विशेषों के समय तन्मय होने से उनसे अनन्य है - पृथक् नहीं है।)

और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आँखों को एक ही साथ खोलकर उनके द्वारा और इनके द्वारा (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक चक्षुओं के) देखा जाता है तब नारकपना, तिर्यचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना पर्यायों में रहनेवाला जीवसामान्य तथा जीवसामान्य में रहनेवाले नारकपना, तिर्यचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धत्वपर्याय-स्वरूप विशेष तुल्य काल में ही (एक ही साथ) दिखाई देते हैं।”

आचार्य यहाँ कह रहे हैं कि वस्तु का मूल स्वरूप सामान्य-विशेषात्मक है। उसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने एक द्रव्यार्थिकनयरूप आँख एवं दूसरी पर्यायार्थिकनयरूप आँख का उदाहरण दिया है।

यहाँ मात्र द्रव्यार्थिक आँख को ही खुली रखना और पर्यायार्थिक आँख को बंद रखना - ऐसा नहीं कहा है। पर्यायार्थिक चक्षु को कभी खोलना ही नहीं, इसकी चर्चा आचार्यदेव ने की ही नहीं है।

अमृतचन्द्राचार्य ने कण्डे की अग्नि का उदाहरण देकर यह कहा है कि उसमें मात्र अग्नि को ही देखो, कण्डे को मत देखो। इसे ही द्रव्यदृष्टि कहा जाता है।

वह कण्डे की अग्नि कण्डे के आकाररूप हैं और उसका देखना इसलिए जरूरी है; क्योंकि घास की अग्नि तो दो मिनट में बुझेगी; लेकिन कण्डे की अग्नि को दबाने के बाद भी २४ घंटे विद्यमान रहती है। इसलिए अग्नि की सुरक्षा करना है अथवा अग्नि से सुरक्षा करना है तो यह देखना पड़ेगा कि वह कौनसी अग्नि है, वह कितने काल तक रहेगी और कितनी गर्मी देगी ?

इसे जानना कि नहीं जानना है; इसपर आचार्य कहते हैं कि अग्नि तो अग्नि होती है; वह जलाने का काम कभी बंद नहीं करेगी; इसलिए यहाँ ऐसा भेद न कीजिए कि यह अग्नि अच्छी है और वह अग्नि अच्छी नहीं है।

अग्नि तो अग्नि है और वह जलाने का कार्य करती है - बस इसका नाम द्रव्यदृष्टि है।

अंत में, आचार्य ने प्रमाणदृष्टि की भी चर्चा की है। जिसमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक - दोनों आँखों से एकसाथ देखते हैं; वह तीसरी प्रमाणदृष्टि है।

अब यहाँ प्रश्न है कि आत्मा का अनुभव प्रमाण है या नय ? यह अनुभव प्रत्यक्ष है या परोक्ष है ?

इसके उत्तर में हम पूछते हैं कि प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के भेद हैं या नय के ? अनुभव प्रमाण हुआ और अनुभव प्राप्त करना है तो क्या वह अनुभवप्रमाण हेय है ? केवलज्ञान भी प्रमाण है तो क्या वह भी हेय है यदि हाँ तो उसे प्राप्त क्यों करना है ?

तेरहवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अन्तर्गत सामान्यज्ञेयाधिकार की चर्चा चल रही है। जगत में जितनी वस्तुएँ हैं, वे सभी ज्ञेय हैं; ज्ञान का विषय होने के कारण ही उन्हें ज्ञेय कहा जाता है।

‘मामा’ यह नाम भानजे की अपेक्षा से है, ‘पिता’ यह संज्ञा पुत्र की अपेक्षा से है। ऐसे ही समस्त पदार्थों की जो ‘ज्ञेय’ नामक संज्ञा है, वह ज्ञान की अपेक्षा से है, ‘प्रमेय’ नामक संज्ञा प्रमाण की अपेक्षा से है। इसी आधार पर बड़े-बड़े न्याय के ग्रन्थों के नाम प्रमेयरत्नमाला एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड रखे गए हैं। इसी आधार पर इस महाधिकार का नाम ‘ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार’ रखा गया है।

इसी संदर्भ में अमृतचन्द्राचार्य ने ११५वीं गाथा की टीका में सप्तभंगी अर्थात् सात भंगों की चर्चा की है; जो इसप्रकार है -

प्रत्येक पदार्थ (१) स्वरूप से ‘सत्’ है (२) पररूप से ‘असत्’ है (३) स्वरूप और पररूप से युगपत् ‘कथन’ अशक्य है; अतः अवक्तव्य है (४) स्वरूप से और पररूप से क्रमशः ‘सत् और असत्’ है (५) स्वरूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् ‘सत् और अवक्तव्य’ है (६) पररूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् ‘असत् और अवक्तव्य’ है तथा (७) स्वरूप से, पररूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् सत्-असत् और अवक्तव्य है।

जिनके यहाँ सप्तभंगी नहीं है, उनके यहाँ ‘एव’ यह शब्द जहरीला है। ‘एव’ अर्थात् ‘ऐसा ही है।’ वस्तु नित्य ही है, इसमें वस्तु के अनित्यत्व धर्म का सर्वथा निषेध हो जाता है; इसलिए वह शब्द जहरीला है।

लोक में जिसे जहर कहा जाता है; उसे भी यदि सावधानी से प्रयोग किया जाय तो वह औषधि बन जाती है। जितनी भी औषधियाँ बनी हैं; उनमें आधी से अधिक जहर से बनती हैं; क्योंकि बीमारी के कारण

शरीर के अंदर जो जहर उत्पन्न हुआ है, उसे मारने के लिए दूसरा जहर चाहिए; लेकिन वह शोधित होना चाहिए।

ऐसे ही यद्यपि एवकार जहरीला है; परंतु यदि वह सप्तभंगी द्वारा संशोधित होता है तो वह जहर औषधि बन जाती है। इसलिए आचार्य ने सप्तभंगी को अमोघमंत्र कहा है।

आज, किसी को यदि साँप काटता है तो उसे अस्पताल ले जाते हैं; परंतु पहले मन्त्रवादी होते थे, जो मन्त्र से जहर उतारते थे। इसलिए आचार्य ने यहाँ मन्त्र शब्द का प्रयोग किया है।

एवकार में जो जहर है, उस जहर को उतारने के लिए हमारे पास सप्तभंगीरूपी अमोघ (अचूक) मंत्र है। यह सप्तभंगीरूपी मंत्र उस एवकार के जहर को दूर कर देता है।

जब अपेक्षा नहीं लगती है, तब एवकार जहर होता है। वस्तु द्रव्यार्थिकनय से नित्य ही है। यह कथन जहरीला नहीं है; क्योंकि इसमें ‘द्रव्यार्थिक नय से’ यह अपेक्षा लगी है। इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि वस्तु द्रव्यदृष्टि से नित्य ही है।

यह मामा की अपेक्षा भानजा है; इसमें हमने कोई नय नहीं लगाया है; परंतु अपेक्षा बता दी है। जहाँ नय लगा दिया है; वहाँ उस कथन में अपेक्षा निहित है एवं जहाँ अपेक्षा लगा दी गई है, वहाँ उस कथन में नय भी निहित है।

जहाँ अपेक्षा लगाई जाती है, वहाँ ‘ही’ शब्द का जहर खतम हो जाता है। इस पर यदि कोई ऐसा कहे कि जब ‘ही’ और ‘सर्वथा’ शब्द जहरीले हैं; तब हम उन शब्दों का प्रयोग ही क्यों करें ?

आचार्य कहते हैं कि ‘अपेक्षा’ का अपना एक महत्त्व है, उसका कोई अर्थ है, उसका कोई कार्य है। ‘अपेक्षा’ उस कथन में दृढ़ता प्रदान करती है। यदि दृढ़ता नहीं रहेगी तो कथन दुलमुल हो जाएगा। इसलिए उस कथन में दृढ़ता प्रदान करने के लिए ‘ही’ लगाना जरूरी है।

हमने यह अपेक्षा लगाई कि यह पिता का पुत्र ही है; इसका तात्पर्य यह है कि यह पिता का पुत्र ही है, भानजा नहीं। जब अपेक्षा में 'ही' का प्रयोग किया जाता है तो स्वयमेव ही अन्य सभी अपेक्षाओं का निषेध हो जाता है।

मैंने 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' के पृष्ठ क्र. २०५ पर इसका स्पष्ट उल्लेख किया है कि सर्वथा, एकान्त तथा ही – ये सभी शब्द जब अकेले प्रयुक्त होते हैं, तब मिथ्यात्व के सूचक नहीं होते; किन्तु जब ये आपस में मिलकर एकसाथ प्रयुक्त होते हैं तो मिथ्यात्व के सूचक हो जाते हैं। जैसे – 'सर्वथा-एकान्त', 'सर्वथा ही', एकान्त ही आदि।'

इस संदर्भ में विशेष जानकारी के लिए परमभावप्रकाशक नयचक्र का अध्ययन किया जाना चाहिए।

प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी – इसप्रकार सप्तभंगी दो प्रकार की होती है। नय सप्तभंगी में 'ही' लगता है और प्रमाण सप्तभंगी में 'भी' लगता है। जब कथंचित् अथवा स्यात् पद लगाया जाता है तो वहाँ 'भी' लगाना पड़ता है।

'मैं किसी अपेक्षा आ भी सकता हूँ।' और 'मैं किसी अपेक्षा नहीं भी आ सकता हूँ।' मेरे ऐसा कहने पर सामनेवाला कहता है कि – इससे काम नहीं चलेगा, आप साफ-साफ बताइये; तब अपेक्षा स्पष्ट करनी पड़ती है कि – 'मेरी तबियत ठीक नहीं रही तो, उसमें यह परिस्थिति छिपी हुई है।

प्रमाणसप्तभंगी में कहते हैं कि 'स्यात् अस्ति' और 'स्यात् नास्ति' अर्थात् किसी अपेक्षा से है 'भी' और किसी अपेक्षा से 'नहीं भी' है। जब स्याद् या कथंचित् शब्द न लगाकर अपेक्षा बता देते हैं; तब 'ही' लगाना चाहिए; जैसे कि द्रव्यार्थिकनय से वस्तु नित्य ही है।

हम व्यवहार में बोलते हैं कि यह किसी का पिता है, यह किसी का भानजा है, यह किसी का मामा है – यह कथन उचित है; यह किसी का

पिता भी है – यह कथन भी उचित है; परंतु यह इसका पिता भी है – यह कथन उचित नहीं है। यदि अपेक्षा स्पष्ट कर दी जाएगी तो 'ही' लगाना ही होगा।

यदि 'ही' व 'भी' के प्रयोग में सावधानी नहीं रखी गई तो खतरा उत्पन्न हो सकता है। 'ही' की जगह 'भी' का प्रयोग एवं 'भी' की जगह 'ही' का प्रयोग अर्थ का अनर्थ कर सकता है। ध्यान रहे प्रमाणसप्तभंगी में 'भी' लगता है एवं नयसप्तभंगी में 'ही' लगता है।

जहाँ 'एव' लगता है, वह नयसप्तभंगी है; उसमें उस कथन को दृढ़ता प्रदान करने के लिए अपेक्षा लगाई गई है। यदि दृढ़ता प्रदान करना है तो उसमें अपेक्षा का उद्घाटन भी जरूरी है। वहाँ मात्र 'किसी अपेक्षा' – ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा।

सरल शब्दों में सप्तभंगी का स्वरूप समझने के लिए सर्वप्रथम मूलभंगों को समझना आवश्यक है। सत् अर्थात् अस्ति और असत् अर्थात् नास्ति ये दो मूलभंग हैं।

इन्हें मूलभंग इसलिए माना जाता है; क्योंकि यदि नित्य की अपेक्षा लगायेंगे तो उसमें 'कथंचित् नित्यमस्ति' यह कहने पर यहाँ अस्ति को समाहित किया गया है। ऐसे सभी भंगों में यह अपेक्षा लगती है। यह मूल भंग इसलिए है; क्योंकि इसके बिना काम चलता ही नहीं है। ये अस्ति और नास्ति तो अकेले लगते हैं; लेकिन और कोई भंग अकेले नहीं लगते हैं। स्यादस्ति अर्थात् स्यात् है, स्यादनास्ति अर्थात् स्यात् नहीं है। अस्ति-नास्ति के अतिरिक्त स्याद् अवक्तव्य भी अकेला लगता है; लेकिन नित्य या भिन्न अकेले नहीं लगते हैं। इनके साथ 'है' या 'नहीं है' लगाने पड़ते हैं।

अब, आचार्य समन्तभद्र ने यह कहा है कि – तत्त्व त्रयात्मक है; इसलिए भंग सात बनते हैं।

पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोत्ति दधिव्रतः ।

अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥^१

जिसके ऐसा व्रत हो कि मैं आज दूध ही लूँगा, वह दही नहीं खाता है; जिसके ऐसा व्रत हो कि मैं आज दही ही लूँगा, वह दूध नहीं लेता है। जिस पुरुष के गोरस न लेने का व्रत है, वह दोनों ही नहीं लेता है - इसप्रकार तत्त्व त्रयात्मक है।

घड़ा नष्ट हुआ और कपाल पैदा हुआ तथा उन दोनों में मिट्टी कायम रही। इसीप्रकार सोने के बाजूबन्द हैं; उन्हें तोड़कर कुण्डल बनाएँ - इन दोनों स्थितियों में स्वर्ण कायम है। ऐसी स्थिति होने पर जिसे बाजूबन्द प्रिय था, उसे शोक होता है एवं जिसे कुण्डल प्रिय था, उसे हर्ष होता है तथा जिसे सोना प्रिय था, वह माध्यस्थभाव में रहता है।

इसे आचार्य समन्तभद्र ने इसप्रकार स्पष्ट किया है -

घट-मौलि-सुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।

शोक-प्रमोद-माध्यस्थं, जनो याति सहेतुकम् ॥^२

घट, मुकुट और स्वर्ण चाहनेवालों को घट के नाश, मुकुट के उत्पाद और स्वर्ण के कायम रहने पर क्रमशः शोक, प्रमोद एवं माध्यस्थ भाव का अनुभव निष्कारण नहीं होता।

इसप्रकार तत्त्व त्रयात्मक है और जहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य - ये तीनों हैं, वहाँ सात भंग बनेंगे। हर, बहेरा और आँवला ये तीन चीजें हैं। इन तीन चीजों के अधिक से अधिक सात प्रकार के चूर्ण बन सकते हैं। तीन असंयोगी, तीन द्विसंयोगी और एक त्रिसंयोगी। तीनों का अलग-अलग चूर्ण बना सकते हैं - इसप्रकार तीन चूर्ण बनते हैं। अब द्विसंयोगी चूर्ण बनायेंगे तो भी तीन प्रकार के ही चूर्ण बनेंगे। तीनों में से किन्हीं दो मिलाकर बनाने पर तीन ही बनते हैं और त्रिसंयोगी भंग में तीनों ही मिलाने होंगे। इससे सात प्रकार के चूर्ण बन जाते हैं।

१. आसमीमांसा, कारिका ६०, २. आसमीमांसा, कारिका ५९

हर, बहेरा और आँवला - इन तीन पदार्थों की यदि मात्रा अल्प-अधिक कर दो तो अगणित चूर्ण बन सकते हैं; परंतु मात्रा बराबर रखो तो सात ही बनेंगे।

यह तो आप जानते ही हैं कि जैनदर्शन में सप्तभंगी के साथ-साथ अनंतभंगी भी होती हैं। तात्पर्य यह है कि अनन्त सप्तभंगियाँ होती हैं। एक भाव-अभाव संबंधी सप्तभंगी, एक नित्य-अनित्य संबंधी सप्तभंगी आदि अनंत सप्तभंगियाँ होती हैं, हो सकती हैं; क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अनंत धर्मयुगल हैं।

इसी में एक वक्तव्य-अवक्तव्य संबंधी सप्तभंगी भी होती है। इसमें यह विचार अपेक्षित होता है कि वस्तुस्वरूप को हम बता सकते हैं या नहीं अर्थात् वह वक्तव्य है या अवक्तव्य? जिनवाणी इसमें कथंचित् वक्तव्य और कथंचित् अवक्तव्य - ऐसा कहकर स्याद्वाद् के भंग उपस्थित करती है।

हम किसी डॉक्टर के पास जाते हैं और उनसे कहते हैं कि डॉक्टर साहब! मेरे पेट में दर्द है। जब डॉक्टर पूछते हैं कि कैसा है? कितना है? तो कहते हैं कि बहुत है; पर कह नहीं सकते हैं। अभी जो जैसा दर्द है, जितना दर्द है; वह मेरे कहने में नहीं आ रहा है; इसलिए ये कह रहा हूँ कि कह नहीं सकता, पर इतना तो यहाँ कहा ही जा रहा है कि - 'इतना दर्द है कि कह नहीं सकता हूँ।'

डॉक्टर ने सुई उँगली में चुभाई और पूछा कि - 'कितना दर्द है?' तब कहते हैं कि - 'बहुत दर्द है।' फिर जोर से चुभाई और पूछा कि कितना दर्द है? तब कहते हैं कि - बहुत दर्द है। उस सुई चुभाने से लेकर उँगलीकाट देने तक के दर्द की मात्रा में अंतर तो है; पर उस अंतर को बताया नहीं जा सकता है। इसलिए हम कहते हैं कि - 'इतना दर्द है कि कहा नहीं जा सकता है।' और 'दर्द है' 'बहुत दर्द है' यह कहा जा रहा है। यही कारण है कि वस्तु को कथंचित् वक्तव्य कहा जाता है एवं कथंचित् अवक्तव्य कहा जाता है।

अब, यदि वक्तव्य अर्थात् कह सकते हैं तो क्या कह सकते हैं ? कह सकनेवाले तीन बिन्दु - 'है' 'नहीं है' और दोनों। जैसे - 'नित्य है' 'नित्य नहीं है' और 'नित्यानित्य है।' ऐसे ही - 'भिन्न है' 'भिन्न नहीं है' और 'भिन्नाभिन्न है।' इसप्रकार वक्तव्य के तीन भंग हुए। 'बिल्कुल ही नहीं कह सकते।' यह चौथा अवक्तव्य भंग हुआ। अस्ति नहीं कह सकते हैं, नास्ति नहीं कह सकते हैं और दोनों नहीं कह सकते - ये तीन भंग, कुल मिलाकर अवक्तव्य के चार भंग हुए। वक्तव्य के तीन भंग और अवक्तव्य के चार भंग इसप्रकार सात भंग होते हैं।

वक्तव्य के भंग के साथ 'वक्तव्य' शब्द नहीं लगता है; परंतु 'अवक्तव्य' के भंग के साथ 'अवक्तव्य' शब्द लगता है। वक्तव्य के साथ इसलिए नहीं लगता है; क्योंकि वह कहा जा रहा है। जब कहा ही जा रहा है तो फिर 'मैं कह रहा हूँ।' - ऐसा कहने की क्या जरूरत है; परंतु यदि नहीं कहना है तो 'मैं तुमसे कुछ नहीं कहूँगा' - ऐसा कहने की जरूरत है।

जैसे - मैंने आपसे पूछा कि दो और दो कितने होते हैं ? तब यदि आपको उत्तर देना है तो आपके बोल होते हैं - चार। यहाँ मैं उत्तर देता हूँ; ऐसा कहने की जरूरत नहीं है; परंतु यदि आपको उत्तर नहीं देना है तो आपके बोल होते हैं कि - 'मैं कुछ नहीं बोलूँगा' अर्थात् अवक्तव्य ऐसा कहने की आवश्यकता रहती है; परंतु यदि उत्तर देना है तो वक्तव्य ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं रहती है।

इसप्रकार (१) स्याद् अस्ति, (२) स्याद् नास्ति, (३) स्याद् अस्ति-नास्ति - ये तीन वक्तव्य के भंग हैं और (४) स्याद् अवक्तव्य, (५) स्याद् अस्ति अवक्तव्य, (६) स्याद् नास्ति अवक्तव्य, (७) स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य - ये चार अवक्तव्य के भंग हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा, कारिका-१०८ में स्पष्ट किया है कि - 'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत् - निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय सम्यक् और सार्थक होते हैं।'।

नयों की चर्चा के समय कोई ऐसा भी कहता है कि नय लगा देने से अथवा अपेक्षा लगा देने से बात ढीली पड़ जाती है।

अरे भाई! गजब करते हो! जैनदर्शन के अतिरिक्त विश्व में अन्य किसी भी दर्शन में नय और अपेक्षा नाम की चीज नहीं है। यह जैनदर्शन की ही अद्भुत निधि है, जो विश्व में अन्यत्र कहीं भी नहीं है। जैनदर्शन का न्यायशास्त्र और न्याय के प्रकांड विद्वान् अकलंकादि आचार्य जीवनभर सम्पूर्ण सामर्थ्य से नयप्रकरण को ही सिद्ध करने में लगे रहे, समर्पित रहे; क्योंकि नय के बिना वस्तु की सिद्धि हो ही नहीं सकती है। नय के बिना एक वाक्य बोलना भी संभव नहीं है।

आचार्यों ने यह कहा है कि नयों के बिना, अपेक्षा के बिना; जो भी कहें, वह मिथ्या ही होगा। निरपेक्ष नय मिथ्या है और सापेक्षनय वस्तु की सिद्धि करनेवाले हैं। इसलिए आचार्यदेव ने अपेक्षा रहित एवकार के प्रयोग को जहरीला कहा है। 'आत्मा नित्य ही है' - इसमें अपेक्षा नहीं है तो यह प्रयोग जहरीला है।

इसे ही ध्यान में रखकर आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में १५वीं कारिका को प्रस्तुत किया -

सदेव सर्वं को नेच्छेत्, स्वरूपादि चतुष्टयात् ।

असदेव विपर्यासान्न, चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

ऐसा कौन है जो सभी पदार्थों को स्वरूपादि चतुष्टय की दृष्टि से सत् और पररूपादिचतुष्टय की दृष्टि से असत् रूप ही अंगीकार न करे ? यदि कोई ऐसा नहीं मानता है तो उसकी बात सत्य नहीं है।

आचार्यदेव ने यहाँ यह कहा है कि स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की दृष्टि से वस्तु को सत् नहीं माननेवाला और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से वस्तु को असत् नहीं माननेवाला जैन नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि अस्तिवाला भंग स्वरूपचतुष्टय की अपेक्षा से है एवं नास्तिवाला भंग पररूपचतुष्टय की अपेक्षा से है।

जिसका स्वरूप से और पररूप से युगपत् कथन अशक्य है; वह अवक्तव्य है। भाई ! एकसाथ दोनों का कथन कैसे संभव है ? जब 'है' बोलेंगे तब 'नहीं है' नहीं बोल सकते हैं और जब 'नहीं है' बोलेंगे तो 'है' नहीं बोल सकते हैं।

वस्तु में दोनों धर्म एकसाथ रहते हैं और वस्तु में दोनों धर्मों के एकसाथ रहने में कोई समस्या भी नहीं है। समस्या उनके कथन में है; इसलिए कहने में क्रम पड़ता है।

प्रवचनसार में ४७ नयों के प्रकरण में सप्तभंगी की चर्चा की गई है। उसमें अवक्तव्य की चर्चा करते हुए कहा है कि आत्मा में एक अवक्तव्य नामक धर्म है और उस धर्म को जो नय विषय बनाता है, वह अवक्तव्यनय है। आत्मा में एक अस्ति नामक धर्म है, जिसे अस्तिनय विषय बनाता है। आत्मा में नास्ति नामक धर्म है, जिसे नास्तिनय विषय बनाता है।

अब, आचार्य पाँचवें बोल की चर्चा करते हैं, जो स्वरूप से सत् और स्वरूप-पररूप से युगपत् अवक्तव्य है; इसप्रकार अस्ति अवक्तव्य है। इसमें सत् और अवक्तव्य दोनों अपेक्षाएँ लगाई हैं।

स्वरूप से सत् तथा स्वरूप और पररूप से युगपत् बोलना असंभव है; इसलिए उसे अस्ति अवक्तव्य कहा गया है। ऐसा नहीं है कि अस्ति कहना संभव नहीं है; इसलिए अस्ति अवक्तव्य भंग है; अपितु जिसप्रकार सत् और असत् का मिला हुआ अस्ति-नास्ति भंग है - ऐसे ही सत् अर्थात् अस्ति और अवक्तव्य का यह मिश्रित भंग है। जिसप्रकार अस्ति अवक्तव्य है - यह मिला हुआ भंग है; उसीप्रकार असत् और अवक्तव्य का मिला हुआ नास्ति अवक्तव्य भंग है और सत्, असत् तथा अवक्तव्य से मिला हुआ अस्ति नास्ति अवक्तव्य भंग है।

अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, नित्य-अनित्य आदि धर्मयुगलों में सप्तभंगी का प्रयोग होता है।

गाथा ११६ की इन मार्मिक पंक्तियों को देखते हैं -

“अब, जिसका निर्धार करना है, इसलिए जिसे उदाहरणरूप बनाया गया है - ऐसे जीव की मनुष्यादि पर्यायों क्रिया का फल हैं; इसलिए उनका अन्यत्व (अर्थात् वे पर्यायों बदलती रहती हैं इसप्रकार) प्रकाशित करते हैं।”

इसमें आचार्य यह मर्म की बात बता रहे हैं कि असमानजातीय द्रव्यपर्याय को इसमें उदाहरण बनाया है, उसी पर वजन दिया है। इसमें 'देव, तिर्यच, नारकी ये मैं नहीं हूँ' - यह कहा है। केवलज्ञान, सम्यग्दर्शन आदि को इसलिए नहीं लिया; क्योंकि सर्वप्रथम यह निश्चित करना अनिवार्य है कि 'मैं मनुष्य हूँ या नहीं।' हमारी ९९% समस्याएँ देहादिक में एकत्वबुद्धि की ही हैं; क्योंकि 'मैं पंडित हूँ' 'मैं हुकमचन्द हूँ' 'मैं मनुष्य हूँ' 'मैं जैनी हूँ।' - ऐसी मान्यता हमारी समस्या है। सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में 'मैं सम्यग्दर्शन हूँ' 'मैं केवलज्ञान हूँ' - ऐसा माननेवाले कितने मिलेंगे?

सब लोग इसप्रकार तो कहते हैं कि मैं केवलज्ञानस्वभावी हूँ; लेकिन कोई ऐसा नहीं कहता है कि 'मैं केवलज्ञान हूँ।' जब मैं केवलज्ञानस्वभावी हूँ - ऐसा कहा जाता है, तब उसमें केवल का अर्थ 'मैं रागस्वभावी नहीं हूँ' 'मैं जड़स्वभावी नहीं हूँ' - यह है। यहाँ केवल से तात्पर्य केवलज्ञान से नहीं है। यहाँ राग का निषेध है। राग मेरा विभाव है, स्वभाव नहीं है; इसलिए मैं केवल ज्ञानस्वभावी हूँ।

शास्त्र में ऐसे उल्लेख बहुत मिलेंगे कि 'नाहं देहो'; परंतु ऐसे कम ही उल्लेख मिलते हैं कि 'नाहं केवलज्ञानं' 'नाहं सम्यग्दर्शनं'। यहाँ हम यह नहीं कहना चाहते हैं कि तुम सम्यग्दर्शन से अहंबुद्धि करो; परंतु यह कहते हैं कि त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में अहंबुद्धि करने का नाम ही सम्यग्दर्शन है। यदि 'मैं' सम्यग्दर्शन होता तो सम्यग्दर्शन को अनादि से होना चाहिए था; क्योंकि मैं अनादि से हूँ।

आचार्य कहते हैं कि यह शत-प्रतिशत सत्य है कि 'सम्यग्दर्शन मैं

नहीं हूँ; पर यह मुख्य समस्या नहीं है। समस्या तो देहादिक में एकत्वबुद्धि की है, जिसका निर्धार करना है; इसीलिए जिसे उदाहरणस्वरूप बनाया गया है। जीव की मनुष्यादिपर्यायें क्रिया का फल है। क्रिया का फल अर्थात् इस भगवान आत्मा ने स्वयं की आराधना नहीं की; इसलिए यह समस्या उत्पन्न हुई है।

प्रश्न यह है कि कभी मनुष्य, कभी देव, कभी नारकी - ऐसा फर्क और मनुष्य में भी कभी बालक, कभी जवानी, कभी बुढ़ापा, कभी बीमार, कभी स्वस्थ - ऐसा फर्क क्यों दिखता है?

इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि जीव की मोहसहित क्रिया एक-सी नहीं होती है, राग-द्वेष एकसा नहीं होता, मिथ्यात्व भी एकसा नहीं होता; इनमें निरन्तर उतार-चढ़ाव - तारतम्य बना रहता है। किसी से राग-द्वेष होता है; उसमें भी तारतम्यता बनी रहती है; परन्तु वीतरागी क्रिया तो अनन्तकाल तक एक सी होती है, इसलिये सिद्धपर्याय तो अनन्तकाल तक एकसी रहती है; क्योंकि वीतरागी क्रिया का फल सिद्धपर्याय है।

जो मनुष्यादि पर्यायों में विविधता देखी जाती है; वह इसके भावों की विविधता का परिणाम है; मोह की क्रिया की विविधता का परिणाम है। इस जीव को मोह की क्रिया की विविधता के कारण ही विविध संयोगों की प्राप्ति होती है।

कई लोग ऐसा प्रश्न करते हैं कि भाईसाहब बाढ़ आई और इतने सारे लोग एकसाथ मारे गए; क्या इतने लोगों ने एकसाथ ऐसा पाप किया होगा ? एकसा ही पाप उनके उदय में आया था क्या ?

उनसे कहते हैं कि ऐसा भी हो सकता है, इसमें कौन-सी गजब की बात है ? हमारे भाव भी एक से हो सकते हैं। अमरीकी राष्ट्रपति ने पाकिस्तान के राष्ट्रपति को फटकार सुनाई तो सभी हिन्दुस्तानी एकसाथ खुश होते हैं; उससे होनेवाला पापबंध भी सभी को एक-सा ही होगा।

हमें तो हमारे जीवन में एकाधबार ही ऐसा देखने को मिलता है कि बाढ़ आ गई और लाखों मर गए; लेकिन हमें पता नहीं है कि हम प्रतिदिन ऐसी बाढ़ ला रहे हैं। हम ऊपर मुँह करके पेशाब करने बैठ जाते हैं एवं नीचे हजारों चींटियाँ हैं; उनके लिए तो यह गंगाजी में बाढ़ ही आ गई है। स्थान-स्थान पर लाखों जीव एकसाथ मरते हुए देखे जा सकते हैं। जो आलू और जमीकंद खाते हैं, वे उसे चाय जैसा उबालते हैं; उसमें लाखों जीव एकसाथ उबलते हैं, मरते हैं।

यहाँ आप मात्र कभी-कभार की घटनाओं के संदर्भ में सोच रहे हैं; लेकिन ऐसी घटनाएँ प्रतिदिन हो रही हैं। प्रतिदिन लाखों जीवों के एक से भाव हो रहे हैं।

एक से भावों के कारण एकरूपता और अलग-अलग प्रकार के भावों के कारण भिन्नता दिखाई देती है। मनुष्यादि पर्यायों में जहाँ एकरूपता नहीं है, वहाँ निरन्तर पृथक्-पृथक् परिवर्तन देखने में आता है। - ऐसी ये जो पर्यायें हैं, ये इसकी क्रिया का ही फल हैं।

वस्तुतः कर्म पुद्गल ही है; परन्तु उस कर्म के उदय से हम में जो मोह-राग-द्वेष भाव होते हैं; उन्हें भावकर्म कहा जाता है। इसमें ऐसा नहीं है कि इस जीव ने राग-द्वेष किये थे - ये भी इसका कार्य है और कर्म भी इसका कार्य है। आचार्य यहाँ राग का कर्ता भगवान आत्मा को बताकर कर्मचेतना, कर्मफलचेतना आदि का विश्लेषण करेंगे। पुद्गल कर्म के कार्यभूत ये मनुष्यादि पर्यायें हैं अर्थात् ये मनुष्यादि पर्यायें नोकर्म हैं।

इसप्रकार मनुष्यादि पर्यायें जो मिली हैं, वे ज्ञानावरणादि कर्म के उदय में मिली हैं। इन मनुष्यादि गति में जाना इस जीव की क्रिया का फल है।

इससे आशय यही है कि इस जीव को किसी ने नरक नहीं भेजा है, इस जीव को कोई स्वर्ग नहीं भेजेगा। इस जीव के कर्म के अनुसार ही यह नरक या स्वर्ग में जाता है। इसप्रकार प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से

आचार्य इसका कर्ता जीव को कह रहे हैं। इसप्रकार यहाँ आचार्य ने सद्व्यवहारनय की अपेक्षा लगा दी है।

सर्वप्रथम सद्व्यवहारनय से इस जीव को राग का कर्ता कहा। फिर मनुष्यादि पर्यायों तेरी हैं, इस जीव के कर्म का फल है - ऐसा कहकर असद्व्यवहारनय से इसे द्रव्यकर्म का कर्ता घोषित कर दिया।

यहाँ यदि मनुष्य शरीर को लिया जायेगा तो यहाँ अनुपचरित-असद्व्यवहारनय की अपेक्षा लगेगी एवं स्त्री-पुत्र-मकान आदि को लिया जाएगा तो उपचरित-असद्व्यवहारनय की अपेक्षा लगेगी।

जो भी पर्यायों पैदा हुई हैं, वे कर्म के स्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव के पराभव के कारण ही पैदा हुई है। इसे आचार्य ने दीपक के उदाहरण से समझाया है।

दीपक अर्थात् लौ। दीपक सकोरे का नाम नहीं है, तेल अथवा बाती का नाम नहीं है; वास्तविक दीपक तो लौ ही है। उस लौ के कारण ही उस सम्पूर्ण परिकर को दीपक कहा जाता है। उस दीपक ने जो उजाला करने का काम किया है; उसमें उसने स्वयं ने कुछ भी नहीं किया है। उसने तेल की सत्ता का नाश करके, तेल के स्वभाव का पराभव करके उजाला किया है।

ऐसे ही कर्म ने इस जीव को जो मनुष्यादि पर्यायों दी हैं; वह आत्मा के स्वभाव का पराभव करके दी हैं। आत्मा का सत्यानाश करके इसे मनुष्यादि पर्यायों मिली हैं।

कई व्यक्ति कर्म को कर्मदेवता मानते हैं और कहते हैं कि भाई ! कर्म ने हमें यह पर्याय दी है।

किसी को एक लाख रुपए की जरूरत थी और किसी ने उसे एक लाख रुपए दिये। तो लेनेवाला उनका उपकार मानता है; परंतु यहाँ उपकार कैसा ? क्योंकि इस जीव के पुण्य के उदय के बिना कोई उसे एक पैसा भी नहीं दे सकता। इसमें उसका एक लाख रुपये प्राप्त करने का पुण्य खर्च हो गया है।

आत्मा के स्वभाव का पराभव करके इस जीव को मनुष्यादि पर्यायों कर्म के निमित्त से प्राप्त हुई हैं। पराभव से आचार्य का क्या आशय है - इसे ११८वीं गाथा की टीका के माध्यम से समझाते हैं -

जिसप्रकार कनकबद्ध (सुवर्ण में जड़े हुए) माणिक के कंगनों में माणिक के स्वभाव का पराभव नहीं होता; उसीप्रकार ये मनुष्यादिपर्यायों नामकर्म से निष्पन्न हैं; किन्तु इतने से भी वहाँ जीव के स्वभाव का पराभव नहीं है। वहाँ जीव जो स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता, अनुभव नहीं करता; सो पानी के पूर (बाढ़) की भाँति स्वकर्मरूप परिणमित होने से है, जैसे पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से निम्बचन्दनादिवन-नराजिरूप (नीम, चन्दन इत्यादि वृक्षों की लम्बी पंक्तिरूप) परिणमित होता हुआ अपने द्रवत्व और स्वादुत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता; उसीप्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्मरूप परिणमित होने से (अपने) अमूर्तत्व और निरूपराग विशुद्धिमत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता।'

यहाँ आचार्य ने 'माणिक की भाँति' एवं 'पानी के पूर की भाँति' - इसप्रकार दो उदाहरण दिए।

माणिक को सोने में जड़ दो तो माणिक का पराभव नहीं होता है। सोना भी दिखता रहता है और माणिक भी दिखता रहता है। इसीप्रकार मनुष्यपर्याय में भगवान आत्मा मानो सोने में माणिक जड़ दिया है; उसमें मनुष्य पर्याय और भगवान आत्मा दोनों पृथक्-पृथक् चमक रहे हैं। जिसप्रकार सोने में जड़ने से माणिक का पराभव नहीं होता है; उसी प्रकार भगवान आत्मा का मनुष्यादि पर्यायों में रहने से पराभव नहीं होता।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पराभव का कारण क्या है ?

यहाँ आचार्यदेव ने पानी के पूर का उदाहरण दिया है। हिमालय से निकला हुआ पानी निर्मल होता है; परंतु वह बहते-बहते जंगल में बहुत सारे नीम, चंदनादि पेड़ों से गुजरता है। वह चंदन के वन में से निकलता है तो सुगंधित हो जाता है, वह नीम के वृक्षों से निकलता है तो कड़वा

हो जाता है। इसमें उस पानी की मूल गंध नहीं रहती और न ही उसका मूल स्वभाव रहता है। इसप्रकार उस पानी का पराभव हुआ; क्योंकि उसका मूलस्वभाव तिरोहित हो गया है।

इसीप्रकार इस आत्मा का पराभव इस मनुष्य पर्याय में जुड़ जाने से है। यह आत्मा मोह-राग-द्वेषभावों में से निकला है; इसलिए इसका पराभव हुआ है। आचार्य ने यहाँ संयोग पर अपराध नहीं मड़ा है।

आचार्य यहाँ कह रहे हैं कि पानी नीम में चढ़ा हुआ है अर्थात् नीम में भी पानीपन है, गीलापन है। उसमें से हम नीम की पत्तियों का रस निकालें, चन्दन का रस निकालें - इसमें उसने तीन चीजें खोई हैं।

पानी ने अपना स्वाद खोया है, अपनी गंध एवं प्रवाही स्वभाव खोया है; क्योंकि वह वृक्ष में गया एवं उसी में रम गया। पानी का जो बहना स्वभाव था, वह बंद हो गया; जितना पानी उन वृक्षों ने सोख लिया, उस पानी का प्रवाही स्वभाव खतम हो गया।

उसीप्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्मरूप परिणमित होने से अमूर्तत्व से मूर्तत्व हो गया; तब वह अमूर्तत्व, निरूपराग विशुद्धिमत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता। यही इस जीव की समस्या का महत्त्वपूर्ण कारण है।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि आत्मस्वभाव के पराभव का कारण शरीरादि का संयोग नहीं है; अपितु शरीरादि संयोगों में आत्मा का अपनापन है, उन्हें अपना जानना-मानना है, उन्हीं से जुड़ जाना है, उन्हीं में रम जाना है।

यह प्रवचनसार की अनूठी शैली है; जिसमें आचार्यदेव ने प्रथम इस जीव को भावकर्म का कर्ता, फिर द्रव्यकर्म का कर्ता एवं तत्पश्चात् शरीरादिक का कर्ता सिद्ध किया; क्योंकि यदि सबका ही अकर्ता है तो यह संसार ही नहीं होना चाहिए था। ऐसे अकर्ताभाव को तो सांख्यमत स्वीकार करता है।

समयसार में प्रश्नोत्तर की शैली में जयसेनाचार्य ने यह सिद्ध किया कि यह आत्मा पर को जानता ही नहीं है - ऐसी मान्यता तो बौद्धों की है।●

चौदहवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के द्रव्यसामान्य-प्रज्ञापनाधिकार पर चर्चा चल रही है। प्रकरण यह चल रहा है कि मनुष्यादि पर्यायों में एकत्वबुद्धि ही पर्यायमूढता है।

इसी प्रकरण में अब आचार्य यह कह रहे हैं कि इन मनुष्यादि पर्यायरूप दुर्दशा के जिम्मेदार हम ही हैं; इसके कर्ता, कर्म, करण हम ही हैं। इस दुर्दशा का अभाव करके जो मोक्षपर्याय प्रगट होगी; उसके कर्ता-धर्ता भी हम ही होंगे; इसमें किसी परद्रव्य अथवा कर्म का दोष नहीं है। परद्रव्य के नाम पर हम अपनी जिम्मेदारी से बचना चाहें, यह उचित नहीं है। इसे आचार्य १२२वीं गाथा की टीका में स्पष्ट करते हैं -

“प्रथम तो आत्मा का परिणाम वास्तव में स्वयं आत्मा ही है; क्योंकि परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से अनन्य हैं और जो उसका (आत्मा का) तथाविध परिणाम है, वह जीवमयी ही क्रिया है; क्योंकि सर्वद्रव्यों की परिणामलक्षण क्रिया आत्ममयता (निजमयता) से स्वीकार की गई है; और फिर, जो (जीवमयी) क्रिया है, वह आत्मा के द्वारा स्वतंत्रतया प्राप्य होने से कर्म है। इसलिए परमार्थतः आत्मा अपने परिणामस्वरूप भावकर्म का ही कर्ता है; किन्तु पुद्गलपरिणामस्वरूप द्रव्यकर्म का नहीं।”

यहाँ आचार्य ने 'परमार्थतः' इस शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट किया है कि निश्चय से भगवान आत्मा भावकर्म का ही कर्ता है। यहाँ अशुद्धनिश्चयनय की विवक्षा है। इस नय की विवक्षा से रागादिक का कर्ता भगवान आत्मा को कहा जाता है। द्रव्यकर्म का कर्ता भगवान आत्मा को नहीं कहा गया है। समयसार ग्रन्थ में भी इस आशय को व्यक्त किया गया है।

नाटक समयसार में इस विषय को इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

ज्ञानभाव ज्ञानी करे, अज्ञानी अज्ञान ।

द्रव्यकर्म पुद्गल करे, यह निश्चय परवान ॥

यह निश्चयनय का कथन है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप ज्ञानभावों का कर्ता ज्ञानी आत्मा है और मोह-राग-द्वेषरूप अज्ञानभावों का कर्ता अज्ञानी आत्मा है ।

“अब, यहाँ ऐसा प्रश्न होता है कि ‘यदि जीव भावकर्म का ही कर्ता है तो फिर द्रव्यकर्म का कर्ता कौन है ?’

इसका उत्तर इसप्रकार है :- प्रथम तो पुद्गल का परिणाम वास्तव में स्वयं पुद्गल ही है; क्योंकि परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से अनन्य है और जो उसका (पुद्गल का) तथाविध परिणाम है, वह पुद्गलमयी ही क्रिया है; क्योंकि सर्वद्रव्यों कि परिणाम-स्वरूप क्रिया निजमय होती है - ऐसा स्वीकार किया गया है और फिर जो (पुद्गलमयी) क्रिया है, वह पुद्गल के द्वारा स्वतंत्रतया प्राप्य होने से कर्म है । इसलिए परमार्थतः पुद्गल अपने परिणामस्वरूप उस द्रव्यकर्म का ही कर्ता है; किन्तु आत्मा के परिणामस्वरूप भावकर्म का नहीं ।

इससे ऐसा समझना चाहिये कि आत्मा आत्मस्वरूप परिणामित होता है, पुद्गलस्वरूप परिणामित नहीं होता ।”

द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म हुआ - इसप्रकार कहकर यह अज्ञानी स्वयं आजाद रहना चाहता है । यह मानता है कि मेरी कोई गलती नहीं है । कहता है कि समयसार में भी कहा है कि ‘कर्म ही सुलावे, कर्म ही जगावे; परघात नामक कर्म से हिंसा हो गई, वेदकर्म के उदय से व्यभिचार हो गया । ऐसा होने पर तो महा अनर्थ हो जायेगा ? यह तो सांख्यों जैसा अकर्तापन हो गया ।

चेतना तीन प्रकार की होती है - ज्ञानचेतना, कर्मचेतना व कर्मफल चेतना । स्वयं का जो ज्ञानस्वभाव है, उसके प्रति आत्मा का चेतना, उसके कर्तृत्व के प्रति आत्मा का चेतना - यही ज्ञानचेतना है ।

कर्मचेतना और कर्मफलचेतना को शास्त्रों में अज्ञानचेतना भी कहा जाता है । इसप्रकार मूलतः चेतना दो प्रकार की है - ज्ञानचेतना एवं अज्ञान चेतना । इसमें अज्ञानचेतना के दो भेद हैं - कर्मचेतना, कर्मफलचेतना ।

‘मैं करूँ’ ‘मैं करूँ’ - इसप्रकार पर मैं करने का जो विकल्प है, करने के प्रति जो सतर्कता है, चेतनता है; यही कर्मचेतना है एवं उसके फल को भोगने के प्रति जो सतर्कता है, वह कर्मफलचेतना है ।

एकेन्द्रियादि में कर्मफलचेतना की मुख्यता रहती है । वृक्ष के पास करने के लिए कुछ भी नहीं है; ठंडी लगी, गर्मी लगी, पानी मिला, नहीं मिला - इसप्रकार वह सुख-दुःख को भोगा ही करता है अर्थात् उसे करने की अपेक्षा भोगने का भाव ही अधिक रहता है - यही कर्मफलचेतना है ।

कर्मचेतना एवं कर्मफलचेतना दोनों ही ठीक नहीं है । कर्मचेतना की प्रशंसा की जाती है । कहा जाता है कि यह व्यक्ति कितना कर्तव्यनिष्ठ है; जबकि भोगों में मस्त कर्मफलचेतनावाले को कोई अच्छा नहीं मानता है ।

जो आलसी प्रवृत्ति का है एवं जो भी अनुकूलता-प्रतिकूलता का वेदन हुआ, उसे जो मात्र भोग लेता है; वह कर्मफलचेतना की मुख्यतावाला व्यक्ति है ।

किन्हीं अज्ञानियों में कर्मचेतना की मुख्यता पाई जाती है तो किन्हीं अज्ञानियों में कर्मफलचेतना की मुख्यता रहती है । आप ऐसी बहुत-सी माता-बहनों को देखेंगे कि जिन्हें खाना बनाने में जितना रस आता है, उतना खाना खाने में नहीं । बढ़िया पकवान बनाकर वे पुत्रादिक को खिलायेगी और फिर अंत में जितना बचा होगा, वह स्वयं खायेगी । उन्हें खाने के प्रति उतनी सतर्कता नहीं है, जितनी सतर्कता खिलाने के प्रति है । वे कर्मचेतना की प्रधानतावाली हैं ।

कुछ लोग खाना बनाने में महाआलसी होते हैं । वे मात्र प्रशंसा करते हैं कि ‘यह बहुत बढ़िया बना’ ‘आज जैसा बना; वैसा तो मैंने कभी नहीं खाया’; परंतु उन्हें करने के प्रति कोई सतर्कता नहीं होती, वे मात्र फल में ही चेतते हैं । ऐसे भोगने की प्रधानतावाले जीव कर्मफल चेतनावाले हैं ।

अब ज्ञानचेतना की बात करते हैं। अर्थविकल्प वह ज्ञान है। स्व-पर के विभागपूर्वक अवस्थित विश्व अर्थ है। उसके आकारों का अवभासन विकल्प है। जिसप्रकार दर्पण के निज विस्तार में स्व और पर आकार एक ही साथ प्रकाशित होते हैं; उसीप्रकार जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं - ऐसा अर्थविकल्प ही ज्ञान है।

इसमें आचार्य ने सम्पूर्ण विश्व के स्व और पर - इसप्रकार दो विभाग कर भेदविज्ञान की बात की है। सम्पूर्ण विश्व को स्व और पर के रूप में जानना यही ज्ञान है। स्व और पर रूप में विभाजित सम्पूर्ण विश्व ही अर्थ है। देखो ! यहाँ आचार्यदेव ने ज्ञान का स्वरूप ही विकल्पात्मक बताया है।

स्व और पर के रूप में विभक्त सम्पूर्ण जगत के आकारों का अवभासन विकल्प है, अर्थविकल्प है, ज्ञान है। दर्पण का उदाहरण देकर आचार्यदेव ने यहाँ ज्ञान के लिए एक शर्त रखी है कि ज्ञान में स्व और पर दोनों एकसाथ मालूम पड़ना चाहिए, तभी वह ज्ञान है।

मुमुक्षुओं में यह चर्चा रहती है कि दो पदार्थों का एक साथ ज्ञान नहीं हो सकता है। अरे भाई ! यह बहुत ही स्थूल कथन है। मैं आपसे पूछता हूँ कि ये अंगुलियाँ कितनी हैं - दो हैं तो एक साथ दो दिख रही हैं न ? आगे जो २०० व्यक्ति बैठे हैं; वे भी मुझे एकसाथ दिखाई दे रहे हैं। यदि एकसाथ दिखना नहीं होवे तो प्रमाण नामक ज्ञान ही नहीं रहेगा।

जिसप्रकार दर्पण में स्व और पर दोनों एकसाथ प्रतिबिम्बित होते हैं; उसीप्रकार हर ज्ञान में स्व और पर दोनों एकसाथ प्रतिबिम्बित होते हैं। इसमें ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के ज्ञान समाहित हैं।

हमने पर को जाना; इसलिए स्व जानने में नहीं आयेगा - ऐसा है ही नहीं। यहाँ आचार्य ने ज्ञान की परिभाषा देते हुए कहा है कि जिसमें स्व और पर एकसाथ प्रतिभासित होते हैं, वह ज्ञान है। 'ये मैं हूँ' और 'ये मैं नहीं हूँ' जहाँ ऐसा स्व-पर के भेदपूर्वक जानना होता है, वह ज्ञान

है; यह अज्ञानियों का प्रकरण नहीं है। यह ज्ञानचेतना का प्रकरण है, यहाँ ज्ञानचेतना की परिभाषा दी है।

ज्ञानचेतना को कई घंटों समझाने के बाद भी लोग यह कहते हुए पाये जाते हैं कि - 'एकसाथ दो को तो जान नहीं सकते' अरे ! यह तो ऐसा ही है कि जैसे कोई प्रवचन कर रहा हो और कुछ लोग बातें कर रहे हों; तब प्रवचनकार कहता है कि प्रवचन सुनिँ अथवा बातें कीजिए - दो काम एक साथ नहीं हो सकते हैं - यह इसीप्रकार का स्थूल कथन है।

जैसे छात्रों को यह सलाह दी जाती है कि भाई! तुम अंग्रेजी पढ़ो अथवा धर्म पढ़ो। मेडिकल में जाओ या इंजिनियरिंग पढ़ लो; धर्म कर लो या धंधा कर लो, दो काम एकसाथ नहीं हो सकते हैं।

कहा जाता है कि -

दो मुँह सुई सिये न कन्था, दो मुख पंछी चले न पंथा।
दोय काम नहीं होय सयाने, विषय-भोग अरु मोक्ष भी जाने।।

पाँचवें गुणस्थान में सम्यग्दर्शन भी विद्यमान है, एकदेश संयम भी है एवं भूमिका के अनुसार विषयभोग भी हैं।

जोलौ अष्टकर्म को विनाश नाही सर्वथा।

तोलौ अंतर आत्मा में धारा दोय वरनी।।

एक ग्यानधारा एक सुभासुभ कर्मधारा,

दुहूँ की प्रकृति न्यारी न्यारी न्यारी धरनी।।

इतनौ विसेस जु करमधारा बंधरूप,

पराधीन सकति विविध बंध करनी।।

ग्यानधारा मोखरूप मोख की करनहार,

दोख की हरनहार भौ समुद्र-तरनी।।^१

जबतक अष्टकर्म का पूर्णतः नाश नहीं हुआ है, तबतक अंतरात्मा ज्ञानधारा एवं शुभाशुभ कर्मधारा दोनों एकसाथ चलती हैं।

छठवें गुणस्थान में यह जीव शुभभाव में रहता है; फिर भी उसके

१. पण्डित बनारसीदास, नाटक समयसार, पुण्य-पाप एकत्वद्वार, छन्द-१४

तीन कषाय के अभावरूप शुद्ध परिणति विद्यमान रहती है। परिणति पर्याय का ही नाम है अर्थात् वह प्रगट पर्याय में विद्यमान है।

इसप्रकार स्व-परावभासन ही ज्ञान है, अर्थविकल्प है। अवभासन अर्थात् आकार का अवलोकन ही विकल्प है। आचार्यदेव ने रागात्मक विकल्प का निषेध किया है। यह स्व है और यह पर है - ऐसा जो ज्ञान में जानना हुआ; यह भी विकल्पात्मक है, इसका निषेध नहीं है।

क्षयोपशम ज्ञान दो प्रकार से पाया जाता है। उपयोगरूप से एवं लब्धिरूप से। यहाँ शक्तिरूप से - यह अपेक्षा नहीं लगा सकते हैं; क्योंकि शक्तिरूप से तो हमें केवलज्ञान है, दुनियाँ में जितनी भाषाएँ हैं, उन सबका ज्ञान हमें शक्तिरूप से है।

लब्धिरूपज्ञान पर्याय में प्रगट है। इसमें मात्र जिस ज्ञान का उपयोग कर रहे हैं, वही ज्ञान नहीं है; अपितु वह सम्पूर्ण ज्ञान है, जो उस पर्याय में उपलब्ध है। ऐसे ही स्व को जानते समय पर का ज्ञान विद्यमान है।

आत्मानुभूति के काल में सम्यग्दर्शन हुआ; पर जब उपयोग बाहर आया, तब भी सम्यग्दर्शन कायम रहता है। अनुभूति को यदि सम्यग्दर्शन कहा जाता तो अनुभूति खतम होते ही समयदर्शन खतम हो जाना चाहिए था। अनुभूति में जो त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ज्ञान का ज्ञेय बना था, उपयोग में आया था, उसने श्रद्धागुण में जो अपनापन स्थापित कर लिया था; वह अपनापन अभी भी कायम है; इसलिए सम्यग्दर्शन कायम है, सम्यग्ज्ञान भी कायम है।

जब पर को जानते हैं, तब आत्मा का ज्ञान लब्धि में विद्यमान है और वहाँ सम्यग्ज्ञान भी विद्यमान है एवं दो या तीन कषाय के अभावरूप चारित्रगुण में जितनी शुद्धि हुई है, उतना चारित्र भी विद्यमान है।

भोग के काल में भी एवं युद्ध के समय में भी रत्नत्रय अर्थात् मोक्षमार्ग विद्यमान है। चक्रवर्ती लड़ाई कर रहा है तो भी उसके मोक्षमार्ग विद्यमान है, उसके असंख्यगुणी निर्जरा हो रही है।

जैसाकि तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय के पैतालीसवें सूत्र में कहा है-

“सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोप-शान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण निर्जराः।

सम्यग्दृष्टि, पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक, विरत-मुनि, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोह का क्षय करनेवाला, उपशमश्रेणी माँडनेवाला, उपशांतमोह, क्षपकश्रेणी माँडनेवाला, क्षीणमोह और जिन - इन सबके (अंतर्मुहूर्तपर्यन्त परिणामों की विशुद्धता की अधिकता से आयुर्कर्म को छोड़कर) प्रतिसमय क्रम से असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।”

जो दो का ज्ञान एकसाथ नहीं हो सकता - ऐसा मानते हैं; उनका आशय यह है कि जब हमें खाने-पीने का ज्ञान रहता, तब आत्मज्ञान नहीं रहता। जिस समय मैं आत्मा को समझा रहा हूँ; उस समय मेरा उपयोग भाषा पर है, समझाने पर है, श्रोताओं पर है; क्या उस समय मुझे आत्मज्ञान नहीं है? श्रोताओं को समझाने की प्रक्रिया भी चल रही है और आत्मज्ञान भी है। इसप्रकार इन अनेक पदार्थों का ज्ञान एकसाथ होने में कोई समस्या नहीं है।

यह भ्रम हमें अपने मस्तिष्क से निकाल देना चाहिए कि एक समय में एक को ही जान सकते हैं; इसलिए यदि पर को जानेंगे तो स्व को नहीं जान पायेंगे। अतः स्व को जानने के लिए पर को जानना बाधक है, शत्रु है। अरे भाई ! इसप्रकार पर के जानने को शत्रु की श्रेणी में मत रखो; क्योंकि इसमें ज्ञानस्वभाव का निषेध हो जाता है।

कर्म से उत्पन्न सुख-दुःख वह कर्म फल है। वहाँ द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के असद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल अनाकुलत्व लक्षण प्रकृतिभूत सुख है और द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल विकृति

(विकार) भूत दुःख है; क्योंकि वहाँ सुख के लक्षण का अभाव है।

कर्मचेतना में कर्तृत्व की मुख्यता रहती है एवम् कर्मफलचेतना में भोक्तृत्व की मुख्यता रहती है। इसप्रकार आचार्य ने ज्ञानचेतना, कर्मचेतना एवं कर्मफलचेतना का स्वरूप समझाया।

क्या क्षयोपशमज्ञान, ज्ञान नहीं है; क्योंकि ज्ञान का लक्षण स्वपराव-भासन है; उसका लक्षण अर्थविकल्पात्मक है। यह लक्षण क्षयोपशमज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान में भी घटित होगा एवं मिथ्याज्ञान में भी घटित होगा। यह लक्षण सम्पूर्ण ज्ञानपर्याय में निगोद से लेकर मोक्ष तक की पर्यायों में घटित होगा। तभी वह ज्ञान का लक्षण कहलायेगा, अन्यथा वह ज्ञान का लक्षण नहीं कहलायेगा।

‘ज्ञेयपने को प्राप्त आत्मा की शुद्धता’ – ऐसा कहकर आचार्य यह कहना चाहते हैं कि ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में जिसकी चर्चा की गई थी, वह आत्मा के जाननेवाले स्वभाव की बात थी और यहाँ जिस आत्मा की चर्चा है, वह ज्ञेयभूत आत्मा की बात है। आत्मा ज्ञेय है अर्थात् एक अर्थ है, एक वस्तु है।

वह ज्ञेयरूप आत्मा ज्ञानचेतना, कर्मचेतना एवं कर्मफलचेतनावाला है। ज्ञेयतत्त्व को प्राप्त आत्मा की शुद्धता के निश्चय से ज्ञानतत्त्व की सिद्धि होने पर उस आत्मा का स्वभाव ही यदि ज्ञान है तो उस ज्ञेयरूप आत्मा का वर्णन ज्ञानरूप से ही करेंगे।

जिसप्रकार पुद्गल भी एक ज्ञेय है और उसका स्वभाव स्पर्श, रस, गंध, वर्ण है। यदि पुद्गल की ज्ञेयरूप से चर्चा करेंगे तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण की चर्चा भी आयेगी।

इसीप्रकार आत्मा की ज्ञेयरूप से चर्चा होगी तो उसमें आत्मा के स्वभाव की भी चर्चा होगी। आचार्य ने उपसंहार में यह कहा कि ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन में ज्ञानस्वभावी जो स्वज्ञेय है; उसकी उपलब्धि होगी और इसी कारण से ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार को सम्यग्दर्शनाधिकार भी कहा जाता है।

१२६वीं गाथा में अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा गया है कि जिस श्रमण ने यह निश्चित किया है कि यह आत्मा ही ज्ञानचेतना, कर्मचेतना एवं कर्मफलचेतना का कर्ता है, कर्म है, करण है; सबकुछ आत्मा के भीतर ही है। परद्रव्य का इसमें कुछ हस्तक्षेप नहीं है – वह श्रमण अन्यरूप परिणमित नहीं होता अर्थात् द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं बनता, सम्पूर्ण विश्व का कर्ता-भोक्ता नहीं बनता; उनके साथ कर्ता, कर्म, करण आदि कारकरूप संबंध स्थापित नहीं करता। ऐसा श्रमण शुद्धात्मा को प्राप्त करता है।

आचार्य यहाँ कह रहे हैं कि ऐसा नहीं है कि मैं ज्ञानी हो गया हूँ; इसलिए स्त्री-पुत्र-मकान-जायदाद और द्रव्यकर्म-भावकर्म मेरे नहीं रहे हैं। जब मैं इन सबको अपना मानता था; तब भी ये मेरे नहीं थे; न मैं इनका कर्ता था, न करण था, न कर्म था, न कर्मफल भोक्ता था।

ऐसा कहते हुए कई व्यक्ति दिखाई देते हैं कि भाई! मैंने अज्ञानावस्था में बहुत कुछ किया; अब जब से मैं आपके समागम में आया हूँ तो मैंने वे सब काम बंद कर दिये हैं, अब तो मैं केवल अपने आत्मा का ही करता हूँ और कुछ नहीं। पहले मैंने बहुत किया है।

अरे भाई! इस आत्मा ने अनादि से पर में कुछ किया ही नहीं है; क्योंकि दोनों के बीच वज्र की दीवार खड़ी है। यहाँ आचार्यदेव ने ज्ञानी को ज्ञानभाव का, एवं अज्ञानी को अज्ञानभाव का कर्ता कहा है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो संसार का अभाव हो जायेगा; क्योंकि संसार में हम इसी वजह से हैं।

यदि हम उसके कर्ता है ही नहीं तो उसके फल के भोक्ता भी नहीं होना चाहिये। अनादिकाल से हम निगोद में रहे हैं, निगोद भी पर्याय है एवं मोक्ष भी पर्याय है; परंतु यह तथ्य भी सम्पूर्ण सत्य है कि जब यह जीव निगोद से लेकर मोक्ष तक की सभी पर्यायों से एकत्वबुद्धि तोड़कर त्रिकाली ध्रुव में एकत्वबुद्धि करेगा, तभी सम्यग्दर्शन होगा।

कुछ लोग कहते हैं कि जीवों का घात तो व्यवहारहिंसा है और

व्यवहार तो असत्यार्थ है; मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि उक्त हिंसा के फल में नरक में जाना पड़ेगा – यह बात असत्य है या सत्य ? यदि सत्य है तो व्यवहारहिंसा से भी बचना चाहिए।

मैं आपसे ही पूछता हूँ ये राग भी तो व्यवहार है; परंतु क्या इसके फल में स्वर्ग-नरक नहीं है ?

यहाँ आचार्य ने जवाकुसुम का उदाहरण दिया है। जवाकुसुम को यदि स्फटिकमणि में लगा दो तो वह मणि जवाकुसुम जैसा ही दिखने लगता है। जबतक जवाकुसुम उस मणि में नहीं है, तबतक वह निर्मल है। जब जवाकुसुम का लालरंग उसमें से दिखाई दे रहा है; तब भी वैसा ही निष्कलंक है; जैसा वह पूर्व में था। अंतर इतना ही है कि अब वह जवाकुसुम के रंग के अनुरूप दिखाई दे रहा है। ऐसे ही आत्मा निगोद से मोक्ष तक एक-सा ही रहेगा; यही उसकी अनन्यता है। आगे आचार्यदेव ने यह स्पष्ट किया है कि बंधमार्ग में और मोक्षमार्ग में यह आत्मा अकेला ही है – यही है एकत्वभावना।

यदि बंधमार्ग में अपने कार्यों का जिम्मेदार मैं स्वयं नहीं हुआ तो मोक्षमार्ग भी मेरे हाथ से निकल जायेगा। ज्ञानी का राग चारित्र की कमजोरी है; उसे अज्ञानभाव नहीं कहा जा सकता ?

अब प्रश्न यह है कि ज्ञानी उस राग का कर्ता है या नहीं ?

ज्ञानी की उसमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं है; इसलिए ज्ञानी उसका कर्ता नहीं है। ज्ञानी जीव के अनन्तानुबंधी संबंधी रागभाव तो है ही नहीं; अतः उसका कर्ता होने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अप्रत्याख्यानादि संबंधी जो राग है; ज्ञानी उसरूप परिणमता है; अतः वह उसका कथंचित् कर्ता कहा है; किन्तु उसमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं है; अतः कथंचित् अकर्ता भी कह सकते हैं।

यहाँ सर्वथा कर्ता नहीं है – ऐसा नहीं कहा है। यहाँ कथंचित् कर्ता नहीं है – ऐसा कहा है। यदि सर्वथा कहते तो जिन प्रकृतियों का बंध है, वह नहीं होना चाहिए। जब यह जीव उनका कर्ता नहीं है तो जीव के

साथ उन प्रकृतियों का बंध क्यों होता है ?

ज्ञानी उस रागरूप स्वयं परिणमित हुआ है; परंतु उसकी वहाँ कर्तृत्वबुद्धि नहीं है। वह उसे करने योग्य नहीं मानता है। उसने वहाँ एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वबुद्धि तोड़ दी है। इस अपेक्षा से उसे अकर्ता कहा जाता है। समयसार में यही मुख्य अपेक्षा है।

वहाँ ऐसा लिखा है कि अशुद्धनिश्चयनय से कर्ता है; परंतु अशुद्धनिश्चयनय तो अज्ञानी के ही घटित होता है; वह ज्ञानी के घटित नहीं होता है।

तब फिर 'बृहद्द्रव्यसंग्रहादिक' में यह प्रश्न किया कि ज्ञानी परमशुद्धनिश्चयनय से उसका कर्ता है या नहीं ?

इसका उत्तर वहाँ इसप्रकार दिया है कि परमशुद्धनिश्चयनय से वह राग ही नहीं है अर्थात् राग का त्रिकाली ध्रुव में कोई अस्तित्व ही नहीं है।

पीली हल्दी और सफेद चूना मिलकर लाल रंग हो जाता है। इसमें हल्दी लाल होती है या चूना लाल होता है ? ऐसा भी कह सकते हैं कि हल्दी के संयोग से चूना लाल हो गया है एवं ऐसा भी कह सकते हैं कि चूने के संयोग से हल्दी लाल हो गई है। इसप्रकार भी कह सकते हैं कि दोनों मिलकर लाल हो गये हैं; परंतु परमशुद्धनिश्चयनय ऐसा कहता है कि हल्दी व चूना कभी मिलते ही नहीं है। हल्दी अभी भी पीली है एवं चूना अभी भी सफेद है; वे मिलते ही नहीं हैं।

ऐसे ही कहते हैं कि परमशुद्धनिश्चयनय से राग है ही नहीं। तब उसके कर्ता होने का सवाल ही खड़ा नहीं होता है।

इसप्रकार आचार्य ने प्रवचनसार में द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनाधिकार में पहले उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, स्वरूपास्तित्व, सादृश्यास्तित्व, महासत्ता, अवान्तरसत्ता आदि सबका विस्तार से स्वरूप बताकर उसे आत्मा पर घटित करके, आत्मा के षट्कारक स्वयं पर ही घटित करके इस अधिकार का समापन किया है।

पन्द्रहवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम का ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार चल रहा है। इसमें द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनाधिकार की चर्चा हुई, अब द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार की चर्चा आरंभ करते हैं। यह द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार १२७वीं गाथा से १४४वीं गाथा तक है। इसमें जो विषयवस्तु है; वह अपेक्षाकृत बहुत सामान्य है एवं जो धर्म में थोड़ी भी रुचि रखते हैं, उनको भी इस विषय-वस्तु की जानकारी रहती है।

इसमें जीवादिक छह द्रव्यों का वर्णन है; जो पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थ-सूत्र, द्रव्यसंग्रह एवं छहढाला आदि सर्वमुलभ ग्रन्थों में भी है। जो विषयवस्तु हमने इन ग्रन्थों में पढ़ी है; उसे ही यहाँ प्रकारान्तर से १८ गाथाओं में प्रस्तुत किया है; लेकिन प्रवचनसार की यह अपनी विशेषता है कि इसमें छह द्रव्यों को जीव-अजीव, मूर्तिक-अमूर्तिक, सक्रिय-निष्क्रिय, लोक-अलोक, अस्तिकाय-नास्तिकाय आदि अनेकप्रकार के अनेक वर्गों में विभाजित किया है। जबकि अन्य सभी ग्रन्थों में उन्हें मात्र जीव और अजीव - इसप्रकार एक ही वर्ग में विभाजित किया है।

वस्तुस्थिति इसप्रकार है कि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - इसप्रकार द्रव्य छह प्रकार के हैं। इनमें अजीव नामक कोई द्रव्य नहीं है; परन्तु जीवको मुख्य बनाकर उन छह द्रव्यों को दो भागों में बाँटा गया है। एक पक्ष में जीव नामक एक ही द्रव्य रखा है एवं दूसरे पक्ष में अन्य पाँच द्रव्यों को रखकर उन्हें अजीव कहा गया; इसप्रकार से जीव और अजीव ये दो द्रव्य हैं।

आचार्य नेमिचन्द्रकृत द्रव्यसंग्रह का मंगलाचरण इसी वर्गीकरण से प्रारम्भ होता है -

‘जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिदिट्ठं ।’

जिस भगवान ने जीव और अजीव द्रव्यों को हमें बताया; उन्हें हम

नमस्कार करते हैं। इसप्रकार यहाँ जीव-अजीव की मुख्यता से ही विभाग किया गया है। मैं स्वयं जीव हूँ और मैंने बहुत से अजीव पदार्थों को जीव मान रखा है। स्वयं को उन अजीव पदार्थों से भिन्न जानने के लिए ही इसतरह के दो भेद किये हैं। भेदविज्ञान की मुख्यता से ही उनका बँटवारा किया गया है।

यहाँ जीव-अजीव की परिभाषायें इसप्रकार दी हैं - चेतना लक्षण जीव है एवं जिनमें चेतना नहीं है, वे अजीव हैं। यद्यपि अजीव में जो पाँच द्रव्य आते हैं, उनकी पृथक् से अपनी-अपनी परिभाषाएँ हैं; तथापि यहाँ एक ऐसी परिभाषा आवश्यक थी, जो पाँचों द्रव्यों में घटित हो, जो पाँचों को अपने में समेट सके। इसलिए जिसमें चेतनालक्षण नहीं है, वह अजीव है - ऐसी नकारात्मक (अभावात्मक-निगेटिव) परिभाषा दी गई है।

जीव चेतनालक्षण सहित है, पुद्गल स्पर्श-रस-गंध-वर्ण सहित है और धर्म की गतिहेतुत्व, अधर्म की स्थितिहेतुत्व, आकाशद्रव्य की अवगाहनहेतुत्व एवं काल की परिभाषा परिणमनहेतुत्व है।

जब प्रत्येक द्रव्य की सकारात्मक परिभाषायें उपलब्ध हैं तो फिर नकारात्मक (निगेटिव) चर्चा क्यों की गई ?

भाई ! अजीव की बात ही कुछ अजीव है; क्योंकि वह शब्द स्वयं नकारात्मक (निगेटिव) है, उसका नामकरण ही नकारात्मक (निगेटिव) हुआ है। जो जीव नहीं है, वह अजीव; इसलिए जिसमें चेतना नहीं है, वह अजीव है। स्व-पर विभागरूप भेदविज्ञान की सिद्धि के लिए ही ऐसी परिभाषा दी है।

इस अधिकार में आचार्यदेव ने सर्वप्रथम जीव-अजीव इसप्रकार दो विभाग किये। फिर प्रत्येक द्रव्य का लक्षण बताया; फिर छह द्रव्यों के समुदाय को विश्व कहकर, उसे दो भागों में विभाजित किया।

जहाँ छहों द्रव्य पाये जावे, वह लोक या लोकाकाश और जहाँ

अकेला आकाश ही हो, वह अलोक या अलोकाकाश है। इसप्रकार आचार्यदेव ने यहाँ आकाश के नहीं, अपितु षड्द्रव्यमयी विश्व के दो भेद किये हैं - लोक और अलोक।

जिसप्रकार जीव से इतर अजीव है; उसीप्रकार ही लोक से इतर अलोक है। लोक यह नामकरण भावात्मक (पॉजिटिव) है तो अलोक यह नामकरण अभावात्मक (निगेटिव) है।

फिर सक्रिय द्रव्य और निष्क्रिय द्रव्य - ये दो भेद किये। छहों द्रव्यों में जीव एवं पुद्गल सक्रिय हैं। शेष चार द्रव्य निष्क्रिय हैं।

परिणमनरूप क्रिया तो छहों द्रव्यों में होती है; परन्तु क्षेत्र से क्षेत्रान्तर अर्थात् एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाने की क्रिया मात्र जीव और पुद्गल - इन दो द्रव्यों में ही होती है। आकाश द्रव्य अनादिकाल से अपनी जगह अवस्थित है और रहेगा। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के प्रदेश भी अनादिकाल से अनंतकाल तक जहाँ व्याप्त है, वहीं व्याप्त रहेंगे। असंख्यात कालद्रव्य लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में रत्नों की राशि के समान खचित हैं।

यहाँ रत्नों की राशि के समान कहकर आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि पुद्गल के परमाणु तो स्निग्ध एवं रूक्षत्व गुण के कारण आपस में चिपक जाते हैं, बंध को प्राप्त हो जाते हैं और बिखर भी जाते हैं। रूक्ष होंगे तो बिखर जायेंगे और स्निग्ध होंगे तो चिपक जायेंगे; परन्तु कालद्रव्य आपस में चिपकते नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि कालद्रव्य में स्कन्धरूप होने की योग्यता नहीं है; अतः उसकी मर्यादा एक प्रदेश मात्र की ही है।

आकाश द्रव्य सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है; अतः उसमें क्षेत्रान्तर गमन की कोई सम्भावना नहीं है - ऐसे ही धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं; अतः उनके भी क्षेत्रान्तर गमन की कोई सम्भावना नहीं है।

यदि रेल के डिब्बे में बैठे तो वहाँ हिलने-डुलने की गुजांइश रहती है; परन्तु किसी बर्तन में किसी चीज को ठसाठस भर दिया जाय तो

उसमें हिलने की गुजांइश नहीं रहती है - ऐसे ही धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य एवं कालद्रव्य लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में ठसाठस भरे हुए हैं। आकाश के अनंत प्रदेश हैं और उसके एक भाग असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में रत्नों की राशि के समान एक-एक कालद्रव्य खचित हैं।

जैसे हार में जड़े हुए रत्न एक-दूसरे के पास हैं; पर परस्पर जुड़े नहीं हैं। अपना स्थान छोड़कर दूसरे स्थान में जाते नहीं हैं और दूसरों को अपने स्थान में आने नहीं देते हैं। रत्नों की राशि का उदाहरण देकर आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि उनमें स्कन्ध होने की शक्ति नहीं है।

प्रत्येक कालाणु अपने आप में परिपूर्ण द्रव्य है, वह किसी का अंश नहीं है। अनादिकाल से जिस आकाश के प्रदेश में जो कालद्रव्य स्थित है, वह अनादि से वहीं है और अनंतकाल तक वहीं रहेगा; वह वहाँ से हिलनेवाला नहीं है। इस दृष्टि से धर्म, अधर्म, आकाश और काल को निष्क्रिय कहा गया है। उनमें परिणमन नहीं होता है - ऐसी बात नहीं है।

ध्यान रहे यहाँ परिणमनरूप क्रिया की बात नहीं है। यहाँ तो क्षेत्र से क्षेत्रान्तररूप गमन का नाम क्रिया है। एक आकाश के प्रदेश से दूसरे आकाश के प्रदेश में जाने का नाम क्रिया है। इसप्रकार आचार्यदेव ने द्रव्यों को सक्रिय एवं निष्क्रिय - इन दो भागों में विभाजित किया है। जीव व पुद्गल दो सक्रिय द्रव्य हैं एवं अन्य चार द्रव्य निष्क्रिय हैं। इसको प्रवचनसार में क्रियावान और भाववान इस रूप में भी कहा है।

भाववान तो छहों द्रव्य हैं। भाववान अर्थात् परिणमनरूप क्रिया से सम्पन्न और क्रियावान अर्थात् क्षेत्र से क्षेत्रान्तररूप क्रिया से सम्पन्न। इसप्रकार आचार्य ने भाववान व क्रियावान ये दो विभाग भी द्रव्यों में किये हैं।

क्षेत्र से क्षेत्रान्तररूप क्रिया की चर्चा प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त के रूप में भी की जाती है; अतः यहाँ प्रेरक निमित्त को समझना

आवश्यक है।

प्रेरक निमित्त कहते ही सभी को यही समझ में आता है कि गुरुजी प्रेरक निमित्त हैं; क्योंकि वे डंडा मारकर पढ़ाते हैं। पुस्तक उदासीन निमित्त है; क्योंकि पढ़ाई में पुस्तक सहायता देती है; किन्तु पढ़ाई के लिए बाध्य नहीं करती; परन्तु शास्त्रों में प्रेरक और उदासीन निमित्तों की ऐसी व्याख्या नहीं है।

शास्त्रों में ऐसा लिखा है कि क्रियावान द्रव्यों को प्रेरक निमित्त कहते हैं और निष्क्रिय द्रव्यों को उदासीन निमित्त कहते हैं।

यहाँ उदाहरण इसप्रकार दिया जाता है कि हवा ध्वजा के चलने में प्रेरक निमित्त है; क्योंकि हवा चलती है, क्रियावान है। धर्मद्रव्य उदासीन निमित्त है; क्योंकि वह क्रियावान नहीं है; एक जगह से दूसरी जगह नहीं जाता है। धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों को गति करने में निमित्त है; परन्तु स्वयं गति नहीं करता। इसप्रकार स्वयं जिसमें गति नहीं है, उसे उदासीन निमित्त कहा है।

ऐसा नहीं है कि प्रेरक निमित्त अधिक बलवान है। गुरुजी डण्डा मार-मारकर पढ़ाते हैं, हवा खूब चल करके ध्वजा को उड़ाती है।

इसी भाषा ने लोगों के चित्त में भ्रम उत्पन्न किया है कि प्रेरक निमित्त बहुत बलवान है एवं उदासीन निमित्त ऐसे ही पड़ा रहता है। इसीलिए आचार्यदेव को यह लिखना पड़ा कि सभी निमित्त कार्य होने में धर्मास्तिकाय के समान ही उदासीन हैं।

यदि ऐसा है तो प्रश्न यह है कि आचार्यदेव ने प्रेरक और उदासीन निमित्त - ऐसे दो भेद ही क्यों किये ?

जिनकी क्षेत्र से क्षेत्रान्तर गति होती है - ऐसे निमित्त एवं जिनकी क्षेत्र से क्षेत्रान्तर गति नहीं होती है - ऐसे निमित्त - इसप्रकार दो प्रकार के निमित्तों को बताने के लिए उन्होंने दो भेद किये। इच्छावान और क्रियावान निमित्तों को प्रेरक निमित्त कहते हैं। जीव में इच्छा भी है और

क्रिया भी है, पुद्गल में मात्र क्रिया है, इच्छा नहीं है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इनमें इच्छा भी नहीं है और क्रिया भी नहीं है; इसलिए ये चार द्रव्य उदासीन निमित्त हैं एवं जीव और पुद्गल द्रव्य प्रेरक निमित्त हैं।

जीव व पुद्गल दोनों ही क्रियावान होने से प्रेरक निमित्त हैं; इसीलिए हवा को प्रेरक निमित्त कहा है। हवा में जीव एवं पुद्गल दोनों मिले हुए हैं। जिस दण्ड पर वह ध्वजा खड़ी थी, उस दण्ड को उदासीन निमित्त कहा। भेद तो मात्र यह बताने के लिए किया था; पर हमने उसमें से निमित्त की बतबत्ता खोजनी शुरू कर दी।

इसप्रकार क्रियावान और भाववान ये दो भेद करने के बाद आचार्यदेव ने मूर्तिक और अमूर्तिक ये दो भेद किये। मूर्तिक कहते ही पुद्गल की मुख्यता हो गई; क्योंकि पुद्गल मूर्तिक है -

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः। रूपिणः पुद्गलः।^१

जिसमें स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण हैं, वे पुद्गल हैं एवं पुद्गल रूपी अर्थात् मूर्तिक है। मूर्त की परिभाषा इसप्रकार है -

मुक्ता इन्दियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।

दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा।।१३१।।

(हरिगीत)

इन्द्रियों से ग्राह्य बहुविधि मूर्त गुण पुद्गलमयी।

अमूर्त हैं जो द्रव्य उनके गुण अमूर्तिक जानना।।१३१।।

पुद्गलद्रव्यात्मक इन्द्रियग्राह्य द्रव्य के गुण मूर्त हैं और अनेकप्रकार के अमूर्त द्रव्यों के गुण अमूर्त जानना चाहिए।

यहाँ जो इन्द्रियों के पकड़ में आता है, उसे मूर्त कहा है।

जो पकड़ता है, जानता है, वह तो आत्मा ही है। इन्द्रियाँ उसे नहीं जानती हैं; वे तो जड़ हैं। क्षयोपशमज्ञानवालों के जानने में इन्द्रियाँ

निमित्त होती हैं। इसलिए इन्द्रियों के द्वारा जो जानने में आता है, वह मूर्त है - ऐसा कहा है।

यहाँ प्रश्न यह है कि यह अनिवार्य नहीं है कि हम मूर्त को आँख से ही देख सकते हैं, केवली भगवान तो बिना आँख के ही रूप को देखते हैं।

अरे भाई ! जिन संसारी जीवों को मूर्तिक और अमूर्तिक का भेद बताना है; वे संसारीजीव रूप को आँख के माध्यम से ही जानते हैं; इसलिए आचार्यदेव ने यहाँ इन्द्रियग्राह्य यह विशेषण जोड़ दिया है।

वस्तुतः जिसमें स्पर्श-रस-गंध-वर्ण पाया जाये; उसे मूर्त कहना चाहिए था; क्योंकि यही भावात्मक (पॉजिटिव) लक्षण है; परन्तु आचार्यदेव ने यह लक्षण जीव की तरफ से दिया है। यह लक्षण हमारी सुविधा के लिए है कि इन्द्रियों के माध्यम से जो जानकारी हो रही है, वह सब मूर्त पदार्थों की ही हो रही है। मूर्त पदार्थ मात्र पुद्गल हैं; इसलिए केवल पुद्गल ही हमारे जानने में आ रहा है।

हमारे हृदय में इन्द्रियों के प्रति बहुत उपकृत भाव हो गया है। हम उनके कृतज्ञ हो गये हैं एवं उनकी कृतज्ञता में बहुत दब गये हैं।

यह हमारे मस्तिष्क में बैठ गया है कि इन्द्रियाँ हमारे ज्ञान में सहायक हैं; उपकारक हैं। पुद्गल को जानने में, मूर्त पदार्थ को जानने में इन्होंने बहुत उपकार किया है, यदि आँख नहीं होती तो मुझे रूप दिखाई नहीं देता।

बहुत से लोग तो यह कहते हैं कि आँखे गई तो समझ लो जीवन गया, बस मर गये। इसप्रकार इन्द्रियों को हम हमारे ज्ञान में बहुत बड़ा सहयोगी मानते हैं एवं उससे स्वयं को उपकृत एवं कृतज्ञ मानते हैं।

इन्द्रियों के समर्थन में हम कहते हैं कि ये ज्ञान में निमित्त हैं, शास्त्रों को पढ़ने में नेत्रों ने सहयोग दिया है, कानों ने प्रवचन सुनने में सहायता दिया है ? इसतरह हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। इसलिए आचार्यदेव ने यह कहा है कि इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं है। बालबोध पाठमाला भाग-३ में भी मैंने लिखा है कि 'इन्द्रिय ज्ञान तुच्छ है; क्योंकि

वह आत्मा के जानने में उपादान तो है ही नहीं, निमित्त भी नहीं है।'।

इन्द्रियाँ पुद्गल के जानने में भी निमित्त ही हैं, उपादान नहीं है।

इन्द्रियों की गुलामी से मुक्त होने के लिए यह जानना बहुत जरूरी है कि वे मात्र पुद्गल के स्कंधों को जानने में निमित्त हैं; अतः हमारे आत्म-कल्याण के कार्य में उनकी कोई उपयोगिता नहीं है।

समयसार ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि जो जीव को नहीं जानता है, वह अजीव को भी नहीं जानता है और जो जीव-अजीव को नहीं जानता है, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

आत्मा को अस्ति से जानना वह जीव को जानना है और आत्मा को ही नास्ति से जानना वह अजीव को जानना है।

जीव को आत्मा का कल्याण करना है तो आत्मा को जानो - इतना ही पर्याप्त है। देह से भिन्न, राग से भिन्न भगवान आत्मा को जानना है तो फिर शरीर और राग को भी जानना ही होगा; क्योंकि राग को जानना आस्रव को जानना है, देह को जानना अजीव को जानना है।

इसप्रकार शरीर और राग से भिन्न आत्मा को जानना ही शरीररूप अजीव और रागरूप आस्रव को जानना है। उनके बारे में इससे अधिक और कुछ नहीं जानना है।

इसे ही मैं दूसरी विधि से समझाता हूँ कि आत्मकल्याण के लिए भाषा को जानना जरूरी है या नहीं ?

देशनालब्धि के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होगा। शास्त्र में पाँच लब्धियों में देशनालब्धि को अनिवार्य कहा गया है। वह देशनालब्धि किसी न किसी भाषा में ही होगी। गुरु हमें समझायेंगे तो वे हिन्दी, संस्कृत, गुजराती किसी न किसी भाषा के माध्यम से ही समझायेंगे।

मेरे कथन का आशय यह है कि आत्मकल्याण के लिए मात्र आत्मा का ज्ञान जरूरी नहीं है; उसके साथ भाषा का ज्ञान भी होना चाहिए। मात्र आत्मा को ही जानो और कुछ नहीं - यह मुख्यता की विवक्षा से उचित ही है; परन्तु गौणरूप से गहराई में जायेंगे तो धीरे-धीरे सभी बिन्दु स्पष्ट हो जाते हैं।

हमारी बारात आयेगी तो आप लोगों द्वारा स्वागत बढ़िया होना चाहिए, कम से कम पाँच प्रकार की मिठाइयाँ तो होनी ही चाहिए।

तब यह कहता है कि भाईसाहब आपको जो कुछ चाहिए, वह सब बता दीजिए; बस आपका मार्गदर्शन चाहिए।

तब बाराती कहते हैं कि नहीं, नहीं; बस पाँच प्रकार की मिठाइयाँ ही चाहिए।

इस पर यदि वह मात्र पाँच मिठाइयाँ ही रखे और कुछ नहीं रखे; पानी, सुपारी, इलायची, लोंग कुछ भी नहीं रखे तो समस्या उपस्थित होगी ही।

ऐसे ही आचार्यदेव ने कहा कि बस आत्मा को जानो; तुम्हारा कल्याण हो जायेगा और हमारे सामने तत्त्वार्थसूत्र, प्रवचनसार, समयसार, लघुसिद्धान्त कौमुदी और परीक्षामुख रख दिये। अभी वे यही कह रहे हैं कि आत्मा का कल्याण करने के लिए आत्मा को जानना जरूरी है; भाषा को जानो तो ठीक, नहीं जानो तो ठीक।

तब हम उन्हीं गुरुजी की तरफ मेंढे की भांति आश्चर्यान्वित होकर आँखे फाड़कर देखने लगेंगे। ऐसी स्थिति में उन्हीं गुरु को म्लेच्छ भाषा में ही सही, पर हमें किसी भाषा में ही समझाना पड़ता है।

इसलिए आचार्यदेव ने द्रव्यों के वर्गीकरण में उन्हें मूर्त और अमूर्त इन भेदों में भी विभाजित किया है।

जो इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य है, वह मूर्त है। इसका मतलब यह नहीं है कि मूर्त पदार्थ का ज्ञान इन्द्रियों के बिना नहीं होता; क्योंकि मूर्त पदार्थों का ज्ञान अरिहंत और सिद्ध भगवान को इन्द्रियों के बिना ही होता है।

इसप्रकार इस लक्षण में तो अव्याप्ति दोष आता है; क्योंकि परमाणु आदि बहुत से मूर्त पदार्थ इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जाते, वे केवलज्ञान और अनुमान व आगमादि प्रमाणों से जाने जाते हैं।

अरे भाई! अतिव्याप्ति, अव्याप्ति – ये दोष न्यायशास्त्र की मुख्यता से हैं। यहाँ तो आचार्यदेव ने यह परिभाषा इसलिए बनाई है कि इस

जीव को यह समझ में आ जाय कि चक्षु आदि इन्द्रियों से जो भी दिख रहा है, वह सब पुद्गल है, आत्मा नहीं है, यह मैं नहीं हूँ।

सिद्ध भगवान बिना इन्द्रियों के जिन पदार्थों को देखते-जानते हैं; उनमें परमाणु भी है, जो स्थूल इन्द्रियों के द्वारा पकड़ में नहीं आता। स्कन्ध इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य है और परमाणु इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है तो क्या वह पुद्गल नहीं है? परमाणु इतना सूक्ष्म है कि वह चक्षु इन्द्रिय की पकड़ में नहीं आता; परन्तु वही परमाणु जब अनेक परमाणुओं से मिलता है, तब वह स्कन्ध बन जाता है। इससे आशय यह है कि परमाणु में भी वह तत्त्व विद्यमान है, जो इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य हैं; परन्तु हमारी इन्द्रियविशेष की यह कमजोरी है कि उतनी सूक्ष्म चीज को हम देख नहीं सकते हैं।

सुई का छेद देखने में तो आता है; परन्तु कोई कहे कि मुझे दिखता नहीं है तो वह उसकी बात है। यदि उसे सुई का छेद आँख से दिखाई नहीं देता तो उसे चश्मा लगवा लेना चाहिए। यदि उसकी आँख से सुई का छेद दिखाई नहीं देता तो इसका अर्थ यह तो नहीं हो सकता कि सुई का छेद आँखों के दिखता ही नहीं है।

हवा भी पुद्गल है, वह भी चक्षु इन्द्रिय के द्वारा जानने में नहीं आती; परन्तु रूप तो उस हवा में भी है; फिर भी वह चक्षुइन्द्रिय से देखने में नहीं आता है।

आचार्यदेव ने तर्क-वितर्क से यह सिद्ध किया है कि उसमें वे तत्त्व विद्यमान हैं, जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने में आते हैं; परन्तु हमारे ही इन्द्रिय-विशेष की कमजोरी है कि जिसके कारण से हमें नहीं दिखते।

यहाँ यह प्रश्न किया है कि शब्द गुण है या पर्याय?

स्पर्श स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है, रस रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है, गंध घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है; रूप चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है और शब्द कर्ण इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है। वैशेषिक शब्दों को आकाश का गुण कहते हैं;

परन्तु जैनदर्शन इसे पुद्गल की पर्याय मानता है। गुण तो त्रिकाली होते हैं; परन्तु शब्द कादाचित्क हैं अर्थात् वे कभी होते हैं और कभी नहीं होते हैं। पर्याय का लक्षण कादाचित्क अर्थात् कभी होना और कभी नहीं होना है। शाश्वत रहना वह गुण का लक्षण है। शब्द में गुण का लक्षण नहीं पाया जाता; इसलिए वह पर्याय है।

तब फिर यह प्रश्न होता है कि इन शब्दों में स्पर्श-रस-गंध-वर्ण तो देखने में आते नहीं हैं तो हम उसे कैसे ग्रहण करें?

आचार्य कहते हैं कि यह पुद्गल है, मूर्तिक है और कर्णेन्द्रिय के द्वारा गोचर है।

कुन्दकुन्दाचार्य देव इतना सामान्य वर्णन अपने शिष्यों के लिए कर रहे हैं। क्या उनके मुनि शिष्य छह द्रव्यों का स्वरूप नहीं जानते होंगे?

जानते होंगे, अवश्य जानते होंगे; परन्तु आचार्यों की यह रीति रही है कि किसी वस्तु का प्रतिपादन व्यवस्थित ढंग से करना है तो उसमें से सरल प्रकरणों को निकाल नहीं सकते, उन्हें भी लेना पड़ेगा और कठिन प्रकरणों को भी लेना पड़ेगा। तभी उसका सर्वांग विवेचन होगा।

यदि मैं सरल-सरल व्याख्यान करूँ और कठिन विषय छोड़ दूँ तो ग्रन्थ अधूरा रह जायेगा एवं कठिन-कठिन विषय रखूँ और सरल छोड़ दूँ तो भी ग्रन्थ अधूरा रह जायेगा।

इस ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में प्रथम द्रव्यसामान्य का वर्णन किया, उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, सादृश्यास्तित्व, स्वरूपास्तित्व इत्यादि का सूक्ष्मता से वर्णन किया एवं तदुपरान्त ६ द्रव्यों का वर्णन किया। इसप्रकार आचार्यदेव समग्र वर्णन कर रहे हैं; अतः भले ही विषयवस्तु सरल हो; फिर भी संक्षेप में उसका वर्णन करते हैं।

यद्यपि हम आपको आत्मा से संबंधित तत्त्व की गहरी बात बताना चाहते हैं; परन्तु चर्चा का आरंभ तो यहाँ से ही होगा। आत्मा देह-देवल में विराजमान है; परन्तु देह से भी भिन्न है - यह स्थूल प्रकरण है और

केवलज्ञान से भिन्नता की बात सूक्ष्म है; तथापि चर्चा का आरंभ तो देह की भिन्नता से ही होगा।

यदि हम ऐसा कहें कि केवलज्ञान से भिन्न है, राग से भी भिन्न है, देह से भी भिन्न है; तो इसमें भी क्रमभंग नामक दोष आता है।

बिहारी महाकवि हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। उन्होंने बिहारी सतसई लिखी है, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि -

सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर।

देखन में छोटे लगे, घाव करें गंभीर।।

बिहारी कवि के ही समकालीन एक 'देव' नामक कवि हुए हैं। बिहारी की तुलना में देव ने बहुत किताबें लिखी हैं। बिहारी ने मात्र ७०० दोहे लिखे; जबकि देव ने ७२ किताबें लिखी हैं, जिसमें मनहर कवित्त जैसे बड़े-बड़े छन्द हैं। मनहर कवित्त को इकतीसा सवैया भी कहा जाता है; जिसकी एक पंक्ति में ३१ अक्षर होते हैं।

देव ने ७२ किताबें लिखी हैं; परन्तु ९९ प्रतिशत समीक्षकों का यही मत है कि बिहारी देव से भी महान कवि हैं; क्योंकि बिहारी में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक बात कहने की क्षमता है; परन्तु बिहारी का एक दोहा ऐसा है, जिसे हमेशा क्रमभंग नामक दोष के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है; वह इसप्रकार है -

कोई कोटिक संग्रहो, कोई लाख हजार।

मौ संपत्ति यदुपति सदा, विपत्ति विदारनहार।।

कोई करोड़ रुपया एकत्र करे, कोई लाख, कोई हजार रुपये एकत्र करे; परन्तु मेरी संपत्ति तो विपत्ति को दूर करनेवाले एक श्रीकृष्ण ही हैं।

सभी समीक्षक कहते हैं कि इतने बड़े कवि ने इतनी बड़ी गलती कैसे की? कोई हजारों संग्रहों, कोई लाखों संग्रहो, कोई करोड़ों - ऐसा कहना चाहिए था; परन्तु उन्होंने उल्टा कहा है - यह छन्द क्रमभंग नामक दोष से दूषित है।

जैसे हम आपसे कहें कि देखो भाई ! आपको हमारी संस्था के लिए चंदा के रूप में एक हजार रुपये देना पड़ेंगे; एक हजार रुपये नहीं दे सकते तो एक लाख रुपये दे दो, एक लाख रुपये नहीं देंगे तो एक करोड़ से कम तो हम लेंगे ही नहीं। ऐसा कहनेवाला व्यक्ति पागल ही माना जायेगा। यदि वह कहे कि एक करोड़ देने पड़ेंगे, करोड़ नहीं तो लाख दो, लाख नहीं तो हजार दो, एक सौ एक तो लेकर ही रहूँगा – इसे हम क्रम से बोलना कहते हैं।

ऐसे ही मैं देह नहीं हूँ, मैं राग नहीं हूँ, मैं सम्यग्दर्शन नहीं हूँ, मैं केवलज्ञान नहीं हूँ – यह क्रम होना चाहिए; परन्तु हम बिहारी जैसी गलती कर रहे हैं; क्योंकि हम केवलज्ञान से शुरू करते हैं।

इसतरह विभिन्न रीति से जो इन्द्रियों से ग्राह्य हैं; वे मूर्त हैं। इसकी चर्चा देशनालब्धि के परिप्रेक्ष्य में की।

यहाँ आचार्य ने द्रव्यों को सप्रदेशी और अप्रदेशी में भी विभाजित किया है। आचार्य कहते हैं कि कालद्रव्य एकप्रदेशी हैं, आकाशद्रव्य अनंतप्रदेशी है, जीवद्रव्य असंख्यातप्रदेशी हैं, धर्म और अधर्मद्रव्य भी असंख्यातप्रदेशी हैं और पुद्गलद्रव्य निश्चय से एकप्रदेशी और व्यवहार से संख्यातप्रदेशी, असंख्यात और अनंतप्रदेशी है।

इसप्रकार इन १८ गाथाओं में आचार्यदेव ने जीव-अजीव का वर्णन किया, छहों द्रव्यों के नाम गिनाये; जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं कालद्रव्य की परिभाषाएँ दी। तत्पश्चात् लोक-अलोक, सक्रिय-निष्क्रिय, इस अपेक्षा से छहो द्रव्यों में भेद उपस्थित किये। फिर मूर्त-अमूर्त, सप्रदेशी-अप्रदेशी का भेद उपस्थित किया।

इसप्रकार आचार्यदेव ने यहाँ द्रव्यविशेष की चर्चा पूर्ण की है।

१४५ वीं गाथा की उत्थानिका में ही आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं। अब इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व कहकर, ज्ञान और ज्ञेय के विभाग द्वारा आत्मा को निश्चित करते हुए, आत्मा को अत्यन्त विभक्त (भिन्न) करने के लिए व्यवहारजीवत्व के हेतु का विचार करते हैं।

इसप्रकार से यहाँ ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार समाप्त ही हो गया समझो; क्योंकि सामान्य ज्ञेय और विशेष ज्ञेय – दोनों प्रकार से ज्ञेयों की चर्चा हो चुकी है; किन्तु आत्मकल्याण की दृष्टि से ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व – इन दोनों की पृथक्ता बताना अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि आचार्यदेव उक्त दोनों अधिकारों के बाद ज्ञान और ज्ञेय में अन्तर बतानेवाले अधिकार को आरंभ करते हैं।

यद्यपि मैं ज्ञानतत्त्व हूँ; तथापि मैं ज्ञेयतत्त्व भी हूँ। अब यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञानतत्त्व में भी आत्मा की चर्चा है एवं ज्ञेयतत्त्व में भी आत्मा की ही चर्चा है। दोनों ही स्थानों पर एक आत्मा की ही चर्चा क्यों की गई?

अरे भाई ! ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन में जाननेवाले आत्मा की चर्चा की गई है और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन में जानने में आनेवाले आत्मा की चर्चा की गई है।

वस्तुतः बात यह है कि 'वह आत्मा जाननेवाला है' – ऐसा हमें जानना है।

एक शादी का निमंत्रण-पत्र आया। लड़केवालों की तरफ से भी आया और लड़कीवालों की तरफ से भी। वे लड़के के दूर के मामा लगते हैं और लड़की के भी कुछ न कुछ लगते हैं। इसप्रकार वह व्यक्ति वरपक्ष में एक हैसियत से आया है और वधूपक्ष में दूसरी हैसियत से।

समझ लीजिए दो भाईयों की शादी दो बहनों से हुई। पहले शादी तो बड़े भाई की ही होगी। बड़ा भाई अपने छोटे भाई की बारात में जायेगा तो वह दोनों तरफ से शामिल होगा। एक पक्ष से अपने छोटे भाई के शादी में जा रहा है और दूसरे पक्ष में अपनी साली की शादी में जा रहा है। वह दोनों पक्षों में दो भिन्न हैसियत से खड़ा है।

ऐसे ही यह भगवान आत्मा ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार में जाननेवाले तत्त्व के रूप में उपस्थित है एवं ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार में जानने में आने वाले तत्त्व के रूप में उपस्थित है। चूँकि इस आत्मा का स्वभाव जानना है। जानने में जो आत्मा आ रहा है, वह आत्मा भी जाननेवाला तत्त्व है। अतः उसे इसीरूप में जाना जावेगा; क्योंकि इसमें जानने का गुण

सोलहवाँ प्रवचन

अब ज्ञानतत्त्व आत्मा और ज्ञेयतत्त्व सभी पदार्थ, जिसमें अपना आत्मा भी शामिल है; उनमें स्व-पर के विभागपूर्वक भेदविज्ञान करने की चर्चा करनी है।

इस ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में अभी तक समान्यज्ञेय और विशेषज्ञेय की चर्चा हुई। इसके बाद स्व और पर में भेदविज्ञान की मुख्यता से अध्यात्म की चर्चा है।

यहाँ 'आलोचयति अर्थात् अलोचना करते हैं' इस पंक्ति में प्रयुक्त आलोचना शब्द का तात्पर्य बुराई नहीं है; अपितु आलोचना का अर्थ यह है कि उस विषय के संबंध में गहराई से मंथन करते हैं।

यदि कोई यहाँ आलोचना शब्द को बुराई के अर्थ में भी ले तो भी कोई बात नहीं है; क्योंकि आचार्य आलोचना करने के बाद यह कहेंगे कि व्यवहाजीव तो मात्र कहने का जीव है, वास्तव में जीव नहीं है। चैतन्यस्वभावी निश्चयजीव ही, वास्तव में जीव है।

अब, यहाँ विशेष समझने की बात यह है कि आचार्यदेव ने जब ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार शुरू किया था तो उसके प्रारम्भ में पर्यायमूढ़ ही परसमय है - ऐसा कहा था।

उसके बाद की गाथाओं और टीका के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वहाँ पर पर्याय के नाम पर असमानजातीयद्रव्यपर्याय की ही चर्चा है। इस बात की विस्तृत चर्चा पहले हो चुकी है।

इसके बाद यहाँ पुनः आचार्यदेव मनुष्य, देव, नारकी, आदि को व्यवहारजीव कहकर उसी असमानजातीयद्रव्यपर्याय की मुख्यता से बात कर रहे हैं; क्योंकि मनुष्यजीव में जीव और अनंत पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड शामिल है।

इसप्रकार इस सम्पूर्ण प्रकरण में देहदेवल में विराजमान देह से भिन्न भगवान आत्मा की ही चर्चा है।

इस प्रकरण की पहली गाथा की टीका में कहते हैं कि - इस समस्त लोक में स्व और पर को जानने की शक्तिरूप सम्पदा से सम्पन्न, अचिन्त्य महिमा का धारक जीव ही जानने का काम करता है; अन्य कोई द्रव्य जानने का काम नहीं करता। इसप्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही हैं और जीवद्रव्य ज्ञेय तथा ज्ञान है - इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है।

ध्यान रहे प्रमेयत्वगुण से सम्पन्न अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा को परज्ञेयों से ही भिन्न जानना है, स्वज्ञेयरूप निजात्मा से नहीं।

जो तीन काल में कम से कम चार प्राणों से जीवे, वह व्यवहारजीव है। इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास - ये चार प्राण हैं।

इन्द्रियों में पाँचों इन्द्रियाँ और बल में तीन बल शामिल होने से चार प्राणों से जीता है, सो जीव से तात्पर्य यही है कि जो दस प्राणों से जीता है, वह जीव है।

ये दस प्राण देह के ही अंग हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण - ये पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन, वचन और काय - ये तीन बल तथा श्वासोच्छ्वास - ये सब देह के ही अंग हैं। देह और आत्मा के सुनिश्चित काल के संयोग का नाम आयु होने से आयु भी देह में शामिल है।

इसप्रकार जो देह और आत्मा की मिली हुई असमानजातीयद्रव्यपर्याय है, उसका नाम ही व्यवहारजीव है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब दशप्राणों से जीने का नाम व्यवहारजीव है तो फिर गाथा में ऐसा क्यों कहा कि चार प्राणों से जीवे सो जीव है।

समाधान यह है कि सभी संसारी जीवों के तो दश प्राण नहीं होते; किन्तु चार प्राणों से रहित तो कोई भी संसारी जीव नहीं है; क्योंकि

एकेन्द्रिय जीव के एक स्पर्शन इन्द्रिय, एक कायबल और आयु व श्वासोच्छ्वास - ये चार प्राण ही होते हैं। इसीप्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए।

रसना इन्द्रिय और वचनबल बढ जाने से दो इन्द्रिय के छह प्राण, घ्राण इन्द्रिय बढ जाने से त्रीन्द्रिय के सात प्राण, चक्षु इन्द्रिय बढ जाने से चार इन्द्रिय के आठ प्राण और कर्ण इन्द्रिय तथा मनोबल बढ जाने से पंचेन्द्रिय के दश प्राण होते हैं।

स्वपर को जानने की अनंतशक्ति जिसमें विद्यमान है, उसका नाम निश्चयजीव है तथा जो देह और आत्मा की मिली हुई असमानजातीय-द्रव्यपर्याय है, उसका नाम व्यवहारजीव है।

दश प्राणों से भेदविज्ञान के माध्यम से आचार्यदेव मनुष्यादिपर्यायरूप असमान-जातीयद्रव्यपर्याय और त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा के बीच में विभाजन रेखा खींचना चाहते हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि रागादि परिणाम के कारण कर्मबंधन हुआ, कर्मबंधन से शरीरादि नोकर्म का संबंध हुआ और उससे यह जीव और पुद्गल के संयोगरूप व्यवहारजीवत्व हुआ; क्योंकि स्वभाव तो संयोग का कारण है नहीं और न ही परद्रव्य संयोग का कारण है। इसप्रकार इस व्यवहारजीवत्व के होने के मुख्य कारण मोह-राग-द्वेष ही हैं।

इसके बाद आचार्यदेव फिर एकबार इन मोह-राग-द्वेष भावों के कर्ता और अनुमंता होने का निषेध करते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञानी की ऐसी भावना होती है कि ये मोह-राग-द्वेषभाव न मैंने किये हैं, न कराये हैं और न मैं इनकी अनुमोदना ही करता हूँ।

व्यवहारजीव व निश्चयजीव का उल्लेख समयसार ग्रंथ में भी आता है। जब यह कहा गया कि नवतत्त्व की संततिवाला सम्यग्दर्शन मुझे नहीं चाहिए तो शिष्य ने प्रश्न किया कि नवतत्त्वों में तो जीव भी शामिल है। क्या आपको जीव अर्थात् आत्मा के श्रद्धानवाला सम्यग्दर्शन भी नहीं चाहिए ?

वहाँ इसका उत्तर देते हुए कहा है कि - नवतत्त्वों में जो जीव है, वह व्यवहारजीव है और मैं वह व्यवहारजीव भी नहीं हूँ।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि वहाँ नवतत्त्वों के जीव को व्यवहारजीव कहा है, परजीव नहीं; क्योंकि परजीवों को तो अजीव में शामिल कर लिया गया है।

इसप्रकार यह ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार भगवान आत्मा को मनुष्यादि-पर्यायरूप व्यवहारजीव से विभक्त करनेवाला अधिकार है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो ये लोकालोक को जानने वाला ज्ञानस्वभावी जीवतत्त्व है; वह स्वयं भी जानने में आता है; क्योंकि उसमें भी प्रमयेत्व नाम का धर्म है।

यदि हम आत्मा को मात्र ज्ञानरूप ही माने, ज्ञेयरूप नहीं; तो हमने समग्र आत्मा को ग्रहण नहीं किया; क्योंकि उसमें प्रमेयत्वगुण को शामिल नहीं किया।

जो लोग ऐसा समझते हैं कि मैं तो जाननेवाला हूँ और सारा जगत ज्ञेय है; उन्होंने जब अपने आत्मा को जानने योग्य ही नहीं माना तो फिर वे उसे जानने का प्रयास ही क्यों करेंगे ?

आज सभी के दिमाग में एक बात ही छाई रहती है कि तीर्थों का उद्धार करना है, जिनवाणी का उद्धार करना है; जो पुरानी हस्तलिपियाँ हैं, उनका उद्धार करना भी जरूरी है। हमें टोडरमलजी को प्रकाश में लाना है। हमारे बहुत से प्राचीन लेखक अंधकार में हैं, उनको भी प्रकाश में लाना है।

इसप्रकार उनके दिमाग में उद्धारों की एक बड़ी सूची रहती है। जब मैं उनसे विरत रहता हूँ तो बहुत सारे लोग कहते थे कि आप इसमें रस क्यों नहीं लेते हैं ?

उन लोगों से मेरा कहना यह है कि आप लोगों ने जो ये इतनी लम्बी सूची बनाई है, इसमें आत्मोद्धार नाम का उद्धार नहीं है; इसलिए मुझे

इसमें रस नहीं आता। यदि आप यह सूची मुझसे बनवायेंगे तो उस सूची में सबसे पहला नंबर आत्मोद्धार का ही होगा।

यदि आप लोग ही सूची बनाते हैं तो भी कोई परेशानी नहीं है। यदि आपकी बनाई सूची में आत्मोद्धार का नाम अन्त में भी आ जाय तो भी मैं आपके काम में शामिल हो जाऊँगा; लेकिन यदि उसमें आत्मोद्धार का नाम ही नहीं होगा तो मेरा जुड़ना संभव नहीं है।

असद्भूतव्यवहारनय से जिन्हें अपना कहा जाता है - ऐसे स्त्री-पुत्रादि और देह को ही संभालने में लगे हैं हम। हमने इनको अपना मान रखा है। यही सबसे बड़ी समस्या है और इसी समस्या के समाधान के लिए यह ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार लिखा गया है।

जो लोग इस ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार की स्थूल कहकर उपेक्षा करना चाहते हैं और दूसरी बातों को सूक्ष्म कहकर उसमें उलझ रहे हैं; उन लोगों से मैं कहना चाहता हूँ कि वे ऐसा कहकर आचार्य कुन्दकुन्द को और उनके टीकाकार अमृतचन्द्र को स्थूलबुद्धि कह रहे हैं।

उन आचार्य कुन्दकुन्द को स्थूलबुद्धि कह रहे हैं, जिन्होंने प्रवचनसार में पञ्जयमूढ़ा हि परसमया की चर्चा में मनुष्यादिरूप असमानजातीय-द्रव्यपर्याय से ही भिन्नता की बात की है और उसी के द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, अवान्तरसत्ता और महासत्ता आदि विषयों की चर्चा की है, जो कि अत्यन्त सूक्ष्म है।

ध्यान रहे आचार्य कुन्दकुन्द ऐसी सूक्ष्म चर्चा के बाद भी ज्ञानज्ञेय-विभागाधिकार में फिर देहादि से भिन्नता की ही बात करते हैं।

मात्र दशप्राण का नाम ही व्यवहारजीवत्व नहीं है, उसमें चेतन का अंश भी शामिल है। व्यवहारजीव उसे कहते हैं, जो दश प्राणों से जीता था, जीता है और जीवेगा।

यह कथन करनेवाली प्रवचनसार की गाथाएँ इसप्रकार हैं -

इन्दियपाणो य तथा बलपाणो तह य आउपाणो य ।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥१४६॥
पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गणदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥१४७॥
(हरिगीत)

इन्द्रिय बल अर आयु श्वासोच्छ्वास ये ही जीव के ।
हैं प्राण इनसे लोक में सब जीव जीवे भव भ्रमे ॥१४६॥
जीव जीवे जियेगा एवं अभीतक जिया है ।
इन चार प्राणों से परन्तु प्राण ये पुद्गलमयी ॥१४७॥

इन्द्रियप्राण, बलप्राण, आयुप्राण और श्वासोच्छ्वासप्राण - ये (चार) जीवों के प्राण हैं।

जो चार प्राणों से जीता है, जियेगा और पहले जीता था; वह जीव है। फिर भी प्राण तो पुद्गल द्रव्यों से निष्पन्न (रचित) हैं।

शरीरादि नोकर्म (संयोग) और मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्म (संयोगी भाव) के रूप में द्रव्यकर्म दो प्रकार से फलते हैं। स्त्री-पुत्रादि संयोगों में अघातिया कर्मों का उदय निमित्त होता है और मोह-राग-द्वेषरूप संयोगी भावों में घातिया कर्मों का उदय निमित्त होता है।

इसीलिए तो ऐसा होता है कि घातिकर्मों के नष्ट हो जाने पर मोह-राग-द्वेषरूप संयोगी भाव तो नष्ट हो जाते हैं; लेकिन संयोग नष्ट नहीं होते; विद्यमान रहते हैं। घातिया कर्मों का नाश करनेवाले तीर्थंकर अरहंतों के समवशरण आदि बाह्यविभूति विद्यमान रहती है, उनकी देह भी रहती है, यशस्कीर्ति रहती है; क्योंकि इन सबकी उपस्थिति होने में अर्थात् संयोगों के रहने में अघातियाकर्म ही निमित्त हैं और वे उनके विद्यमान हैं।

इसप्रकार यह तो निश्चित हुआ ही कि कर्म संयोग और संयोगी भावों के रूप में दो प्रकार से फलित होते हैं, साथ में ये दस प्राण भी तो संयोगरूप होने से कर्मों का ही फल हैं। दस प्राण कर्म का फल होने के

कारण सभी कर्मों को भी दस प्राणों में गर्भित कर लिया। द्रव्यकर्म तो कर्म हैं ही; रागादिभाव रूप भावकर्म भी कर्मों में ही शामिल हैं, यहाँ तक कि शरीरादि भी नोकर्म होने से कर्म ही हैं; इसीलिए तो छहढाला की निम्नपंक्ति में कहा है कि -

वर्णादि अरु रागादितैं निजभाव को न्यारा किया।

वर्णादि संयोग और रागादि संयोगी भावों से निज आत्मा को भिन्न किया अर्थात् भिन्न जाना, माना और भूमिकानुसार उनका अभाव भी किया।

वास्तव में यह पंक्ति निम्नांकित समयसार कलश का पद्यानुवाद है -

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा, भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।

तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी, नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥^१

वर्णादि व राग-मोहादिभाव इस भगवान आत्मा से भिन्न ही हैं; इसलिए अन्तर्दृष्टि से देखने पर भगवान आत्मा में ये सभी भाव दिखाई नहीं देते; किन्तु इन सबसे भिन्न, सर्वोपरि एक आत्मा ही दिखाई देता है।

इसके बाद पौद्गलिक प्राणों की संतति की (प्रवाह की परम्परा की) प्रवृत्ति का अन्तरंग हेतु कहनेवाली गाथा प्रस्तुत करते हैं; जो निम्नानुसार है -

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।

ण चयदि जाव ममत्तिं देहपधाणेसु विसयेसु ॥१५० ॥

(हरिगीत)

ममता न छोड़े देह विषयक जबतलक यह आतमा।

कर्ममल से मलिन हो पुन-पुनः प्राणों को धरे ॥१५०॥

जबतक देहप्रधान विषयों में ममत्व को नहीं छोड़ता; तबतक कर्म से मलिन आत्मा पुनः-पुनः अन्य-अन्य प्राणों को धारण करता है।

यहाँ देहप्रधान विषयों से तात्पर्य ऐसे विषयों से हैं; जिनका कहीं न

कहीं देह से संबंध जुड़ता हो। पाँच इन्द्रियों के विषय त्यागने की बात भी देह से जुड़ती है; क्योंकि पाँचों इन्द्रियों के विषय देह से सम्बन्धित ही हैं।

टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में सातवें अध्याय में निश्चयाभासी का जो प्रकरण लिखा है; उसमें निश्चयाभासी का सबसे बड़ा दोष यही बताया है कि वह जो पर्याय अभी है, उससे तो इन्कार करता है और जो पर्याय अभी नहीं है, उसमें एकत्व करता है।

देखो भाई! पर्याय से आत्मा भिन्न है - यह बात शत-प्रतिशत सत्य है; लेकिन वह मनुष्यादि संसारी पर्यायों में या सिद्ध पर्याय में से किसी न किसी एक पर्याय में रहता अवश्य है और उसके प्रत्येक गुण की प्रतिसमय एक पर्याय होती ही है - यह बात भी तो शत-प्रतिशत सत्य ही है।

यदि पर्याय आत्मा से पृथक् ही है अर्थात् पर्याय है ही नहीं, तो फिर उससे पृथक् रहने का क्या अर्थ है? गधे का सींग मेरा नहीं है, आकाश का फूल मेरा नहीं है, बाँझ का बेटा मेरा नहीं है - यह सब कहने का क्या औचित्य है? जिनकी वर्तमान में सत्ता ही नहीं हो, उनसे पृथक् होने की क्या बात करना?

आत्मा केवल ज्ञानस्वभावी तो है; लेकिन वर्तमान में हमें-तुम्हें केवलज्ञान नहीं है, सम्यग्दर्शन नहीं है। भूत की पर्याय भूत में है और भविष्य की पर्याय भविष्य में है। सभी पर्यायें स्वकाल में हैं; परकाल में नहीं। आचार्यदेव भेदविज्ञान के लिए कहते हैं कि जो पर्याय वर्तमान में है, उसकी भी उपेक्षा करो; क्योंकि उसके लक्ष्य से आत्मा का अनुभव नहीं होगा।

द्रव्यदृष्टि में तो पर्याय है ही नहीं और पर्यायदृष्टि से वर्तमानपर्याय से आत्मा तन्मय है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यदृष्टि से तो मैं भगवान आत्मा हूँ और पर्यायदृष्टि से मैं मनुष्य हूँ। वर्तमान में देव तो मैं न द्रव्यदृष्टि से हूँ और न पर्यायदृष्टि से। अभी वर्तमान में जो मिथ्यादर्शनरूप पर्याय है, उस पर्याय से भिन्नता की बात यहाँ है।

अरे भाई ! आत्मा केवलज्ञानस्वभावी नहीं; अपितु केवल ज्ञान-स्वभावी है।

इसप्रकार टोडरमलजी ने निश्चयाभासी के स्वरूप का भलीभांति दिग्दर्शन कराया है।

इसके बाद गाथा नं. १५१ की टीका का निम्नांकित कथन भी द्रष्टव्य है -

“यहाँ तात्पर्य यह है कि - आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिए व्यवहारजीवत्व के हेतुभूत पौद्गलिक प्राण उच्छेद करने योग्य है।”

यहाँ ‘उच्छेद करने योग्य है’ का तात्पर्य ‘मारने योग्य’ नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा अर्थ हो तो वह हिंसा हो जायेगी। पौद्गलिक प्राण मैं नहीं हूँ - ऐसा मानने का नाम उच्छेद करने योग्य है।

जो व्यवहारजीवत्व से विभक्तता सिद्ध कर लेगा, वही अत्यन्त विभक्त होगा - ऐसा सुनकर, पढ़कर कोई कहे कि यह तो स्थूलविभक्त हुआ, सूक्ष्मविभक्त नहीं। अरे भाई ! ऐसा नहीं है।

इसी संबंध में मैं एक बात और कहना चाहता हूँ कि हमारे यहाँ एक सूक्ष्म-स्थूल कहने का प्रकरण भी प्रचलन में आ गया है।

इसके संबंध में टोडरमलजी ने सूक्ष्म की परिभाषा देते हुए कहा है कि जो केवलज्ञानगम्य है अर्थात् जो बात हमारे ज्ञान में सीधी नहीं आ सकती; उसे सूक्ष्म कहते हैं और जो अपने क्षयोपशम ज्ञान में आ सकती है, उसे स्थूल कहते हैं।

इसीलिए टोडरमलजी ने करणानुयोग को सूक्ष्म कहा है और अध्यात्म को स्थूल कहा है।

अरे भाई ! अपनी आत्मा का अनुभव अपने आपको हो सकता है इसलिए वह स्थूल है; लेकिन दूसरे की आत्मा का अनुभव स्वयं को नहीं हो सकता है; अतः वह सूक्ष्म है। स्वयं का सुख-दुःख जानना स्थूल है और दूसरे का सुख-दुःख जानना सूक्ष्म है।

अरे भाई ! चरणानुयोग का कथन सूक्ष्म है या स्थूल ?

आलू में अनंत जीव हैं - यह बात सूक्ष्म है; क्योंकि वे सर्वज्ञ की वाणी द्वारा ही जाने जा सकते हैं; दूरबीन से नहीं देखे-जाने जा सकते हैं। सुमेरु पर्वत एक लाख योजन का होने पर भी हम उसे प्रत्यक्ष नहीं जान सकते; अतः सुमेरु पर्वत भी सूक्ष्म ही है।

जिन्हें हम प्रत्यक्ष देखते-जानते हैं, वे स्थूल हैं और जिन्हें सर्वज्ञ-कथित आगम और अनुमान से जाना जाता है, वे केवलज्ञानगम्य बातें सूक्ष्म हैं।

ये सूक्ष्म-स्थूल की परिभाषायें समझना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है।

तदनन्तर प्रवचनसार में १५२ वीं गाथा का वर्ण्यविषय बतानेवाली उत्थानिका का निम्नांकित कथन भी द्रष्टव्य है -

“अब फिर भी, आत्मा की अनन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिए, व्यवहारजीवत्व की हेतुभूत - गतिविशिष्ट (देव-मनुष्यादि) पर्यायों का स्वरूप कहते हैं।”

इसके बाद गाथा १५२ की टीका का हिन्दी का भाव इसप्रकार है -

“स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से निश्चित एक अर्थ का (द्रव्य का), स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से ही निश्चित अन्य अर्थ में (द्रव्य में) विशिष्टरूप से (भिन्न-भिन्न रूप से) उत्पन्न होता हुआ अर्थ (भाव), अनेकद्रव्यात्मकपर्याय है।

जिसप्रकार एक पुद्गल की अन्य पुद्गल के संसर्ग से समानजातीय-द्रव्यपर्याय होती है; उसीप्रकार जीव और पुद्गल की संस्थानादि से विशिष्टतया (संस्थान इत्यादि के भेद सहित) उत्पन्न होती हुई असमान-जातीयद्रव्यपर्याय अनुभव में अवश्य आती है; जो ठीक ही है।”

उक्त टीका में ‘अनेकद्रव्यात्मकपर्याय’ पद का अर्थ व्यञ्जनपर्याय

ही है। मनुष्य-देवादिरूप व्यंजनपर्यायें अलग-अलग जाति के जीव और पुद्गलों की मिली हुई होने से असमानजातीयद्रव्यपर्यायें हैं। इनमें अहंबुद्धि ही मिथ्यात्व है।

ध्यान रहे यहाँ भी पर्याय में असमानजातीयद्रव्यपर्याय को ही लिया गया है।

अस्तित्व के बारे में हम पहले ही जान चुके हैं कि वह अस्तित्व दो प्रकार का होता है। एक तो सादृश्यास्तित्व और दूसरा स्वरूपास्तित्व, जिन्हें महासत्ता और अवान्तरसत्ता भी कहते हैं। यह जो अवान्तरसत्ता या स्वरूपास्तित्व है - वह प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना होता है और जो महासत्ता या सादृश्यास्तित्व है - वह सब द्रव्यों का मिला हुआ है।

जिसप्रकार किसी व्यक्ति का जो व्यक्तिगत मकान है, वह तो उसी का है; किन्तु मन्दिर सभी का है। उसीप्रकार सम्मेदशिखर सभी का है और घर का कमरा अपना है। उसीप्रकार **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्** - यह जीव का भी लक्षण है और पुद्गल का भी लक्षण है अर्थात् यह लक्षण सभी द्रव्यों का है; किन्तु प्रत्येक द्रव्य के या स्वरूपास्तित्व संपन्न इकाई के लक्षण अलग-अलग हैं।

इसप्रकार एक द्रव्य का स्वरूपास्तित्व और दूसरे द्रव्य का स्वरूपा-स्तित्व - ये दोनों मिलकर जो एक पर्याय बनती है, उसे अनेकद्रव्यपर्याय या व्यञ्जनपर्याय कहते हैं।

इसे हम इसप्रकार भी समझ सकते हैं कि जिसप्रकार भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश - ये सभी अपने स्वतंत्र अस्तित्व को कायम रखते हुए मिलकर एक महासंघ बना लें और उसका नाम रखें भारतीय महासंघ। यह भारतीय महासंघ अनेकद्रव्यपर्याय की भांति ही होगा।

अमेरिका में तो यही हुआ है। अमेरिका अर्थात् यू.एस.ए. में हिन्दुस्तान, पाकिस्तान जैसे केलिफोर्निया आदि अनेक देश शामिल हैं। ऐसे ५० देशों से मिलकर जो देश बना है, उसका नाम है यू.एस.ए.

अर्थात् यूनाईटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका और उनके झण्डे में ५० बिन्दियाँ हैं, जो यह बताती हैं कि यह ५० देशों का झण्डा है अर्थात् यूनाईटेड स्टेट्स का झंडा है।

वहाँ के देश हिन्दुस्तान के राजस्थान, मध्यप्रदेश की भांति नहीं है; क्योंकि हिन्दुस्तान के राजस्थान आदि तो प्रान्त हैं और वे सभी देश हैं। सोवियत संघ भी इसीप्रकार कई देशों का समूह था।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार यूनाईटेड स्टेट्स में देशों का स्वरूपास्तित्व खत्म नहीं होता, बल्कि कायम रहता है। उसीप्रकार यदि भारत महासंघ में भी पाकिस्तान को मिला लिया तो पाकिस्तान का स्वरूपास्तित्व खत्म नहीं होगा, वह देश कायम रहेगा। लेकिन भारत महासंघ के देश यूनाईटेड होने के कारण उनमें सुरक्षा का साधन अर्थात् सेना एक ही रहेगी, विदेश विभाग एक रहेगा; शेष सब काम उन देशों का रहेगा, उनमें प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति का कोई हस्तक्षेप नहीं रहेगा।

भारत में अभी राजस्थान आदि प्रान्त है, देश नहीं। वे युनाइटेड (संगठित) नहीं, अपितु एक ही हैं। प्रान्त आदि का भेद तो मात्र व्यवस्था के लिए है।

उसीप्रकार जीव और पुद्गलों की अपनी-अपनी सत्ता का अस्तित्व कायम रहकर जो यह मनुष्यपर्याय बनी है; इसमें पुद्गल के एक भी परमाणु ने अपना अस्तित्व खोया नहीं है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि स्वरूपास्तित्व वर्तमान भारत के समान इकाई (यूनिट) है और सादृश्यास्तित्व यू.एस.ए. के समान अनेक इकाइयों का संगठित समुदाय है।

गाथा १५२ की टीका में एक विशेष बात और कह दी है कि इसमें अर्थपर्याय बाधा नहीं पहुँचाती। जिसप्रकार किसी की आत्मा को सम्यग्दर्शन हो तो पुद्गल कोई हस्तक्षेप करनेवाला नहीं है और पुद्गल में रूप-रस-गंध में कोई परिवर्तन होने पर आत्मा उनमें कोई हस्तक्षेप

करनेवाला नहीं है अर्थात् उनकी अर्थपर्यायें स्वतंत्ररूप से होती रहेंगी।

ये अपनी-अपनी अर्थपर्यायें एक दूसरे द्रव्य से संबंध रखती ही नहीं हैं। प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी अर्थपर्यायें अर्थात् गुणपर्यायें करता रहे; तब भी, जो यह संयोगात्मक अवस्था है - उसका नाम मनुष्यादि पर्यायें हैं। इन्हीं मनुष्य-देव-नारकी पर्यायों से भगवान आत्मा भिन्न है - यहाँ मुख्य उद्देश्य यही बताना है।

आगे पर्यायों का परस्पर भेद बतलानेवाली १५३वीं गाथा निम्नानुसार है -

गरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।

पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ॥१५३॥

(हरिगीत)

तिर्यच मानव देव नारक नाम नामक कर्म के।

उदय से पर्याय होवें अन्य-अन्य प्रकार कीं ॥१५३॥

मनुष्य, नारक, तिर्यच और देव - ये नामकर्म के उदयादिक के कारण जीवों की पर्यायें हैं, जो कि संस्थानादि के द्वारा अन्य-अन्य प्रकार की होती हैं।

यहाँ पर 'संस्थानादिक के द्वारा अन्य-अन्य प्रकार की होती है' का तात्पर्य यह है कि मनुष्य, नारक आदि पर्यायों में विविधता होती है। मनुष्य सुन्दर होते हैं, नारकी बहुत बुरे दिखते हैं; सबके आकार अलग-अलग होते हैं। मनुष्य, तिर्यच आदि में मूल सामग्री अर्थात् जीव और पुद्गल समान होने के बावजूद उनमें विविधता का कारण प्रत्येक का अलग-अलग नामकर्म का उदय है।

जैसा कि इसी गाथा में की टीका में कहा है -

“नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव - ये जीवों की पर्यायें हैं। वे नामकर्मरूप पुद्गल के विपाक के कारण अनेक द्रव्यों की संयोगात्मक हैं; इसलिए जैसे तुष की अग्नि और अंगार इत्यादि अग्नि की पर्यायें चूरा

और डली इत्यादि आकारों से अन्य-अन्य प्रकार की होती हैं; उसीप्रकार जीव की वे नारकादि पर्यायें संस्थानादि के द्वारा अन्यान्य प्रकार की ही होती हैं।”

मनुष्य नाम आत्मा की तरफ से रखा हुआ नाम नहीं है; क्योंकि आत्मा तो उसका एक देश (अंश) है। मनुष्यगति नामकर्म के उदय से जीव और शरीर का मिलकर मनुष्य नाम पड़ा है।

हुकमचन्द भारिल्ल, पूनमचन्द छाबड़ा आदि में हुकमचन्द और पूनमचन्द मूल नाम हैं। भारिल्ल और छाबड़ा शब्द गोत्र को दर्शानेवाले हैं; वैसे ही मनुष्यजीव इस नाम में जीव गोत्र के स्थान पर है और मनुष्य नाम के स्थान पर है।

नामकर्म के उदय की ओर से मनुष्य और चेतन की ओर से जीव है। मूल नाम तो मनुष्य है। मनुष्यजीव, तिर्यचजीव, नारकीजीव, देवजीव ऐसा नहीं बोला जाता; अपितु मनुष्य, तिर्यच, नारकी और देव - ऐसा ही कहा जाता है।

इसप्रकार नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव - ये जीवों की पर्यायें नाम कर्मरूप पुद्गल से विपाक के कारण अन्य द्रव्यों की संयोगात्मक हैं। जिसप्रकार अग्नि तो एक है; लेकिन कंडे की अग्नि है तो वह कंडे के आकार की होती है; कोयले की अग्नि कोयले के आकार की होती है; जिसप्रकार अग्नि के आकार बदल जाते हैं; उसीप्रकार नामकर्मरूप पुद्गल विपाक के कारण जीव के आकार बदल जाते हैं।

जीव और पुद्गल के संयोग से एक अवस्था होने पर भी, उन सबकी पर्यायों में भिन्नता आने का कारण अपने-अपने नामकर्म का उदय है।

इसप्रकार यह निश्चित हुआ कि जीव तो एक ही है; पर नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव - इन पर्यायों में भिन्नता का कारण नामकर्म के उदय से प्राप्त भिन्न प्रकार के संयोग हैं।

सत्रहवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम में ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अंत में समागत ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार पर चर्चा चल रही है।

उसी संदर्भ में गाथा १५४ का भावार्थ इसप्रकार है -

“मनुष्य, देव इत्यादि अनेकद्रव्यात्मकपर्यायों में भी जीव का स्वरूपास्तित्व और प्रत्येक परमाणु का स्वरूपास्तित्व (अर्थात् अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय और ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय) स्पष्टतया भिन्न जाना जा सकता है। स्व-पर का भेद करने के लिये जीव के इस स्वरूपास्तित्व को पद-पद पर लक्ष्य में लेना योग्य है।

यथा - यह (जानने में आता हुआ) चेतन द्रव्य-गुण-पर्याय और चेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जिसका स्वभाव है - ऐसा मैं इस (पुद्गल) से भिन्न रहा; और यह अचेतन द्रव्य-गुण-पर्याय तथा अचेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जिसका स्वभाव है - ऐसा पुद्गल यह (मुझसे) भिन्न रहा; इसलिए मुझे पर के प्रति मोह नहीं है; स्व-पर का भेद है।”

यह भावार्थ बहुत ही मार्मिक है तथा इस भावार्थ में दो-तीन बातें ऐसी हैं; जिन पर मुमुक्षु भाइयों का ध्यान नहीं है। मैं उन बातों पर आप सबका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

सर्वप्रथम तो मैं यह बताना चाहता हूँ कि आचार्यदेव ने ९३वीं गाथा में ‘पज्जयमूढा हि परसमया’ की बात की थी। उसमें जो अनेकद्रव्यात्मक असमानजातीय मनुष्यरूप व्यंजनपर्याय की चर्चा आरंभ की थी, वही चर्चा अभी तक निरन्तर करते आ रहे हैं।

दूसरी बात यह है कि यह जो आत्मा और पुद्गलों का मिला हुआ मनुष्य नामक संगठन है; वह वास्तव में मिला नहीं है; क्योंकि इस संगठन को मिला हुआ हम तब कह सकते हैं, जब दोनों के स्वरूपास्तित्व

में कुछ अंतर आया होता; लेकिन आत्मा और पुद्गल परमाणुओं का स्वरूपास्तित्व बिल्कुल अलग-अलग है।

उपरोक्त टीका में स्वरूपास्तित्व का अर्थ अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय और ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय बताया है। तात्पर्य यह है कि अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय और अपने-अपने ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय का नाम स्वरूपास्तित्व है। ऐसे स्वरूपास्तित्व को पद-पद (कदम-कदम) पर अपने लक्ष्य में लेना योग्य है।

यहाँ ऐसा समझना ठीक नहीं है कि यहाँ जो चेतन की बात चल रही है, वह तो किसी अन्य चेतनद्रव्य की बात चल रही है, यह चर्चा अपनी थोड़े ही है। ‘मैं’ शब्द से वाच्य आत्मा तो मैं नहीं; कोई दूसरा ही है।

अरे भाई ! टीका में स्पष्ट लिखा है - “ऐसा मैं इस (पुद्गल) से भिन्न रहा” - इसप्रकार यह अपनी ही चर्चा है। पुद्गल को भी भिन्न करते हुए आचार्यदेव ने टीका में लिखा है कि - “यह अचेतन द्रव्य-गुण-पर्याय तथा अचेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जिसका स्वभाव है, ऐसा पुद्गल मुझसे भिन्न रहा। इसलिए मुझे पर के प्रति मोह नहीं है; स्व-पर का भेद है।”

इस प्रवचनसार परमागम के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन में जहाँ एक पूरा अधिकार लिखा गया और उसका नाम ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार रखा; उसमें ज्ञान से जिसे अभिहित किया, उसका नाम तो जीव है और उससे मिली हुई जो पौद्गलिक पर्याय है; उसका नाम है मनुष्यपर्याय; देवपर्याय अथवा असमानजातीयद्रव्यपर्याय। इस अधिकार में जीव और इस असमानजातीयद्रव्यपर्याय में भेदविज्ञान कराया गया है।

कई लोग भेदविज्ञान के नाम पर आत्मा की पर्यायें तो आत्मा से अलग कर ही देते हैं, गुण और प्रदेश भी अलग कर देते हैं।

अरे भाई। यदि आत्मा में से गुणों और प्रदेशों को भी अलग कर

दिया तो आत्मा की सत्ता ही नहीं रहेगी; फिर तो वह गधे के सींग के समान हो जावेगा। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्', 'सत् द्रव्यलक्षणम्' एवं 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' - महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के इन सूत्रों में स्पष्ट है कि द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य एवं गुण व पर्यायों से युक्त होता है और यही ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार की पहली एवं इसी ग्रंथ की ९३वीं गाथा में कहा है; जो इसप्रकार है -

अत्थोखलु द्रव्यमओदव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि ।

तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥९३॥

(हरिगीत)

गुणात्मक हैं द्रव्य एवं अर्थ हैं सब द्रव्यमय ।

गुण-द्रव्य से पर्यायें पर्यायमूढ ही हैं परसमय ॥९३॥

पदार्थ द्रव्यस्वरूप है; द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं; और द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं। पर्यायमूढ जीव परसमय (अर्थात् मिथ्यादृष्टि) है।

इसप्रकार यहाँ असमानजातीयद्रव्यपर्यायरूप मनुष्य में विद्यमान आत्मा और देह के बीच भेदविज्ञान कराया गया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि आखिर जीव और पुद्गल का यह संयोग हुआ कैसे; जिससे हमें भेदविज्ञान करने की आवश्यकता आ पड़ी?

इस देह और आत्मा का जो समागम हुआ है; उसमें देह और आत्मा का स्वरूपास्तित्व तो अलग-अलग ही है; पर आत्मा का सादृश्यास्तित्व मात्र शरीररूप परिणमित पुद्गल परमाणुओं के साथ ही नहीं; अपितु अलोकाकाश के साथ भी एक ही है; क्योंकि महासत्ता की अपेक्षा तो अलोकाकाश भी है और आत्मा भी है, अलोकाकाश भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है और आत्मा भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है, अलोकाकाश भी द्रव्य-गुण-पर्याय से संयुक्त है एवं आत्मा भी द्रव्य-गुण-पर्याय से संयुक्त है - इसप्रकार की एकता आत्मा की अलोकाकाश के साथ भी है।

स्वरूपास्तित्व अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के अन्दर ही होता है; क्योंकि उन द्रव्य-गुण-पर्यायों के बीच परस्पर में अतद्भाव होता है, अत्यन्ताभाव नहीं होता है; अत्यन्ताभाव तो पर के साथ होता है, दो द्रव्यों के बीच में होता है। अत्यन्ताभाव एक द्रव्य के दो गुणों के बीच या एक द्रव्य की गुण-पर्यायों के बीच में नहीं होता। एक द्रव्य की गुण-पर्यायों के बीच में तो अतद्भाव होता है और जिनमें अतद्भाव होता है; उनका स्वरूपास्तित्व एक होता है।

इसप्रकार जीव और पुद्गल का जो संगठन है; उसमें स्वरूपास्तित्व तो दोनों का भिन्न-भिन्न है; लेकिन सादृश्यास्तित्व तो सभी का सभी के साथ है। इससे हमें कोई हानि भी नहीं है; क्योंकि इससे हमें कुछ सुख-दुःख भी नहीं है। सादृश्य की अपेक्षा भी एकत्व स्वीकार नहीं किया है - ऐसा मिथ्यात्व तो हमें हुआ है; लेकिन आकाशादि में एकत्व-ममत्व रूप (अपना माननेरूप) मिथ्यात्व आजतक नहीं हुआ है।

इसप्रकार अलोकाकाश के साथ सादृश्यास्तित्व होने से कोई समस्या नहीं है। कार्माण वर्गणा और जिनसे हमारा नोकर्म शरीर बना है - ऐसी आहार वर्गणाओं के साथ हमारा संयोग कब से हुआ है, कैसे हुआ है? - इस संबंध में आचार्यदेव बता रहे हैं।

समयसार में कहा गया है कि बंध ज्ञानगुण के कारण हुआ। उक्त कथन के विशेष स्पष्टीकरण में कहा गया कि ज्ञानगुण के जघन्य परिणमन के कारण बंध हुआ; क्योंकि ज्ञानगुण के जघन्यपरिणमन के साथ राग का होना अनिवार्य है और राग से बंध होता है - यह तो सर्वमान्य ही है।

आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान के कारण पर जानने में आया; इसलिए उसे अपना मान लिया। यदि पर जानने में ही नहीं आता तो उसे अपना भी नहीं मानते। समस्त गड़बड़ी जानने में हुई; अतएव ज्ञान को ही बंध का कारण कह दिया।

१५५वीं गाथा में वे लिखते हैं कि आत्मा उपयोगात्मक है और

उपयोग दर्शन-ज्ञान है। फिर आत्मा के उपयोग को शुभ और अशुभ रूप कहकर चारित्र वाले उपयोग को ग्रहण कर लिया।

आचार्यदेव ने उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन से बात प्रारंभ की और शुभ और अशुभ उपयोग की बात ले ली कि शुभ और अशुभ उपयोग के कारण कर्म का बंध हुआ और उनके उदय से शरीर का संयोग मिला - इसप्रकार आत्मा और पुद्गलों का संगठन हो गया।

इसप्रकार आचार्य असमानजातीयद्रव्यपर्याय होने के लिए उपयोग को कारण कहते हैं। आकाश द्रव्य में उपयोग नहीं है; इसलिए उसे बंधन नहीं हुआ। धर्म, अधर्म, आकाश और काल में भी उपयोग नहीं है; इसलिए उन्हें भी बंधन नहीं हुआ। पुद्गल यद्यपि स्कन्धरूप परिणमित होकर जीव के साथ बंधन में हो जाता है; लेकिन उसे इस बंधन से सुख-दुःख नहीं होता है; क्योंकि उसमें सुख नाम का गुण ही नहीं है; किन्तु आत्मा में उपयोग अर्थात् ज्ञान, दर्शन तथा श्रद्धा नामक गुण भी है। आत्मा ज्ञान गुण से पर को जान लेता है, श्रद्धा गुण से अपना मान लेता है और चारित्र नामक गुण से उसमें जम जाता है, रम जाता है और बंधन में पड़ जाता है।

इस कथन का विश्लेषण करनेवाली टीका का भाव इसप्रकार है -

“वास्तव में आत्मा को परद्रव्य के संयोग का कारण उपयोग विशेष है। प्रथम तो उपयोग वास्तव में आत्मा का स्वभाव है; क्योंकि वह चैतन्यानुविधायी (उपयोग चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला) परिणाम है और वह उपयोग ज्ञान तथा दर्शन है; क्योंकि चैतन्य साकार और निराकार ऐसा उभयरूप है।

इस उपयोग के शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो भेद किये गये हैं। उसमें, शुद्ध उपयोग निरूपराग (निर्विकार) है और अशुद्ध उपयोग सोपराग (सविकार) है। और वह अशुद्ध उपयोग शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकार का है; क्योंकि उपराग विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप - ऐसा दो प्रकार का है।”

टीका में चैतन्य को साकार से युक्त बताया है और साकार का अर्थ विकल्प होता है अर्थात् विकल्प तो ज्ञान का स्वभाव है। जो निर्विकल्पता के नाम पर ज्ञानात्मक विकल्प को निकालना चाहते हैं; वे अज्ञानी हैं। हमने पूर्व में भी यह पढ़ा है कि **अर्थविकल्पात्मकं ज्ञानम्** यहाँ अर्थ का अर्थ तो स्व और पर सभी पदार्थ है और विकल्प का अर्थ है, उनके बीच भेद को जानना। जहाँ भी विकल्प का निषेध है, वहाँ रागात्मक विकल्प का निषेध है, और जहाँ जानने का निषेध प्रतीत होता है, वहाँ पर पर को ‘ये मैं हूँ’ इस रूप अपना जानने का निषेध है; लेकिन जहाँ ज्ञान का स्वरूप ही विकल्प है, उसका निषेध कैसे हो? इसप्रकार टीका में चैतन्य को साकार एवं निराकार कहकर उसके स्वभाव की चर्चा की।

इसप्रकार इस गाथा की टीका में इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि शरीरादि के संयोग का कारण ज्ञानात्मक उपयोग न होकर; अपितु शुभ और अशुभ नामक जो अशुद्धोपयोग है; वह है।

तदनन्तर कौन-सा उपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण है - यह दर्शानेवाली १५६वीं गाथा इसप्रकार है -

उवओगो यदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि ।

असुहो वा तथ पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥१५६ ॥

(हरिगीत)

उपयोग हो शुभ पुण्यसंचय अशुभ हो तो पाप का ।

शुभ-अशुभ दोनों ही न हो तो कर्म का बंधन न हो ॥१५६ ॥

उपयोग यदि शुभ हो तो जीव के पुण्य संचय होता है और यदि अशुभ हो तो पाप संचय का होता है। उन दोनों के अभाव में बंध का अभाव होता है।

इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जब शुभोपयोग होता है तो पुण्यबंध होता है और जब अशुभोपयोग होता है तो पापबंध होता है एवं जब दोनों का अभाव होता है, तब न पुण्यबंध होता है और न पापबंध होता है; अपितु बंध का अभाव होता है।

देखो, कितनी स्पष्ट बात है; फिर भी लोग न जाने क्यों पुण्य भाव को बंध के अभाव का कारण मानते हैं।

इस गाथा का आश्रय लेकर ही कई लोग कहते हैं कि इस गाथा में लिखा है कि शुभोपयोग होता है तो पुण्यबंध होता है; इसलिए शुभोपयोग तो उपादेय है न ?

अरे भाई। इस गाथा में यह थोड़े ही लिखा है कि पुण्यबंध करना चाहिए। इस गाथा में तो क्या होता है - इसकी बात चल रही है। यह व्याख्यान क्या करना चाहिए एवं क्या नहीं करना चाहिए - इसप्रकार के हेय-उपादेय का नहीं है।

तदनन्तर शुभोपयोग का स्वरूप कहनेवाली १५७वीं गाथा इसप्रकार है-

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तदेव अणगारे।

जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥१५७॥

(हरिगीत)

श्रद्धान सिध-अणगार का अर जानना जिनदेव को।

जीवकरुणा पालना बस यही है उपयोग शुभ ॥१५७॥

जो जिनेन्द्रों को जानता है, सिद्धों तथा अनागारों की (आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओं की) श्रद्धा करता है और जीवों के प्रति अनुकम्पायुक्त है; उसका वह शुभ उपयोग है।

गाथा के अर्थ की प्रथम पंक्ति में जो यह लिखा है कि जो जिनेन्द्रों को जानता है - इसी भाव को प्रदर्शित करनेवाली इसी प्रवचनसार की गाथा ८० की प्रथम पंक्ति है, जो कि निम्नानुसार है -

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।

जो अरहंत भगवान को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से जानता है.....।

सिद्धों तथा अनागारों की श्रद्धा करने का तात्पर्य उनको जानना ही है; क्योंकि कहीं पेच्छदि शब्द लिख देते हैं और कहीं जाणदि। अनगार

शब्द का तात्पर्य ऋषि-मुनि ही है। इसप्रकार इस गाथा में पंचपरमेष्ठी की ही बात है। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ पंचपरमेष्ठी की भक्ति के भाव को शुभोपयोग नहीं कहा, अपितु उन्हें जानने-देखने को शुभोपयोग कहा है। जब पंचपरमेष्ठी की ओर उपयोग जाने का नाम ही शुभोपयोग है; तब भक्ति की तो बात ही क्या करना ?

भक्ति के नाम पर भगवान से कुछ माँगना, उनसे कुछ करने का अनुरोध करना भक्ति नहीं है, अपितु भिखारीपन है।

नाटक समयसार में भक्ति का यथार्थ स्वरूप इसप्रकार लिखा है -

कबहू सुमति ह्वै कुमति कौ विनास करै,

कबहू विमल जोति अंतर जगति है।

कबहू दयाल ह्वै चित्त करत दयालरूप,

कबहू सुलालसा ह्वै लोचन लगति है ॥

कबहू आरती ह्वै कै प्रभु सनमुख आवै,

कबहू सुभारती ह्वै बाहरि वगति है।

धरै दसा जैसी तब करै रीति तैसी ऐसी,

हिरदै हमारै भगवंत की भगति है ॥१४॥

हमारे हृदय में भगवान की ऐसी भक्ति है जो कभी तो सुबुद्धिरूप होकर कुबुद्धि को हटाती है, कभी निर्मल ज्योति होकर हृदय में प्रकाश डालती है, कभी दयालु होकर चित्त को दयालु बनाती है, कभी अनुभव की पिपासारूप होकर नेत्रों को थिर करती है, कभी आरतीरूप होकर प्रभु के सन्मुख आती है, कभी सुन्दर वचनों में स्तोत्र बोलती है; जब जैसी अवस्था होती है, तब तैसी क्रिया होती है।

इसप्रकार बनारसीदासजी ने जिनवाणी के पढ़ने को, जिनेन्द्रदेव के अनुसार चलने को भी जिनेन्द्रदेव की भक्ति कहा है। खान-पान में भक्ष्याभक्ष्य का विचार रखना भी जिनेन्द्रदेव की भक्ति है। प्रवचन सुनना भी जिनेन्द्रदेव की भक्ति है।

अरे भाई। आलू में अनंत जीव होते हैं - यह जिनेन्द्र भगवान का वचन जानकर आलू नहीं खाना भी जिनेन्द्रदेव की भक्ति है। आलू में अनंत जीव होते हैं - यह किसने देखा ? - ऐसा कहना जिनेन्द्र भगवान की सबसे बड़ी अभक्ति है; क्योंकि इसमें उनके कथन के प्रति अश्रद्धा का भाव है।

इसप्रकार, जो जिनेन्द्रों को जानता है, सिद्धों तथा अनागारों की (आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओं की) श्रद्धा करता है, और जीवों पर दयाभाव रखता है, उसका नाम शुभोपयोग है।

इसके बाद आचार्यदेव अशुभोपयोग का स्वरूप प्ररूपित करते हैं -

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्टुगोट्टुजुदो ।

उगो उम्मगपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥१५८॥

(हरिगीत)

अशुभ है उपयोग वह जो रहे नित उन्मार्ग में।

श्रवण-चिंतन-संगति विपरीत विषय-कषाय में ॥१५८॥

जिसका उपयोग विषय-कषाय में अवगाढ (मग्न) है; कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है; उग्र है तथा उन्मार्ग में लगा हुआ है; उसका वह उपयोग अशुभोपयोग है।

इसप्रकार शुभ और अशुभोपयोग के कारण देह का संयोग होता है - यह बताने के लिए आचार्यदेव ने शुभोपयोग एवं अशुभोपयोग का स्वरूप इस अधिकार में लिखा है।

यह अधिकार न तो शुभभावाधिकार है और न ही शुभोपयोगाधिकार; क्योंकि ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में ही शुभभावाधिकार निकल चुका है और शुभोपयोगाधिकार बाद में आएगा। यह अधिकार तो ज्ञानज्ञेय-विभागाधिकार है।

यहाँ यह कहा गया है कि शुभोपयोग और अशुभोपयोग के कारण देह और आत्मा का संयोग हुआ है। इसी सन्दर्भ में परद्रव्य के संयोग के

कारणरूप शुभोपयोग और अशुभोपयोगरूप अशुद्धोपयोग के विनाश का स्वरूप बतानेवाली गाथा १५९ की टीका भी द्रष्टव्य है; जो इसप्रकार है-

“जो यह, (१५६वीं गाथा में) परद्रव्य के संयोग के कारणरूप में कहा गया अशुद्धोपयोग है, वह वास्तव में मन्द-तीव्र उदय दशा में रहने वाले परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होने से ही प्रवर्तित होता है; किन्तु अन्य कारण से नहीं।

इसलिए यह मैं समस्त परद्रव्य में मध्यस्थ होऊँ और इसप्रकार मध्यस्थ होता हुआ मैं परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन न होने से शुभ अथवा अशुभ ऐसा जो अशुद्धोपयोग उससे मुक्त होकर, मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करने से जिसको शुद्धोपयोग सिद्ध हुआ है, ऐसा होता हुआ, उपयोगात्मा द्वारा (उपयोगरूप निजस्वरूप से) आत्मा में ही सदा निश्चल रूप से उपयुक्त रहता हूँ। यह मेरा परद्रव्य के संयोग के कारण के विनाश का अभ्यास है।”

टीका में उल्लिखित परद्रव्य में मध्यस्थ होऊँ का तात्पर्य यह है कि मैं परद्रव्यों को विनष्ट करने का, कर्मों को नाश करने का भी भाव नहीं रखूँ। टीका में अन्त में जो यह कहा कि यह परद्रव्य के संयोग के कारण के विनाश का अभ्यास है - यह उन्होंने शुद्धोपयोग का लक्षण ही कहा है। परद्रव्य मैं नहीं हूँ एवं मैं तो भगवान आत्मा ज्ञानानंद स्वभावी हूँ - ऐसा जो अभ्यास है; वह शुद्धोपयोग है और यह शुद्धोपयोग ही परद्रव्यों से छूटने का उपाय है। शुभोपयोग और अशुभोपयोग तो संसार में उलझानेवाले हैं।

इसप्रकार यहाँ यह सिद्ध कर दिया कि देह के संयोग का कारण शुभोपयोग व अशुभोपयोग है।

इसके बाद आचार्यदेव शरीरादि परद्रव्य के प्रति भी मध्यस्थपना प्रगट करते हैं -

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।

कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥१६०॥

(हरिगीत)

देह मन वाणी न उनका करण या कर्ता नहीं।

ना कराऊँ मैं कभी भी अनुमोदना भी ना करूँ ॥१६०॥

मैं न देह हूँ, न मन हूँ और न वाणी हूँ; उनका कारण नहीं हूँ, कर्ता नहीं हूँ, करानेवाला नहीं हूँ और कर्ता का अनुमोदक भी नहीं हूँ।

इस गाथा में देह, मन और वाणी – इन तीनों से एकत्व तोड़ने की बात कही है। ध्यान रहे यहाँ पर राग से एकत्व तोड़ने की बात नहीं कही; लेकिन मैं ऐसा भी नहीं कहना चाहता कि राग से एकत्व नहीं तोड़ना; पर बात यह है कि जिस गाथा में जिसका वर्णन आया हो – वहाँ वही बात कहनी चाहिए। मैं शरीरादि परद्रव्यों का न कर्ता हूँ, न कारयिता हूँ और न अनुमन्ता हूँ; इसप्रकार शरीरादि परद्रव्यों के प्रति कृत, कारित एवं अनुमोदना से एकत्व तोड़ने की बात इस गाथा में कही गई है; रागादिक से एकत्व तोड़ने की नहीं।

शरीर, वाणी और मन का परद्रव्यपना निश्चित करनेवाली १६१वीं गाथा इसप्रकार है –

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग ति णिद्धिद्धा ।

पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥१६१॥

(हरिगीत)

देह मन वच सभी पुद्गल द्रव्यमय जिनवर कहे ।

ये सभी जड़ स्कन्ध तो परमाणुओं के पिण्ड हैं ॥१६१॥

देह, मन और वाणी पुद्गलद्रव्यात्मक हैं – ऐसा वीतरागदेव ने कहा है और वे पुद्गलद्रव्य परमाणुद्रव्यों का पिण्ड हैं।

इस गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि जो स्कन्ध हमें दिखाई देते हैं; वे परमाणुओं के पिण्ड हैं। इसप्रकार यह शरीर भी पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है। इसके बाद आत्मा के परद्रव्यत्व का अभाव और परद्रव्य के कर्तृत्व का अभाव सिद्ध करते हैं –

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं ।

तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्य देहस्य ॥१६२॥

(हरिगीत)

मैं नहीं पुद्गलमयी मैंने ना बनाया हूँ इन्हें।

मैं तन नहीं हूँ इसलिए ही देह का कर्ता नहीं ॥१६२॥

मैं पुद्गलमय नहीं हूँ और वे पुद्गल मेरे द्वारा पिण्डरूप नहीं किए गए हैं; इसलिए मैं देह नहीं हूँ, तथा उस देह का कर्ता नहीं हूँ।

इस गाथा की टीका इसप्रकार है –

“प्रथम तो जो यह प्रकरण से निर्धारित पुद्गलात्मक शरीर नामक परद्रव्य है – जिसके भीतर वाणी और मन का समावेश हो जाता है – वह मैं नहीं हूँ; क्योंकि अपुद्गलरूप मेरा पुद्गलात्मक शरीररूप होने में विरोध है और इसीप्रकार उस (शरीर) के कारण द्वारा, कर्ता द्वारा, कर्ता के प्रयोजक द्वारा या कर्ता के अनुमोदक द्वारा शरीर का कर्ता मैं नहीं हूँ; क्योंकि मैं अनेक परमाणुओं द्रव्यों के एक पिण्ड पर्यायरूप परिणाम का अकर्ता – ऐसा मैं अनेक परमाणुद्रव्यों के एकपिण्डपर्यायरूप परिणामात्मक शरीर का कर्तारूप होने में सर्वथा विरोध है।”

तात्पर्य यह है कि जो इस गाथा में शरीर की बात चल रही है, वह मात्र शरीर की ही नहीं है; अपितु प्रकरण के अनुसार उसमें मन और वाणी भी सम्मिलित हैं। इस गाथा में तो देह के संबंध में यह लिखा है कि मैं पुद्गलमयी देह नहीं हूँ, जबकि पूर्व गाथा में देह, मन और वाणी – इन तीनों की चर्चा की थी; इसलिए प्रकरण के अनुसार यहाँ पर मन और वाणी का भी ग्रहण करना चाहिए।

इसप्रकार इस गाथा में आत्मा के परद्रव्यत्व का अभाव और परद्रव्य के कर्तृत्व का अभाव सिद्ध किया है।

इसके बाद गाथा १६३ से १६८ तक का जो प्रकरण है, उसमें यही बताया गया है कि यह आत्मा के साथ संबद्ध शरीर पुद्गलपरमाणुओं से स्कन्धरूप कैसे परिणमित हो गया ?

आत्मा पुद्गलपिंड को कर्मरूप नहीं करता - यह बतानेवाली १६९वीं गाथा इसप्रकार है -

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ।

गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥१६९॥

(हरिगीत)

स्कन्ध जो कर्मत्व के हों योग्य वे जिय परिणति ।

पाकर करम में परिणमें न परिणमावे जिय उन्हें ॥१६९॥

कर्मत्व के योग्य स्कन्ध जीव की परिणति को प्राप्त करके कर्मभाव को प्राप्त होते हैं; जीव उनको नहीं परिणमाता ।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इसी गाथा की टीका को आधार बनाकर पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में निम्न आर्या छंद लिखे हैं -

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।

स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥

परिणममानस्य चित्तश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैभावैः ।

भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥^१

जीव के किये हुए रागादि परिणामों को निमित्तमात्र पाकर जीव से भिन्न अन्य पुद्गल स्कन्ध अपने आप ही ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन कर जाते हैं । निश्चय से अपने चेतनास्वरूप रागादि परिणामों से स्वयं ही परिणमन करते हुए पूर्वोक्त आत्मा के भी पुद्गल सम्बन्धी ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म निमित्तमात्र होता है ।

“जीव ने ही ऐसे खोटे भाव करके कर्म बाँधे हैं और इन कर्मों को जीव ने निमन्त्रण दिया है, ये कर्म बिना बुलाए नहीं आए हैं; इसलिए इन कर्मों के फल का दण्ड तो जीव को भुगतना ही पड़ेगा ।”

उक्त विचारों के विरुद्ध आचार्यदेव यहाँ यह कह रहे हैं कि ये कर्म जीव ने नहीं बाँधे; जीव ने तो मात्र इतनी-सी गलती की थी कि वह

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द १२-१३

स्वयं को भूल गया और उसके ज्ञान में जो परपदार्थ आए, उन पदार्थों को अपना मान लिया । जीव की एकमात्र इस गलती का निमित्त पाकर कार्माण वर्गणाएँ स्वयं ही कर्मरूप परिणमित होकर जीव के साथ एकक्षेत्रावगाही हो गई हैं ।

एक बूढ़ी अंधी महिला सड़क पार कर रही थी । ‘यह किसी वाहन के नीचे न आ जाय’; इस विकल्प से उसके पास जाकर एक आदमी ने उसकी लकड़ी पकड़ ली और कहा -

“अम्मा! मैं तुम्हें सड़क पार करा देता हूँ ।”

सड़क पार करते समय वह आदमी बोला -

“अम्मा ! क्या तुम्हारा कोई बेटा नहीं है ?”

अम्मा बोली - “कौन कहता है कि मेरे बेटा नहीं है ?”

वह आदमी बोला - “जब तुम्हारा बेटा है, तो फिर तुम अकेली सड़क पार क्यों करती हो ? इस भरी सड़क पर कहीं अनर्थ हो गया तो ? क्या तुम्हारा बेटा तुम्हें सड़क पार नहीं करा सकता ?”

इतना सुनकर अम्मा बोली - “करा रहा है न ! अरे, बेटा ! जो मुझे सड़क पार करा रहा है, वही मेरा बेटा है ।”

जिसप्रकार उस व्यक्ति ने दया की दृष्टि से उस अम्मा को सड़क पार कराई तो उस अम्मा ने उसी को अपना बेटा बना लिया ।

उसीप्रकार जो आसपास के ज्ञेय हमारे ज्ञान के ज्ञेय बने, उनको हमने अपनेपन से या प्रेम से देखा तो ये कार्माण वर्गणाएँ हमसे चिबट गईं । ध्यान रखने की बात यह है कि उनका संबंध हमसे तभी हुआ, जब हमने उन्हें अपनेपन की निगाह से देखा ।

इसप्रकार जीव के भावों का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणा कर्मरूप परिणमित होकर जीव के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप हो जाती हैं ।

१६९वीं गाथा की टीका में जो बात कही गई, उसका भाव इसप्रकार है - यद्यपि जीव उनको परिणमानेवाला नहीं है; तथापि कर्मरूप

परिणमित होने की शक्तिवाले पुद्गलस्कंध, एकक्षेत्रावगाह जीव के परिणाम मात्र का आश्रय पाकर स्वयमेव कर्मभाव से परिणमित होते हैं। इससे निश्चित होता है कि पुद्गल पिण्डों को कर्मरूप करनेवाला आत्मा नहीं है।

टीका में उल्लिखित कर्मरूप परिणमित होने की शक्तिवाले पुद्गल-स्कंध का तात्पर्य कार्माणवर्गणायें हैं; क्योंकि २३ प्रकार के पुद्गलों में कार्माणवर्गणा नाम के जो पुद्गल होते हैं, वे ही कर्मरूप परिणमित होते हैं। शेष २२ प्रकार के पुद्गल कर्मरूप परिणमित नहीं होते।

इससे भी यह बात सिद्ध होती है कि जिन परमाणुओं में कर्मरूप परिणमित होने की योग्यता है, वे ही पुद्गल परमाणु कर्मरूप परिणमित होते हैं, अन्य नहीं।

इसप्रकार टीका में यह निश्चित किया है कि पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप करनेवाला आत्मा नहीं है। न तो आत्मा पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप करनेवाला है, न कारयिता है और न ही अनुमंता है। इसीप्रकार देह, मन और वाणी का भी आत्मा कर्ता नहीं है, कारयिता नहीं है और अनुमंता भी नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जीव के विकारी परिणाम को निमित्तमात्र करके कार्माण वर्गणाएँ स्वयमेव अपनी अन्तरंग शक्ति से ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित होती हैं; जीव उन्हें कर्मरूप परिणमित नहीं करता। देह, मन और वाणी के साथ भी यही स्थिति है।

कुछ लोग कहते हैं कि आचार्यदेव कर्म की ही बात क्यों कर रहे हैं? मैं राग नहीं हूँ, मैं सम्यग्दर्शन नहीं हूँ, मैं केवलज्ञान भी नहीं हूँ – ऐसा कहकर आगे क्यों नहीं बढ रहे हैं ?

अरे भाई! आचार्य यहाँ कर्म की चर्चा करके यह बता रहे हैं कि शरीरादि के प्रति जीव को अपनापन कैसे हो गया है ?

जीवों के अन्दर यह मान्यता बैठी हुई है कि यह सब मेरे ही अपराध

का फल है, मेरे ही शुभ और अशुभ भावों से इन शरीरादि का संयोग हुआ है – इस मान्यता का निवारण करने के लिए आचार्यदेव कह रहे हैं कि जीवों ने कुछ नहीं किया और जीवों के करने से कुछ होता भी नहीं है। यहाँ तो आचार्यदेव यह भी कह रहे हैं कि सभी जीव यह भावना उत्पन्न करें कि मैं इन शरीर, मन, वाणी का न कर्ता हूँ, न कारयिता हूँ और न अनुमंता हूँ, मैं तो इन सबका मात्र ज्ञाता-दृष्टा हूँ।

राग का कर्ता तो जीव है न ? – यह प्रश्न उपस्थित होने पर यह स्वीकार करना कि हाँ अज्ञानदशा में राग हो गया था; लेकिन राग का कर्ता होना – यह कोई गौरव की बात नहीं है और इससे अस्वीकृति भी नहीं है; क्योंकि राग अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की सीमा में आता है और राग अज्ञान अवस्था में जीव से ही होता है।

अरे भाई। जब अपनी अज्ञान अवस्था थी; उस समय स्वयं आत्म-द्रव्य ही अज्ञानरूप परिणमित हुआ था। ऐसा पढकर कोई कहे कि – नहीं, द्रव्य नहीं; पर्याय अज्ञानरूप परिणमित हुई थी।

अरे भाई! पर्याय तो परिणमन का ही नाम है। परिणमित तो द्रव्य ही होता है। द्रव्य को देखने की अनेक दृष्टियाँ हैं। जब द्रव्य को प्रमाण की दृष्टि से देखेंगे तो वह गुण-पर्याय सहित दिखाई देगा, द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से देखेंगे तो नित्य, त्रिकाली दिखाई देगा; किन्तु पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से देखेंगे तो वर्तमान पर्यायरूप परिणमित अनित्य दिखाई देता है।

जिनागम में जो सप्तभंगी है, वह अत्यंत विचित्र है। मैं नित्यानित्य हूँ – यह प्रमाण का कथन है। मैं नित्य ही हूँ, अनित्य नहीं – यह द्रव्यार्थिकनय का कथन है। मैं अनित्य हूँ, नित्य नहीं – यह पर्यायार्थिकनय का कथन है।

आजकल इसके लिए लोगों ने दूसरा रास्ता निकाल लिया और वे कहते हैं कि नय लगाने से या अपेक्षा लगाने से वस्तु ढीली हो जाती है।

अरे भाई ! जिनागम में अपेक्षा के बिना तो एक वाक्य भी नहीं

होता। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि यदि हम अपेक्षा नहीं लगा पाएँ तो भी सभी को यह समझना चाहिए कि हमारे कथन में अपेक्षा लगी हुई है; क्योंकि हम स्याद्वादी जैन हैं।

जीव शरीरादि द्रव्यों का न तो कर्ता है, न कारयिता है और न ही अनुमंता है। कर्मरूप परिणामित कार्माण वर्गणाओं में जीवों का परिणाम निमित्तमात्र है।

परद्रव्यों की तरफ देखना पाप नहीं है, उन्हें जानना भी पाप नहीं है; किन्तु उन्हें अपनेपन से जानना; उन्हें रागात्मक या द्वेषात्मक तरीके से जानना पाप है। ये पर में अपनेपन के भाव और रागात्मक या द्वेषात्मक भाव ही कार्माण वर्गणा को कर्मरूप परिणामित होने में निमित्त हैं। जिसप्रकार हँसे सो फँसे अर्थात् थोड़े से हँसने पर भी व्यक्ति परेशानी में आ जाता है; उसीप्रकार थोड़ा-सा रागात्मक या द्वेषात्मक भाव भी कार्माण वर्गणाओं का कर्मरूप परिणामित होकर जीव के साथ एक-क्षेत्रावगाह होने में कारण बन जाता है।

एक बार अर्जुन के शील की प्रशंसा इन्द्र की सभा में हो रही थी। सभी देव कह रहे थे कि आज तो अर्जुन जैसा शीलवान कोई दिखाई नहीं देता। उस समय दो देवों के मन में विचार आया कि हम उनके शील की परीक्षा क्यों न करें? क्योंकि शीलवतियाँ तो बहुत होती हैं, शीलवानों का नाम तो हम आज सुन रहे हैं।

ऐसा सोचकर वे देव पाण्डवों की सभा में आए। उस समय सभा में नृत्य चल रहा था; वे देव भी देवांगनाओं का बहुत सुन्दर रूप बनाकर नाचने लगे।

उन देवों की निगाह तो अर्जुन पर ही थी। वे यह देख रहे थे कि अर्जुन का परिणाम नृत्य देखकर कैसा होता है? किन्तु अर्जुन एकदम गम्भीर रहे। किन्तु जब अर्जुन थोड़ा मुस्कुराए तो उन देवों ने नाच बन्द कर दिया और चले गए।

रात के समय उन दोनों देवों में से एक देव ने देवांगना के वेश में ही अर्जुन के कक्ष में प्रवेश किया। उन्हें देखकर अर्जुन ने कहा -

“तुम यहाँ पर कैसे आई? जाओ-जाओ, यहाँ से जाओ।”

तब देवांगना बोली - “मैं यहाँ पर ऐसे ही नहीं आई हूँ, आपका इशारा पाकर आई हूँ।”

अर्जुन ने कहा - “क्या। मैंने तुम्हें इशारा किया; मैंने तुम्हें बुलाया?”

देवांगना ने कहा - “हाँ, आपने मुझे इशारा किया। जब मैं सभा में नृत्य कर रही थी; तब पहले तो आप गम्भीर रहे; किन्तु बाद में मुस्कुराए तो मैंने समझा कि आप मुझे चाहते हैं, इसलिए मैं यहाँ आई हूँ।”

अर्जुन बोले - “नहीं, नहीं; उसका यह मतलब नहीं था।”

“फिर आप मुझे बताओ कि पहले आपके गम्भीर रहने का और बाद में मुस्कुराने का क्या मतलब था?”

उसके बाद अर्जुन ने जो जवाब दिया, वह अत्यंत ही मार्मिक है। अर्जुन ने कहा -

“पूर्व भव में मेरे मन में यह इच्छा थी कि मैं दुनिया की सबसे सुंदर महिला के गर्भ से जन्म लूँ; इसलिए मैंने एक अवधिज्ञानी मुनिराज से पूछा था कि दुनिया में सबसे सुंदर महिला कौन है?”

तब मुनिराज ने मुझे बताया था कि कुंती सबसे सुंदर महिला है। उस समय मैंने यह निदान बंध किया था कि मैं कुंती के गर्भ से ही जन्म लूँ। मेरा वह निदान बंध सफल हो गया और कुंती के गर्भ से मेरा जन्म हुआ।

राजसभा में नृत्य के समय मैं इसलिए उदास था कि तुम्हें देखकर मुझे ऐसा लगा कि मैं धोखे में हूँ; क्योंकि तुम तो कुंती से भी ज्यादा सुन्दर हो। मेरे हँसने का कारण यह था कि उस समय मुझे विकल्प आया कि यदि मुझे एकाध भव और धारण करना पड़े तो मैं तुमको ही अपनी माँ बनाऊँगा।

जिसप्रकार अर्जुन के जरा से हँसने से उन्हें रात्रि में देवांगना के आगमन रूप विपत्ति का सामना करना पड़ा; उसीप्रकार परपदार्थ ज्ञान में आने पर तो कोई परेशानी नहीं है; किन्तु यदि जीव ने उन परपदार्थों में अपनापन स्थापित कर लिया तो बंध होगा ही।

कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है का तात्पर्य यह है कि आत्मा कार्माण शरीर का कर्ता नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यद्यपि जीव अज्ञान अवस्था में उन मोह-राग-द्वेष भावों का कर्ता है; किन्तु इन द्रव्यकर्मों और तन-मन-वचन की क्रिया का कर्ता नहीं है।

तदनन्तर आत्मा के शरीरपने का अभाव निश्चित करनेवाली १७१वीं गाथा इसप्रकार है -

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजसिओ।

आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥१७१॥

(हरिगीत)

यह देह औदारिक तथा हो वैक्रियक या कार्मण।

तेजस अहारक पाँच जो वे सभी पुद्गलद्रव्यमय ॥१७१॥

औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, तैजस शरीर, आहारक शरीर और कार्माण शरीर - ये सब पुद्गलद्रव्यात्मक हैं।

इसप्रकार आचार्य ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के ज्ञान-ज्ञेय-विभागाधिकार में यह बता रहे हैं कि मैं क्या-क्या नहीं हूँ। औदारिक शरीर नहीं हूँ - यह कहकर देहादि के प्रति एकत्व छोड़ा रहे हैं। इसके बाद यह चर्चा आणगी कि ये शरीरादि पदार्थ तो स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाले हैं; जबकि मैं अरस, अरूप, अस्पर्श, अगंध एवं चेतना गुण से संयुक्त ज्ञानानंदस्वभावी भगवान आत्मा हूँ। इसप्रकार यहाँ भेदविज्ञान की ही चर्चा है।

●

अठारहवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के ज्ञानज्ञेय-विभागाधिकार पर चर्चा चल रही है।

अभी तक विस्तार से यह बात हुई कि जीव क्या-क्या नहीं है ? देह नहीं है, मन नहीं है, वाणी नहीं है, कर्म नहीं है; इनका कर्ता-भोक्ता भी नहीं है; और अब यह समझाते हैं कि आखिर जीव है क्या ?

जीव का स्वरूप समझाते हुए १७२वीं गाथा में लिखा है कि -

अरसमरूबमगंधं अब्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।

जाण अलिंगगहणं जीवमणिद्धिट्टुसंठाणं ॥१७२॥

(हरिगीत)

चैतन्य गुणमय आत्मा अव्यक्त अरस अरूप है।

जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥१७२॥

जीव को अरस, अरूप, अगंध, अशब्द, अव्यक्त, चेतनागुण से युक्त, अलिंगग्रहण (लिंग द्वारा ग्रहण न होने योग्य) और जिसका कोई संस्थान नहीं कहा गया है - ऐसा जानो।

यह गाथा आचार्य कुन्दकुन्द के पाँचों परमागमों में उपलब्ध होती है। समयसार में ४९वीं, नियमसार में ४६वीं, पंचास्तिकाय संग्रह में १२७वीं, अष्टपाहुड़ के भावपाहुड़ में ६४वीं गाथा है और इस प्रवचनसार ग्रन्थ में १७२वीं गाथा है। यह गाथा न केवल कुन्दकुन्दाचार्य के पाँचों ग्रन्थों में है; अपितु षट्खण्डागम में भी है। इससे इस गाथा का महत्त्व सहज ही समझ में आ जाता है।

इसी सन्दर्भ में एक बात और समझने की है कि जितने भी प्राचीन ग्रन्थ हैं; उनमें से कुछ ग्रन्थ संग्रह ग्रन्थ हैं। द्रव्यसंग्रह एवं पंचास्तिकाय संग्रह आदि ग्रन्थों के अन्त में जुड़े हुए संग्रह शब्द यह बताते हैं कि इनकी गाथाओं का कहीं न कहीं से संग्रह किया गया है।

जैसा कि हम सब जानते हैं कि पहले सबकुछ मौखिक ही चलता था; बाद में उसी विषय-वस्तु को लिखितरूप में व्यवस्थित किया गया। आचार्यों को जो गाथाएं याद थीं, उन्हीं गाथाओं को लिखितरूप में व्यवस्थित करके प्रस्तुत कर दी गई।

यद्यपि आज भी ऐसा चलता है; तथापि इतना अन्तर है कि आज प्राचीन विषय-वस्तु को उद्धरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। पहले यह सब इसलिए संभव नहीं था कि यदि एक ग्रन्थ की दो सौ प्रतियाँ हस्तलिखित होंगी, तो उन दो सौ प्रतियों में पृष्ठ संख्या अलग-अलग होगी। ऐसी स्थिति में ग्रन्थों में अन्य ग्रन्थों के कथनों को उद्धृत करके लिखना सम्भव ही नहीं था।

इससे भी बड़ी बात यह है कि सभी आचार्यगण यही समझते थे कि यह सब तो भगवान महावीर की वाणी है, इसमें हमारा क्या है? इसलिए अपने ग्रन्थों को संग्रहरूप में प्रस्तुत करने में उन्हें कोई संकोच नहीं था।

यह भी हो सकता है कि यह गाथा पहले से प्रचलित रही हो, जिसे कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में संग्रह कर लिया हो। कुछ भी हो; यह जैनदर्शन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मूल गाथा है।

इस गाथा में भी अरस-अरूपादि जो विशेषण दिये गये हैं; उनसे भी यही प्रतीत होता है कि वे यहाँ मनुष्यादिरूप असमानजातीयद्रव्यपर्याय से ही भेदविज्ञान करने की बात कर रहे हैं। वे देहदेवल में विराजमान, किन्तु देह से भी भिन्न भगवान आत्मा को पहचानने का असाधारण लक्षण बता रहे हैं।

असाधारण लक्षण वह होता है, जो दूसरों में नहीं पाया जाता। जो गुण दूसरों में नहीं पाये जाये, असाधारण लक्षण में उन्हें ही रखा जाता है। आत्मा के असाधारण धर्म की चर्चा में भी यह बात प्रमुख है कि जिन गुणों से हम आत्मा को पहचान लें, वे आत्मा के असाधारण गुण हैं।

यहाँ पर यह नहीं समझना चाहिए कि असाधारण गुण मुख्य होते

हैं, इसलिए उनकी चर्चा कर रहे हैं और बाकी के गुण गौण हैं, इसलिए उनकी चर्चा नहीं कर रहे हैं; अपितु आत्मा को पहचानने में असाधारण गुण सुविधाजनक होते हैं; इसलिए उनका वर्णन किया जा रहा है।

आत्मा रस नहीं है, रूप नहीं है, गंध नहीं है - यह बात तो नकारात्मक हुई। यद्यपि लोक में जुआ नहीं खेलना, माँस-मदिरा का सेवन नहीं करना, हिंसा नहीं करना, चोरी नहीं करना इत्यादि नकारात्मक बिन्दुओं को भी गुणों के रूप में देखा जाता है; तथापि सकारात्मक गुणों के बिना नकारात्मक गुणों का ज्यादा महत्त्व नहीं होता।

फिर भी आत्मा को पहचानने के लिए ये अरस, अरूप, अगंध एवं अशब्द गुण अधिक उपयोगी हैं; क्योंकि रूप-रस-गंध वाले शरीर से आत्मा को भिन्न समझना है।

इस गाथा का सरलार्थ यह है कि जीव अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अलिंगग्रहण, चेतनागुणवाला और अनिर्दिष्ट संस्थानवाला है।

इस गाथा में महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि आजतक हमारे ज्ञान का उपयोग इन्द्रियों के माध्यम से ही होता रहा है; इसकारण वह मात्र पुद्गलों को ही जानता रहा है; क्योंकि इन्द्रियाँ रूपादि विषयों की ही ग्राहक हैं और रूपादिक विषय पुद्गलमयी हैं।

इसप्रकार यहाँ दो बातें कही, प्रथम तो यह कि शरीर जीव नहीं है और दूसरी यह कि जीव शरीर की अंगभूत जिन इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान का उपयोग कर रहा है; उनसे भगवान आत्मा समझ में नहीं आएगा; क्योंकि इन्द्रियाँ जिन चीजों के जानने में निमित्त हैं, वे रूपादि गुण आत्मा में ही नहीं।

इन्द्रियज्ञान - इस पद में इन्द्रिय को ज्ञान का विशेषण बना दिया गया है; किन्तु वास्तव में ज्ञान इन्द्रिय या अतीन्द्रिय नहीं होता।

जिसप्रकार पानी स्वयं अपने आप में पीला या नीला नहीं होता; किन्तु पीले या नीले रंगों के संयोग से उसे पीला या नीला कहा जाता है;

उसीप्रकार ज्ञान तो ज्ञान होता है, वह इन्द्रिय या अतीन्द्रिय नहीं होता है; किन्तु जिस ज्ञान का उपयोग इन्द्रियों के माध्यम से हुआ, उस ज्ञान को इन्द्रिय ज्ञान नाम दे दिया और जो ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से नहीं हुआ, उस ज्ञान को अतीन्द्रिय नाम दे दिया।

इसप्रकार इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान – ज्ञान के ये भेद इन्द्रियों की अपेक्षा ही किये गये हैं। इन्द्रियज्ञान में तो इन्द्रिय की अपेक्षा है ही; किन्तु अतीन्द्रियज्ञान में भी इन्द्रिय के अभाव की अपेक्षा ही मुख्य रही है। वास्तव में तो ज्ञान को अतीन्द्रिय विशेषण देने का कोई मतलब ही नहीं है; क्योंकि ज्ञान तो ज्ञान है। उसे आत्मोत्थ ज्ञान कहें तब भी ठीक है; लेकिन अतीन्द्रियज्ञान कहने में तो स्पष्ट ही इन्द्रिय की अपेक्षा है। इन्द्रियज्ञान में इन्द्रियों की सकारात्मक अपेक्षा है और अतीन्द्रियज्ञान में इन्द्रियों की नकारात्मक अपेक्षा है।

‘चश्मे से देखनेवाला’ यह कहना तो किसी अपेक्षा उचित माना जा सकता है; किन्तु बिना चश्मे से देखनेवाले को बिना चश्मेवाला कहने की क्या जरूरत है ? उसके स्थान पर मात्र ऐसा कहना चाहिए कि देखनेवाला। सीधा देखनेवाले में चश्मे की अपेक्षा क्यों हो ? इसीप्रकार जब ज्ञान सीधे ही आत्मा को जान रहा है, तो उस ज्ञान को अतीन्द्रिय कहकर इन्द्रियों को बीच में लाने की जरूरत ही क्या है ?

यदि कोई कहे कि ज्ञान का अतीन्द्रिय विशेषण तो आचार्यों ने लगाया है, उन्हीं ने अतीन्द्रियज्ञान शब्द का प्रयोग किया है।

अरे भाई! हम लोगों ने आजतक इन्द्रियों के माध्यम से ही देखा-जाना है और पुद्गल को ही देखा-जाना है; इसकारण हमने इन्द्रिय के माध्यम से होनेवाले ज्ञान को ही ज्ञान समझ लिया है। इन्द्रियों के बिना भी देखा-जाना जा सकता है – यह बात हमारी कल्पना में भी नहीं आई; इसलिए आचार्यों ने ज्ञान को अतीन्द्रिय विशेषण लगाकर समझाया है।

आचार्यों ने तो यह अपेक्षा हमें समझाने के लिए लगाई है; किन्तु

जिन्हें अतीन्द्रियज्ञान है, उन्हें तो ऐसी कोई अपेक्षा ही नहीं है। जिसप्रकार इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं है; उसीप्रकार अतीन्द्रियज्ञान भी ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो मात्र ज्ञान है, वह न तो इन्द्रिय है और न ही अतीन्द्रिय।

इस संबंध में समयसार के सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार की वे गाथाएँ भी ध्यान से पढ़ने योग्य हैं; जिनमें यह कहा गया है कि कलई दीवार की नहीं, अपितु कलई कलई की है। वहाँ आचार्य कहते हैं कि दीवाल पर जो कलई पुती हुई है, वह कलई दीवाल की नहीं है; क्योंकि दीवाल जुदी है और कलई जुदी है। दीवाल के परमाणु और प्रदेश अलग हैं और कलई के परमाणु और प्रदेश अलग हैं, उन दोनों में परस्पर अत्यन्तभाव है। कलई को दीवाल की कहना – यह व्यवहार है। ऐसा भी नहीं कह सकते हैं कि कलई है ही नहीं; क्योंकि कलई उस दीवाल पर पुती हुई है, लिपटी हुई है।

दीवाल पर कलई तो दिख रही है; किन्तु पीछे की दीवाल नहीं दिख रही है। उस दीवाल में जो सीमेन्ट, कांक्रीट, चूना व पत्थर लगा है, वह नहीं दिख रहा है; किन्तु यह संयोगरूप कलई दिख रही है; इसलिए इस संयोग का ज्ञान कराने के लिए यह कह दिया जाता है कि दीवाल सफेद है; लेकिन ऐसा कहना व्यवहार है; क्योंकि सफेद तो कलई है, दीवार नहीं।

इसके बाद वही पर आचार्य कहते हैं कि कलई कलई की है और दीवाल दीवाल की है। इस संबंध में मेरा कहना यह है कि वहाँ पर एक कलई के अलावा दूसरी कलई कौन-सी है ? वास्तव में दूसरी कलई तो है ही नहीं, एक ही कलई है।

अरे भाई। जिसका कोई दूसरा भाई न हो और वह यह कहे कि मैं ही मेरा भाई हूँ, तो वास्तव में वे कोई दो अलग-अलग व्यक्ति नहीं है, एक ही व्यक्ति है। इसीप्रकार कलई तो एक ही है; लेकिन कलई कलई की है – ऐसा कहकर एक ही वस्तु में दो भेद किए गए हैं। दीवाल की कलई – ऐसा कहना असद्भूतव्यवहार है और कलई की कलई – ऐसा कहना सद्भूतव्यवहार है। स्वयं में ही भेद करना भेदव्यवहार अर्थात् सद्भूतव्यवहार है।

आचार्य कहते हैं कलई कलई की है - ऐसे सदभूतव्यवहार से क्या लाभ ? वास्तव में कलई तो कलई है। कलई की कलई है - इसमें संबंध की बात झलकती है और संबंध दो वस्तुओं में होता है। कलई तो कलई है - यह निश्चय है। इसी को आगे और भी बढ़ाया जा सकता है कि कलई तो कलई है; इसमें दो कलई बोलने की क्या आवश्यकता है ? कलई है - इतना ही पर्याप्त है।

जिसप्रकार कलई दीवाल की है - यह व्यवहार है; उसीप्रकार आत्मा पर को जानता है - यह भी व्यवहार है। कलई दीवार पर लगी हुई है - यह बात सही है; वैसे ही पर को आत्मा ने जाना - यह भी सही है; किन्तु पर को जानने के कारण व्यवहार है। आत्मा ने पर को जाना; किन्तु तन्मय होकर नहीं जाना; यह मैं हूँ - ऐसा नहीं जाना; ये मुझसे भिन्न पदार्थ है - ऐसा जाना, इसलिए वह व्यवहार है।

आत्मा ने स्वयं को जाना - इसमें भी भेदव्यवहार है। आत्मा ने आत्मा को जाना - ऐसा कहने पर कोई दो आत्मा तो है नहीं कि एक आत्मा तो वह हो जिसने जाना और दूसरी आत्मा वह हो जिसको जाना गया हो। यह तो एक ही आत्मा में भेदव्यवहार है; क्योंकि आत्मा में ज्ञेयत्व नामक धर्म भी है, जिसके कारण उसको जाना गया और ज्ञान नामक गुण भी है जिससे उसने जाना। इसप्रकार एक ही आत्मा में दो भेद करने से भेदव्यवहार हो गया।

पर को आत्मा व्यवहार से जानता है; इसलिए यदि यह बात झूठी है तो फिर आत्मा ने जो स्वयं को जाना - वह भी झूठा ही सिद्ध होगा; क्योंकि यहाँ भी ज्ञाता और ज्ञेय का भेद खड़ा किया गया है।

जिस व्यवहार की वजह से पर को जानना झूठा है तो फिर उसी व्यवहार की वजह से स्वयं को जानना भी झूठा है; इससे स्वयं को जानना भी असंभव हो जाएगा।

इन्द्रियज्ञान हेय है - यह बात तो सही है; क्योंकि उससे पुद्गल ही

जानने में आता है और पुद्गल को जानने से मूल प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती; किन्तु पुद्गल जान लेने से हमारे ऊपर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ेगा - ऐसी बात भी नहीं है। यदि यह बात हो तो सर्वज्ञ भगवान के ऊपर भी विपत्ति आ जाय; क्योंकि वे पर को जानते हैं।

इसमें एक बात अवश्य है कि हम सब रागी-द्वेषी जीव हैं, हमें उन्हीं पदार्थों से राग-द्वेष होता है, जिन्हें हम जानते हैं; किन्तु वह जानने के कारण नहीं होता; अपितु अन्दर की विकृति के कारण होता है, मिथ्यात्व के कारण होता है।

इसप्रकार इस गाथा में दो बातें मुख्यरूप से कही गई हैं। प्रथम तो, यह कि शरीर में जो रूप, रस, गंध, स्पर्श हैं, वे आत्मा में नहीं हैं; इसलिए आत्मा शरीर से भिन्न है। दूसरी बात यह है कि जो रूपादि इन्द्रियों के माध्यम से जाने जाते हैं, वे आत्मा में हैं ही नहीं; इसलिए आत्मा को जानने के लिए इन्द्रियाँ बेकार हैं। भगवान आत्मा आँख खोलकर देखने की चीज नहीं है; अपितु आँख बन्द करके देखने की चीज है।

यहाँ पर एक बात सीखने की है। जब दो विद्वान एक ही गाथा का थोड़ा अलग-अलग अर्थ करते हैं अथवा एक संक्षेप में करता है और दूसरा विस्तार से करता है, तो हमें उन्हें दो पार्टियों में खड़ा नहीं करना चाहिए। अरे भाई। ऐसा भी हो सकता है कि एक ही विद्वान एक गाथा का अर्थ पहली बार संक्षेप में करे और दूसरी बार विस्तार से करे। वास्तव में यह कोई मतभेद नहीं है। हमें तो यह देखना चाहिए कि उसका जो अर्थ किया जा रहा है, वह उसमें से निकल रहा है या नहीं ?

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस गाथा का अर्थ विभिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। १७२वीं गाथा में अरस, अरूप, अगंध, अस्पर्श आदि के लिए एक-एक बोल ही लिखा है।

हाँ, एक बात अवश्य है कि इस गाथा में अलिंगग्रहण के संबंध में

प्रश्न उठाते हुए उसके २० बोल लिखे हैं, २० अर्थ किये हैं; जिनका विस्तृत विवेचन प्रवचनसार अनुशीलन में विस्तार से किया जा रहा है।

जिन्हें उक्त प्रकरण के संबंध में विशेष जिज्ञासा हो; वे अपनी जिज्ञासा वहाँ से शान्त करें।

उनका उक्त कथन इसप्रकार है -

आत्मा (१) रसगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (२) रूप गुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (३) गंधगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (४) स्पर्शगुणरूप व्यक्तता के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (५) शब्दपर्याय के अभावरूप स्वभाववाला होने से, तथा (६) इन सबके कारण (अर्थात् रस, रूप, गंध इत्यादि के अभावरूप स्वभाव के कारण) लिंग के द्वारा अग्राह्य होने से और (७) सर्वसंस्थानों के अभावरूप स्वभाववाला होने से, आत्मा को पुद्गलद्रव्य से विभाग का साधनभूत (१) अरसपना, (२) अरूपपना, (३) अगंधपना, (४) अव्यक्तपना, (५) अशब्दपना, (६) अलिंगग्राह्यपना और (७) असंस्थानपना है।

जीव को अरस, अरूप, अगंध कहने के बाद आचार्य जीव को अव्यक्त कहते हैं। अव्यक्त का तात्पर्य होता है, जो प्रकट नहीं है; जबकि इसी ग्रंथ में पूर्व में आत्मा को प्रगट अतिसूक्ष्म विशेषण भी दिया है अर्थात् आत्मा प्रगट तो है; लेकिन अतिसूक्ष्म है।

सूक्ष्म और स्थूल ज्ञान के सन्दर्भ में एक व्याख्या तो यह है कि मूर्तिक पदार्थों के ज्ञान को स्थूलज्ञान कहते हैं और अमूर्तिक पदार्थों के ज्ञान को सूक्ष्मज्ञान कहते हैं।

दूसरी व्याख्या यह है कि जो केवलज्ञानगम्य है, वह विषय अपने लिए सूक्ष्म है और जो अपनी बुद्धिगम्य है, वह अपने लिए स्थूल है। मोक्षमार्गप्रकाशक में भी इसी दूसरी अपेक्षा से वर्णन आया है।

आचार्य समंतभद्र ने भी आसमीमांसा की ५वीं कारिका में सर्वज्ञ-सिद्धि के संदर्भ में लिखा है -

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽग्रादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥

इसके अर्थ में आचार्यदेव ने सूक्ष्म पदार्थ के उदाहरण में परमाणु को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि परमाणु सूक्ष्म है।

इसप्रकार यदि भगवान आत्मा को अनुभव करके देखा जाय तो अत्यंत प्रगट है; क्योंकि अनंत केवलज्ञानियों के द्वारा अत्यंत स्पष्टरूप से जाना जाता है, छिपा हुआ नहीं है। भगवान आत्मा हमारे ज्ञान में नहीं आ रहा है - इस अपेक्षा से अव्यक्त है और इन्द्रियों के द्वारा भी जानने में नहीं आ रहा, इसलिए भी अव्यक्त है।

उसके बाद आचार्यदेव ने जीव को चेतनागुण से युक्त कहा, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग को जीव का लक्षण कहा। इसके पूर्व अरस, अगंध, अरूप, अव्यक्त - ये सभी तो जीव में नकारात्मक लक्षण थे और जीव चेतनागुण वाला है - यह सकारात्मक लक्षण है।

तदनन्तर जीव को अनिर्दिष्टसंस्थान से युक्त कहा अर्थात् जीव असंख्यातप्रदेशी होने पर भी उसका आकार निश्चित नहीं है; क्योंकि कभी तो मनुष्याकार में रहता है और देवाकार हो जाता है।

यदि कोई कहे कि ६०-७० वर्ष तक जबतक मनुष्य अवस्था में है, तबतक तो मनुष्याकार ही है न ? उससे कहते हैं कि मनुष्याकार भी तो एक नहीं है, वह भी प्रतिसमय बदलता है, बैठे हुए मनुष्य की आत्मा का आकार अलग है और खड़े हुए मनुष्य की आत्मा का अलग। हाथ हिलते रहने में, साँस लेते रहने में - इत्यादि संसारी जीवों की अवस्थाओं में आत्मा के प्रदेशों का आकार भी बदलता रहता है। सिद्धजीवों का अनंतकाल तक एक ही आकार रहता है। निश्चय से जीव का आकार असंख्यातप्रदेशी है और व्यवहार में कोई न कोई आकार है और वह आकार अनिर्दिष्ट है। निर्दिष्ट अर्थात् जिसे कहा जा सके और अनिर्दिष्ट अर्थात् जिसे नहीं कहा जा सके।

आत्मा का आकार जानना तो सम्भव है; क्योंकि केवलज्ञानी के ज्ञान में तो आकार जानने में आ ही रहा है; लेकिन कहना केवलज्ञानी को भी सम्भव नहीं है। इसप्रकार भगवान आत्मा अनिर्दिष्टसंस्थानवाला है।

आचार्य जीव को अनिर्दिष्टसंस्थान युक्त कहने के बाद कहते हैं कि यह आत्मा अलिंगग्रहण है अर्थात् इन्द्रियों से पकड़ में आनेवाला नहीं है।

कोई ऐसा प्रश्न करें कि शास्त्रों में बार-बार ऐसा कहा जाता है कि अपनी आत्मा को जानो, तो आत्मा में वे ऐसे कौन से चिन्ह हैं; जिनसे आत्मा को ग्रहण करें ? इसी प्रश्न के समाधान के लिए इस गाथा में आत्मा को अलिंगग्रहण कहा गया है।

लिंग शब्द का अर्थ चिन्ह होता है। स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग में भी अन्त में लगे लिंग शब्द चिन्ह अर्थ को ही बताते हैं। मनुष्य जाति में स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग के भेद से तीन प्रकार के भेद हैं। इन तीनों में मुख्यरूप से जिन अंगों में अन्तर है, उन अंगों को ही लिंग शब्द से कहा जाता है। नाक, कान आदि तो स्त्री, पुरुष और नपुंसक में समान ही हैं। इसप्रकार पहिचान के चिन्ह को ही लिंग कहते हैं।

भगवान आत्मा चिन्हों से पकड़ में आनेवाला नहीं है, वह तो अलिंगग्रहण है। अब यहाँ पर आचार्यदेव ने लिंग शब्द के अलग-अलग तरीके से बीस अर्थ किए हैं। लिंग का अर्थ अनुमान भी होता है; अतः भगवान आत्मा अनुमान से पकड़ में नहीं आएगा आदि। इसप्रकार वह भगवान किन-किन से पकड़ में नहीं आएगा, उसके लिए अलिंगग्रहण के बीस बोल हैं।

यहाँ अलिंगग्रहण के स्थान पर अलिंगग्राह्य शब्द नहीं लिया; क्योंकि अलिंगग्रहण शब्द दोनों ओर प्रयुक्त हो सकता है। इसी आधार से उन्होंने अलिंगग्रहण के बीस अर्थ निकाले हैं।

जिसप्रकार ज्ञान शब्द जानने रूप क्रिया के रूप में भी है और जानने रूप गुण के रूप में भी है और ज्ञान जिस आत्मा का गुण है, उस आत्मा

के लिए भी ज्ञान शब्द का प्रयोग होता है। इसप्रकार ज्ञान का अर्थ आत्मा भी है, ज्ञान गुण भी है और जानने रूप क्रिया भी है।

सर्वार्थसिद्धि में भी कहा है, जिसके द्वारा जाना जाए, उसे भी ज्ञान कहते हैं और जिसके आधार से जाना जाए, उसे भी ज्ञान कहते हैं एवं जाननेरूप क्रिया को भी ज्ञान कहा जाता। कर्ता के रूप में भी ज्ञान शब्द का प्रयोग होता है, करण एवं अधिकरण के रूप में भी ज्ञान शब्द का प्रयोग होता है तथा जाननक्रिया के रूप में भी ज्ञान का प्रयोग होता है।

इसीप्रकार ग्रहण शब्द भी सामान्य है; इसीलिए आचार्यदेव ने अलिंगग्रहण के बीस अर्थ किये हैं।

इसप्रकार आचार्यदेव ने इस गाथा में यही कहा है कि चिन्हों से भगवान आत्मा पकड़ में आनेवाला नहीं है। जब अपने ज्ञानोपयोग को सीधे भगवान आत्मा में लगाएंगे, तभी भगवान आत्मा जाना जायेगा।

गाथा १७२ में जीव को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, चेतनागुण युक्त, अशब्द, अलिंगग्रहण और अनिर्दिष्ट संस्थान कहने के बाद गाथा १७३ में यह समस्या प्रस्तुत करते हैं कि अमूर्त आत्मा के, स्निग्धरुक्षत्व का अभाव होने से बंध कैसे हो सकता है ?

जब भगवान आत्मा शुद्ध, बुद्ध, निरंजन एवं निराकार है तो वह कर्मों के चक्कर में कैसे फँस गया ? अर्थात् आत्मा से शरीर का संयोग कैसे हो गया? वे कौन से कारण हैं, जिनसे इस आत्मा को शरीर समझ लिया गया।

जयपुर में एक नाई राजा के यहाँ रोज दाढी बनाने जाया करता था एवं उनसे गप्पे भी लगाया करता था; क्योंकि राजा साहब उस समय हल्के मूड में होते थे। सभी लोग उसे खबासजी कहते थे। एक बार राजा साहब उससे किसी बात पर प्रसन्न हो गए और उससे कोई वरदान माँगने को कहा। तब खबासजी ने महाराजजी से कहा कि -

“हुजूर! मैं तो बस इतना चाहता हूँ कि अब जब आपकी सवारी निकलेगी, तब मैं भी भीड़ में दर्शनों के लिए खड़ा रहूँगा; उस समय जब

मैं आपको नमस्कार करूँ तो आप मुझे बुलाकर अपने रथ में दो मिनिट के लिए बिठा लेना और मेरी पीठ ठोकना तथा मुझसे दो बातें पूछना। मैं तो बस आपकी इतनी ही कृपादृष्टि चाहता हूँ; मुझे और कुछ नहीं चाहिए।”

जब राजाजी की सवारी निकली, तो पूरे गाँव ने राजाजी को खबासजी से प्रेम से बोलते हुए और उसकी पीठ पर हाथ रखते हुए देखा। अब वह सभी से यह कहता कि मैं राजाजी से तुम्हारा यह काम निकलवा सकता हूँ। यदि कोई उसे काम नहीं बताता, तब वह यह कहता कि राजाजी की दृष्टि तुम्हारे मकान पर है, आज उन्होंने तुम्हारे मकान का यह हिस्सा तोड़ने को कहा है, मैं चाहूँ तो तुम्हारा मकान बचा सकता हूँ। - इसप्रकार खबासजी ने राजा की कृपादृष्टि से लोगों को ठगना शुरू कर दिया और खबासजी की कोठी भी बन गई। जयपुर में खबासजी का रास्ता भी बन गया; जो आज भी उसी नाम से जाना जाता है।

इसीप्रकार आत्माराम राजाजी ने शरीर के साथ संयोग किया और शरीर को ही अपना मान लिया। यही इसके बंधन का कारण बन गया।

मुक्तो रूपादिगुणो बज्ज्जदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।

तत्त्विपरीदो अप्पा बज्ज्जदि किध पोग्गलं कम्मं ॥१७३॥

(हरिगीत)

मूर्त पुद्गल बंधे नित स्पर्श गुण के योग से ।

अमूर्त आत्म मूर्त पुद्गल कर्म बाँधे किसतरह ॥१७३॥

मूर्त पुद्गल तो रूपादिगुणयुक्त होने से परस्पर स्पर्शों से बंधते हैं; परन्तु उससे विपरीत अमूर्त आत्मा पौद्गलिक कर्म को कैसे बाँधता है?

यहाँ पर आश्चर्य प्रगट करते हुए यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि पुद्गल तो मूर्तिक है, रूपादि गुणोंवाला है और भगवान आत्मा उससे रहित है; तब यह आत्मा पुद्गल कर्मों से किसप्रकार बंध गया ?

इसके पूर्व की गाथा में भी यही कहा था कि शरीर स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाला है तथा आत्मा चेतन तत्त्व है। जब जीव और पुद्गल

दोनों जुड़े-जुड़े पदार्थ हैं और दोनों में अत्यन्ताभाव है, तब फिर इन दोनों का संयोग कैसे हो गया ?

अरे भाई! आत्मा ने शरीर को जाना और मिथ्यात्व के कारण उसे अपना मान लिया और बंधन में पड़ गया।

आत्मा अमूर्त होने पर भी उसको किसप्रकार बंध होता है ? - यह निश्चय करानेवाली १७४वीं गाथा इसप्रकार है -

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।

दव्वाणि गुणे यजधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥१७४॥

(हरिगीत)

जिसतरह रूपादि विरहित जीव जाने मूर्त को ।

बस उसतरह ही जीव बाँधे मूर्त पुद्गलकर्म को ॥१७४॥

जिसप्रकार रूपादिरहित जीव रूपी द्रव्यों को और उनके गुणों को देखता और जानता है; उसीप्रकार अरूपी का रूपी के साथ बंधन होता है - ऐसा जानो।

इस गाथा में आचार्य ने जानने को उदाहरण बनाया और बंधने को सिद्धांत बनाया। आचार्यदेव कहते हैं कि जिसप्रकार अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक द्रव्यों को जानता है; उसीप्रकार अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक द्रव्यों से बंध को प्राप्त होता है।

इसीलिए आचार्यदेव ने पर को जानने व बंधने - इन दोनों को एक ही नय में रखा है। मैं पर से बंधा हूँ, मैं पर का कर्ता हूँ और मैं पर को जानता हूँ - ये सभी कथन असद्भूतव्यवहारनय के हैं।

गाथार्थ को स्पष्ट करनेवाली टीका इसप्रकार है -

“जैसे रूपादिरहित जीव रूपी द्रव्यों को तथा उनके गुणों को देखता-जानता है; उसीप्रकार रूपादिरहित जीव रूपी कर्म पुद्गलों के साथ बंधता है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो देखने-जानने के संबंध में भी यह प्रश्न अनिवार्य है कि अमूर्त मूर्त को कैसे देखता-जानता है ?

और ऐसा भी नहीं है कि अरूपी का रूपी के साथ बंध होने की बात अत्यन्त दुर्घट है; इसलिए उसे दार्ष्टान्तरूप बनाया है, परन्तु दृष्टान्त द्वारा आबाल-गोपाल सभी को ज्ञात हो जाय; इसलिए दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।

जिसप्रकार पृथक् रहनेवाले मिट्टी के बैल को अथवा सच्चे बैल को देखने और जानने पर बालगोपाल का बैल के साथ संबंध नहीं है; तथापि विषयरूप से रहनेवाला बैल जिनका निमित्त है - ऐसे उपयोगारूढ वृषभाकार दर्शन-ज्ञान के साथ का संबंध बैल के साथ संबंधरूप व्यवहार का साधक अवश्य है।

इसीप्रकार यद्यपि आत्मा अरूपीपने के कारण स्पर्शशून्य है; इसलिए उसका कर्मपुद्गलों के साथ संबंध नहीं है; तथापि एकावगाहरूप से रहनेवाले कर्मपुद्गल जिनके निमित्त है - ऐसे उपयोगारूढ रागद्वेषादिभावों के साथ का संबंध कर्मपुद्गलों के साथ के बंधरूप व्यवहार का साधक अवश्य है।”

जिसप्रकार रूपादि से रहित होने पर भी जीव रूपी द्रव्यों को तथा उनके गुणों को जानता है; उसीप्रकार रूपी कर्मपुद्गलों के साथ बंधता है।

यदि कोई ऐसा प्रश्न करे कि अमूर्त मूर्त से कैसे बंध सकता है तो यह प्रश्न जानने-देखने के संबंध में भी खड़ा होगा।

आत्मा का रूपी पदार्थों को जानना दुर्घट भी नहीं है; क्योंकि जानना तो निरन्तर हो ही रहा है। जानने को इसीलिए यहाँ पर दृष्टान्त बनाया; क्योंकि आत्मा पर को जानता है - यह जगप्रसिद्ध है। उदाहरण वही बनाया जाता है जो जगप्रसिद्ध होता है। बंधने में तो शंका हो सकती है; लेकिन जानने में नहीं।

जो वादी और प्रतिवादी - दोनों के लिए प्रसिद्ध हो, उसे उदाहरण कहते हैं; जिसे वादी और प्रतिवादी दोनों नहीं माने, वह तो उदाहरण हो ही नहीं सकता।

यहाँ पर टीका में जो यह कहा गया है कि यह बात कोई दुर्घट नहीं है - इसका तात्पर्य यह है कि ऐसी घटना घट रही है। पर को जानना दुर्घट नहीं है का अर्थ यह है कि पर को जानना कोई कठिन कार्य नहीं है, यह तो आत्मा के स्वभाव का स्फुरायमान होना है।

टीका में इसी बात को उदाहरण देकर समझाया है कि पृथक् रहनेवाले मिट्टी के बैल को अथवा सच्चे बैल को देखने और जानने पर बाल-गोपाल का बैल के साथ संबंध नहीं है; तथापि विषयरूप से रहनेवाला बैल जिनका निमित्त है ऐसे उपयोगारूढ वृषभाकार दर्शन-ज्ञान के साथ का संबंध बैल के साथ संबंध रूप व्यवहार का साधक अवश्य है।

मान लो, किसी बच्चे ने असली बैल को नहीं जाना और अपने खिलौने वाले बैल को जाना, तो वास्तव में उसने बैल को नहीं जाना; अपितु उस बैल के आकार जो ज्ञान की पर्याय परिणमित हुई - उसे जाना है। जिसप्रकार दर्पण में पदार्थ झलकते हैं; उसीप्रकार ज्ञान की पर्याय में बैल झलका। जिसप्रकार घट को तीन प्रकार का कहा जाता है - ज्ञानघट, शब्दघट और अर्थघट; उसीप्रकार ज्ञान में एक अर्थ बना अर्थात् ज्ञान में एक पर्याय बनी; क्योंकि पर्याय भी तो अर्थ है। द्रव्य अर्थ, गुण अर्थ और पर्याय अर्थ के भेद से अर्थ भी तीन प्रकार का है।

इसप्रकार उस बालक के ज्ञान में जो बैल की पर्याय बनी - उसने उसे जाना। ज्ञान की पर्याय को जानना तो निश्चय है और बैल को जानना व्यवहार है। चूँकि ज्ञान की पर्याय में बैल निमित्त था; इसलिए बैल का ही आकार बना, गधे का आकार नहीं। बैल जिसमें निमित्त है - ऐसी ज्ञानपर्याय में अंदर एक बैल झलका। भगवान आत्मा ने ज्ञानपर्याय में जो बैल जाना; उसको जानना तो निश्चय है और ज्ञान में उस बैल के आकार बनने में जो बैल निमित्त था, उस बैल को जानना व्यवहार है। दुनिया में यह कोई नहीं कहता कि मैंने ज्ञान की पर्याय में बने बैल को जाना; अपितु सभी यही कहते हैं कि बैल को जाना।

जिसप्रकार किसी डॉक्टर ने किसी आदमी के एक्सरे को देखकर जाँच लिख दी और पूरी रिपोर्ट भी तैयार कर दी। उस डॉक्टर ने आदमी की शकल भी नहीं देखी, फिर भी सब कुछ देख लिया। उस बच्चे ने भी वास्तव में उसी बैल को देखा था, जो उसकी ज्ञान पर्याय में बना था; लेकिन व्यवहार से यह कहा जाता है कि उसने बैल को जाना।

उसीप्रकार आत्मा में जो राग पैदा हुआ, वह ज्ञान ने अपनी पर्याय से ही जाना। इसमें पर का कुछ भी नहीं है। जैसे - जो ज्ञान में जो बैल का आकार बना था, उसमें बैल निमित्त था; उसीप्रकार आत्मा में जो राग पैदा हुआ उसमें परद्रव्य निमित्त है।

जिसप्रकार अशुद्धनिश्चयनय से उस राग भाव का कर्ता भगवान आत्मा को कहा जाता है; उसीप्रकार ज्ञान में जो ज्ञेय झलकते हैं अर्थात् ज्ञान में जो आकार बनते हैं, वे आकार जिस निमित्त से बनते हैं, उनको जानने का व्यवहार भी प्रचलित है।

इसी चर्चा को भलीभाँति स्पष्ट करनेवाला इसी गाथा का भावार्थ इसप्रकार है -

आत्मा अमूर्तिक होने पर भी वह मूर्तिक कर्मपुद्गलों के साथ कैसे बँधता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव ने कहा है कि - आत्मा के अमूर्तिक होने पर भी वह मूर्तिक पदार्थों को कैसे जानता है ? जैसे वह मूर्तिक पदार्थों को जानता है; उसीप्रकार मूर्तिक कर्मपुद्गलों के साथ बँधता है।

वास्तव में अरूपी आत्मा का रूपी पदार्थों के साथ कोई संबंध न होने पर भी अरूपी का रूपी के साथ संबंध होने का व्यवहार भी विरोध को प्राप्त नहीं होता। जहाँ ऐसा कहा जाता है कि आत्मा मूर्तिक पदार्थ को जानता है; वहाँ परमार्थतः अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक पदार्थ के साथ कोई संबंध नहीं है; उसका तो मात्र उस मूर्तिक पदार्थ के आकार रूप होने वाले ज्ञान के साथ ही संबंध है और उस पदार्थाकार ज्ञान के

साथ के संबंध के कारण ही अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक पदार्थ को जानता है - ऐसा अमूर्तिक-मूर्तिक का संबंध रूप व्यवहार सिद्ध होता है।

इसीप्रकार जहाँ ऐसा कहा जाता है कि अमुक आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्गलों के साथ बंध है; वहाँ परमार्थतः अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्गलों के साथ कोई संबंध नहीं है; आत्मा का तो कर्मपुद्गल जिसमें निमित्त हैं - ऐसे रागद्वेषादिभावों के साथ ही सम्बन्ध (बंध) है और उन कर्मनिमित्तक रागद्वेषादि भावों के साथ सम्बन्ध होने से ही इस आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्गलों के साथ बंध है।

यद्यपि मनुष्य को स्त्री-पुत्र-धनादि के साथ वास्तव में कोई संबंध नहीं है; वे उस मनुष्य से सर्वथा भिन्न हैं; तथापि स्त्री-पुत्र-धनादि के प्रति राग करनेवाले मनुष्य को राग का बन्धन होने से और उस राग में स्त्री-पुत्र-धनादि के निमित्त होने से व्यवहार से ऐसा अवश्य कहा जाता है कि इस मनुष्य को स्त्री-पुत्र-धनादि का बन्धन है; इसीप्रकार, यद्यपि आत्मा का कर्मपुद्गलों के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है, वे आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं; तथापि रागद्वेषादि भाव करनेवाले आत्मा को राग-द्वेषादि भावों का बन्धन होने से और उन भावों में कर्मपुद्गल निमित्त होने से व्यवहार से ऐसा अवश्य कहा जा सकता है कि इस आत्मा को कर्मपुद्गलों का बन्धन है।”

जिस व्यवहार से आत्मा पर को जानता है; उसी व्यवहार से आत्मा का शरीर एवं कर्म से संबंध है।

अब इसके बाद आचार्य यह स्पष्ट करेंगे कि आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेषादि भी पर हैं; किन्तु इनका आत्मा के साथ बंध कहा जाता है। पुद्गल से तो आत्मा बंधा ही नहीं है। बंधने के लिए दो पदार्थ होने चाहिए; उनमें प्रथम तो जीव है एवं दूसरे शरीर/कर्मादि न होकर मोह-राग-द्वेषादि भाव हैं। ●

उन्नीसवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में समागत ज्ञेयज्ञानविभागाधिकार पर चर्चा चल रही है। प्रवचनसार गाथा १७३ में यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि मूर्त पुद्गल तो रूपादिगुणयुक्त होने से परस्पर बंधयोग्य स्पर्शों से बंधते हैं; परन्तु उससे विपरीत अमूर्त आत्मा पौद्गलिक कर्मों को कैसे बाँधता है ?

यदि यह कहें कि आत्मा पर से बंधा नहीं है, वह स्वयं से स्वयं ही बंधा है तो अपने में अपना बंध कैसे हो सकता है ? क्योंकि बंध के लिए कम से दो तो होना ही चाहिए।

इस प्रश्न के उत्तर के लिए गाथा १७५ की टीका द्रष्टव्य है -

“प्रथम तो यह आत्मा उपयोगमय है; क्योंकि यह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभासरूप है अर्थात् ज्ञान-दर्शन स्वरूप है।

उसमें जो आत्मा विविधाकार प्रतिभासित होनेवाले पदार्थों को प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष करता है; वह आत्मा - काला, पीला और लाल आश्रय जिनका निमित्त है ऐसे कालेपन, पीलेपन और लालपन के द्वारा उपरक्त स्वभाववाले स्फटिकमणि की भाँति - पर जिनका निमित्त है ऐसे मोह, राग और द्वेष के द्वारा उपरक्त विकारी, मलिन, कलुषित आत्मस्वभाववाला होने से, स्वयं अकेला ही बंधरूप है; क्योंकि मोह-राग-द्वेषादि भाव उसका द्वितीय है।”

इस टीका में यह कहा गया है कि प्रत्येक आत्मा उपयोगमय है। उपयोग सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से दो प्रकार का है। दर्शनोपयोग को निर्विकल्प उपयोग कहते हैं और ज्ञानोपयोग को सविकल्प उपयोग कहते हैं। इसप्रकार ज्ञान का स्वरूप ही विकल्पात्मक है तथा जो स्वरूप होता है, उसका कभी निषेध नहीं होता है। अतः जब हम निर्विकल्प

अनुभूति की बात करते हैं; तब ज्ञानात्मक विकल्पों का निषेध नहीं होता, रागात्मक विकल्पों का ही निषेध होता है। ज्ञान का स्वरूप विकल्पात्मक है; अतः वह तो आत्मा में सदा रहेगा ही।

बन्ध तो दो के बीच होता है, अकेला आत्मा बंधस्वरूप कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस टीका में इसप्रकार दिया है कि आत्मा को बंधने के लिए कोई दूसरा चाहिए तो वह दूसरा मोह-राग-द्वेषरूप भाव है। इसप्रकार मोह-राग-द्वेषादि भाव के द्वारा मलिन स्वभाववाला आत्मा स्वयं ही भावबंध है।

यह बात समझाने के लिए टीका में स्फटिक मणि का उदाहरण दिया है कि जिसप्रकार स्फटिक मणि में जिस रंग की डाँक लग जाय, वह उसी रंग का हो जाता है।

ध्यान रहे वह स्फटिकमणि उस डाँक की वजह से रंगीन नहीं हुआ; अपितु स्फटिकमणि का ही ऐसा स्वभाव है कि उसमें जिस रंग की डाँक लगे, वह उसीरूप हो जाता है। तात्पर्य यह है कि स्फटिकमणि में डाँक ने कुछ कर दिया - ऐसा नहीं समझना।

उसीप्रकार आत्मा में परपदार्थ झलकते हैं और उन परपदार्थों के लक्ष्य से राग-द्वेष होता है और उन राग-द्वेष में पुराने कर्मों का उदय भी निमित्त है और परपदार्थ भी निमित्त हैं। अन्तरंग निमित्त तो पुराने कर्मों का उदय है और बाह्य निमित्त परपदार्थ हैं।

अरे भाई। संसारावस्था में अज्ञानदशा में जीव का मोह-राग-द्वेष करने का स्वभाव है, जिसे वैभाविक शक्ति कहते हैं। वैभाविक शक्ति के कारण जीव मोह-राग-द्वेषरूप परिणमता है।

महिला की संगमरमर की नग्न मूर्ति को देखकर किसी व्यक्ति को मोह-राग-द्वेष होता है और किसी अन्य व्यक्ति को नहीं होता है; इससे सिद्ध होता है कि उस मूर्ति ने कुछ नहीं किया। उदाहरण में अजीव संगमरमर की मूर्ति की बात इसलिए की; क्योंकि यदि चेतन स्त्री हो, तो

वह लुभाने की कोशिश सक्रियता से कर सकती है; लेकिन मूर्ति तो कुछ भी नहीं करती।

अब, यदि संगमरमर की मूर्ति कुछ करती होती तो प्रत्येक देखनेवाले व्यक्ति को मोह-राग-द्वेष उत्पन्न होना चाहिए; लेकिन ऐसा नहीं होता है। इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि हमारे ही अंदर ऐसी कोई योग्यता है; जिसके कारण मोह-राग-द्वेष होता है।

अब समस्या यह है कि लोग कहते हैं कि यदि परपदार्थ जानने में नहीं आते, तो मोह-राग-द्वेष नहीं होता। इसप्रकार वे लोग जानने पर ही पूरा दोष मढ़ देते हैं।

अरे भाई! इससे अच्छे तो हम पहले ही थे; क्योंकि पहले हम जड़ कर्म को मोह-राग-द्वेष का कारण कहते थे और अब अपने स्वभाव अर्थात् जानने को ही मोह-राग-द्वेष का कारण मान रहे हैं। पहले हम कहते थे कि पर को हटाओ; किन्तु अब हम कहने लगे कि पर को जानो ही मत।

अन्य दर्शनवाले कहते हैं कि ईश्वर जगत का कर्ता है और यदि जैनी कहें कि कर्म कर्ता है तो मैं कहना चाहता हूँ कि यदि पर को ही कर्ता मानना था तो जड़ेश्वर कर्म की अपेक्षा चेतन ईश्वर को ही कर्ता मान लेते। कर्म को कर्ता कहकर परद्रव्य को तो कर्ता मान ही लिया है। अरे भाई। परद्रव्य हमारा कर्ता-धर्ता नहीं है। हमारे सुख-दुःख के जिम्मेदार हम स्वयं ही हैं।

अरे भाई! पदार्थों का स्वभाव ज्ञेयत्व है, प्रमेयत्व है। अतः उन पदार्थों को किसी न किसी ज्ञान का विषय बनने से कौन रोक सकता है? आत्मा का स्वभाव जानना है, इसलिए आत्मा को ज्ञेयों को जानने से भी कौन रोक सकता है। ऐसा भी नहीं है कि पर-पदार्थों को समीप जाकर जानेगे, तभी वे जानने में आएंगे; क्योंकि ज्ञान का स्वभाव दूर से ही ज्ञेयों को जानने का है। केवली भगवान अलोकाकाश को जानते हैं तो दूर से ही तो जानते हैं।

अरे भाई! अलोकाकाश को तो हम भी जानते हैं; क्योंकि शास्त्रों से जानना भी तो जानना ही है। इसप्रकार परपदार्थ बंध का कारण नहीं हैं; अपितु उन पदार्थों को जानकर उनमें एकत्वबुद्धि करना बंध का कारण है।

इसप्रकार हमने जाना कि बंध होने में न तो परपदार्थों का दोष है और न ही आत्मा के जाननेरूप स्वभाव का; अपितु पर-पदार्थों को जानकर उनसे होनेवाले मोह-राग-द्वेष ही बंध के कारण हैं।

इसप्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि एक आत्मा है और दूसरे मोह-राग-द्वेषादि भाव - इन दो में बंध होता है। तात्पर्य यह है कि मोह-राग-द्वेषादि भावों के द्वारा मलिन स्वभाव वाला आत्मा स्वयं ही भावबंध है; क्योंकि षट्कारक एक ही द्रव्य में घटित होते हैं।

पंचास्तिकाय ग्रन्थ की ६२वीं गाथा में विकार के अभिन्न षट्कारक के माध्यम से भी यह बात स्पष्ट की गई है।

तदनन्तर भावबंध से द्रव्यबंध का स्वरूप कहनेवाली गाथा १७६ की टीका इसप्रकार है -

“यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभासस्वरूप अर्थात् ज्ञान-दर्शनस्वरूप होने से प्रतिभास्य (प्रतिभास होने योग्य) पदार्थ समूह को जिस मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भाव से देखता है और जानता है, उसी से उपरक्त होता है। वह उपराग (विकार) ही वास्तव में स्निग्ध-रूक्षत्वस्थानीय भावबंध है और उसी से पौद्गलिक कर्म बंधता है। इसप्रकार द्रव्यबंध का निमित्त भावबंध है।”

दो रेत के परमाणु आपस में नहीं बंधते हैं, दो तेल के परमाणु भी आपस में नहीं बंधते हैं; क्योंकि रेत के दोनों ही परमाणु रूक्ष हैं और तेल के दोनों ही परमाणु स्निग्ध हैं; किन्तु रेत और तेल के परमाणु आपस में बंध जाते हैं; क्योंकि उनमें कुछ परमाणु स्निग्ध और कुछ रूक्ष हैं।

जिसप्रकार स्त्री की शादी स्त्री से नहीं होती, पुरुष की शादी पुरुष से नहीं होती। तात्पर्य यह है कि स्त्री की शादी पुरुष से और पुरुष की शादी स्त्री से होती है; उसीप्रकार स्निग्ध परमाणुओं का बंध स्निग्ध से नहीं होता और रूक्ष का रूक्ष से नहीं होता; पर स्निग्ध और रूक्ष का परस्पर बंध होता है।

जिसप्रकार काम करने के लिए एक आदमी के पास पैसा है; पर काम करने की क्षमता नहीं है एवं दूसरे आदमी के पास काम करने की क्षमता है; पर पूँजी नहीं है; इसलिए वे दोनों भागीदार बन जाते हैं - एक काम करनेवाला भागीदार और दूसरा पूँजी लगानेवाला भागीदार। दो काम करने की क्षमता वाले भागीदार नहीं बन सकते, न दो पूँजी वाले भागीदार बन सकते हैं। उसीप्रकार स्निग्ध का स्निग्ध के साथ बंध नहीं होता एवं रूक्ष का रूक्ष के साथ बंध नहीं होता।

आगे आचार्य कहते हैं कि आत्मा और पुद्गल का जो बंध होता है, उसके लिए भी स्निग्धता और रूक्षता चाहिए। स्निग्धता और रूक्षता के बिना जब पुद्गल का पुद्गल से बंध नहीं होता; तब पुद्गल का जीव के साथ बंध कैसे हो ? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि जब आत्मा परपदार्थों को राग-द्वेष-मोह पूर्वक जानता है; तब बंध होता है।

पदार्थों को 'यह मैं हूँ' इसप्रकार जानने का नाम मोहपूर्वक जानना है, 'ये पदार्थ मेरे लिए सुखकर हैं' इसप्रकार जानने का नाम रागपूर्वक जानना है और 'ये पदार्थ मेरे को दुःखरूप हैं' इसप्रकार जानने का नाम द्वेषरूप जानना है। मात्र 'जानना' बंध का कारण नहीं है, मोह-राग-द्वेष पूर्वक जानना ही बंध का कारण है।

'ये मैं हूँ', 'ये मेरा है', 'ये मुझे अनुकूल हैं', 'ये मुझे प्रतिकूल हैं' - इसप्रकार जानना ज्ञान का स्वभाव नहीं है; यह तो मोह-राग-द्वेष का लक्षण है। मोह-राग-द्वेष पूर्वक जानना बंध का कारण है, इसमें 'जानना बंध का कारण है' इस बात पर जोर नहीं दिया जाना चाहिए।

टीका में तो प्रतिभास शब्द आया है। कुछ लोग कहते हैं कि प्रतिभास अलग है और जानना अलग है। परपदार्थ प्रतिभासित होते हैं और स्व को जाना जाता है; परन्तु वस्तुतः प्रतिभास और जानने में कुछ भी अन्तर नहीं है। अरे भाई ! ऐसा कुछ भी नहीं है।

केवलज्ञान में स्व और पर दोनों भासित होते हैं, ज्ञान को स्व-परावभासी कहा गया है। 'अवभासी' शब्द का प्रयोग स्व और पर दोनों के साथ किया गया है। चाहे ऐसा कहो कि पर प्रतिभासित होते हैं और स्व जानने में आते हैं और चाहे ऐसा कहो कि स्व प्रतिभासित होता है और पर जानने में आते हैं - एक ही बात है। इनमें कोई अंतर नहीं है।

'यह मेरे अनुकूल है', 'यह मेरे प्रतिकूल है' - ऐसा जो उपराग हुआ, वास्तव में वही स्निग्ध है और वही रूक्ष है। राग स्निग्ध है और द्वेष रूक्ष है - इसप्रकार से आत्मा में स्निग्धता और रूक्षता है और इसीकारण से आत्मा पुद्गलकर्म से बंधता है।

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्महिं रागरहिदप्पा ।

एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥१७९॥

(हरिगीत)

रागी बाँधे कर्म छूटे राग से जो रहित है।

यह बंध का संक्षेप है बस नियतनय का कथन यह ॥१७९॥

रागी आत्मा कर्म बाँधता है, रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है - यह जीवों के बंध का संक्षेप है; निश्चय से ऐसा जानो।

इस गाथा में स्पष्ट लिखा है कि रागी जीव कर्म को बाँधता है। यहाँ 'रागी' का तात्पर्य एकत्वबुद्धि पूर्वक राग करनेवाला है। मिथ्यात्व सहित राग अथवा एकत्वबुद्धिवाला राग मात्र राग नहीं है; अपितु अनन्तानुबंधी राग है।

इस गाथा में जो 'राग' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसमें मिथ्यात्व और द्वेष भी शामिल हैं; क्योंकि राग मात्र राग के लिए भी प्रयुक्त होता है और मोह-राग-द्वेष के प्रतिनिधि के रूप में भी प्रयुक्त होता है। जब हम भगवान को वीतरागी कहते हैं तो भगवान मात्र राग से ही रहित नहीं है; अपितु मोह और द्वेष से भी रहित हैं।

'रागी आत्मा कर्म बाँधता है, रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है' - यह जीवों के बंध का निश्चय से कथन है। 'पर से बंधता है' यह व्यवहार की बात है एवं 'अपने मोह-राग-द्वेष से बंधता है' यह निश्चयनय की बात है।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि 'पर को जानना बंध का कारण है' उनका यह कथन भी सही नहीं है। आध्यात्मियों में पहले यह बात चलती थी कि आत्मा पर को जानता ही नहीं है; लेकिन पर को जानने के अनेक आगम प्रमाण उपलब्ध होने से यह बात ज्यादा टिक नहीं पाई, तो वे ही लोग ऐसा कहने लगे कि पर को जानना बंध का कारण है।

अरे भाई! पर को जानना भी बंध का कारण नहीं है और पर को नहीं जानना भी बंध का कारण नहीं है। ज्ञानगुण तो बंध में कारण है ही नहीं।

अष्टसहस्री में यह कथन आता है -

'अज्ञानाच्चेद्ध्रुवो बंधो ज्ञेयानन्तान्न केवली ।'

अज्ञान से यदि बंध मानोगे तो हमेशा बंध होता रहेगा; क्योंकि ज्ञेय तो अनंत है और प्रत्येक आदमी केवलज्ञान होने से पहले केवली नहीं है, एवं सभी को औदयिक अज्ञान विद्यमान है।

इससे सिद्ध होता है कि नहीं जानना बंध का कारण नहीं है और जानना मोक्ष का कारण नहीं है। पर को निजरूप जानना बंध का कारण है और निज को निजरूप जानना, निजरूप मानना एवं निज में ही रमना मोक्ष का कारण है। मात्र जानना बंध का कारण नहीं है, पर को निजरूप जानना बंध का कारण है; क्योंकि जानना तो आत्मा का स्वभाव है।

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।

असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥१८०॥

(हरिगीत)

राग-रुष अर मोह ये परिणाम इनसे बंध हो ।

राग है शुभ-अशुभ किन्तु मोह-रुष तो अशुभ ही ॥१८०॥

परिणाम से बंध है, परिणाम राग-द्वेष-मोह युक्त हैं और उनमें से मोह और द्वेष अशुभ हैं, राग शुभ अथवा अशुभ होता है।

पूर्व गाथा में यह कहा था कि रागी जीव बंधता है और इस गाथा में आचार्यदेव यह बता रहे हैं कि राग में क्या-क्या गर्भित है। 'परिणाम से बंध होता है' का तात्पर्य यह है कि राग परिणाम से बंध होता है, स्वभाव बंध का कारण नहीं है। यदि स्वभाव पर दृष्टि रखी जाय, तो स्वभाव मोक्ष का कारण अवश्य है। स्वभाव पर दृष्टि रखने का तात्पर्य यह है कि 'यह मैं हूँ' - ऐसी मान्यता का होना।

इसके बाद गाथा में यह कहा है कि जो परिणाम मोह-राग-द्वेष से युक्त हैं, उन परिणामों से बंध होता है। यद्यपि जानना भी परिणाम है, परिणामन है; किन्तु जाननेवाले परिणामन से भी बंध नहीं होता और न ही नहीं जाननेवाले परिणामन से बंध होता है।

इस गाथा में यह कहा है कि मोह तथा द्वेष ये दोनों अशुभभावरूप हैं; क्योंकि मिथ्यात्व कभी शुभ नहीं होगा, अशुभ ही रहेगा एवं द्वेष भी कभी शुभ नहीं होगा, अशुभ ही रहेगा; लेकिन राग शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है।

इसप्रकार 'मोह-राग-द्वेष' इन तीन के समूह में ढाई तो अशुभ हैं और आधा शुभ है। मोह अशुभ है, द्वेष अशुभ है; लेकिन राग आधा शुभ है और आधा अशुभ है; क्योंकि गाथा में लिखा है कि राग शुभ अथवा अशुभ होता है।

सुहपरिणामो पुण्यं असुहो पावं ति भणिदमण्णेषु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥१८१॥
(हरिगीत)

पर के प्रति शुभभाव पुण पर अशुभ तो बस पाप है ।

पर दुःखक्षय का हेतु तो बस अनन्यगत परिणाम है ॥१८१॥

पर के प्रति शुभ परिणाम पुण्य हैं और अशुभ परिणाम पाप है -
ऐसा कहा है; और जो दूसरे के प्रति प्रवर्तमान नहीं है - ऐसा परिणाम
दुःख-क्षय का कारण है - ऐसा शास्त्रों में कहा गया है ।

इस गाथा में यह कहा है कि पर के प्रति शुभ परिणाम पुण्य बंध का
कारण है, पर के प्रति अशुभ भाव पाप बंध का कारण है और अपने
प्रति परिणाम मोक्ष का कारण है । यहाँ पर आचार्यदेव ने अपने प्रति
होनेवाले परिणाम में शुभ और अशुभ - ऐसा भेद नहीं किया है । अन्य
के आश्रय से नहीं, अपितु अपने आश्रय से जो परिणाम होता है, वह
परिणाम बंध का कारण नहीं; अपितु दुःख के क्षय का कारण है ।

अपने लक्ष्य से जो परिणाम होता है, वह परिणाम शुभ या अशुभ
नहीं होता है । 'मुझे अपनी आत्मा का कल्याण करना है' यह परिणाम
शुभ परिणाम है; क्योंकि यह आत्मा के लक्ष्य से नहीं है । जब आत्मा
ज्ञान का ज्ञेय बनता है अर्थात् 'यह मैं हूँ' ऐसी मान्यता होना, ऐसा ही
जानना और उसी में रमना - ऐसे परिणाम को आत्मा के लक्ष्य से हुआ
परिणाम कहा जाता है ।

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा ।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥१८२॥
(हरिगीत)

पृथ्वी आदि थावरा त्रस कहे जीव निकाय हैं ।

वे जीव से हैं अन्य एवं जीव उनसे अन्य है ॥१८२॥

अब स्थावर और त्रस ऐसे जो पृथ्वी आदि जीवनिकाय कहे गये हैं,
वे जीव से अन्य हैं और जीव भी उनसे अन्य हैं ।

इस गाथा में जीव की स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति की
सिद्धि के लिये स्व-पर का विभाग बताया है ।

वास्तव में कोई भी अपना नहीं है । पर को अपना या पराया कहना
राग-द्वेष का कारण है; इसलिए अज्ञान है । कहा भी है -

“मोहादि मेरे कुछ नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ।

रागादि मेरे कुछ नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ।

देहादि मेरे कुछ नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ।”

जैनदर्शन के अनुसार सारी दुनिया को दो भागों में बाँटा है । एक तो
स्व है और दूसरा पर है । आचार्य कहते हैं कि स्व में प्रवृत्ति करो और पर
से निवृत्ति करो ।

अन्य दर्शन में भी दुनियाँ को दो भागों में बाँटा जाता है । उनके यहाँ
एक ओर राम है और दूसरी ओर गाँव अर्थात् उनके यहाँ सारी दुनियाँ
को एक ओर रखा और राम को एक ओर रखा; लेकिन जैनदर्शन में
दुनियाँ को इसतरह दो भागों में नहीं बाँटा है । जैनदर्शन में एक तो स्वयं
आत्मराम है और दूसरे बाकी के अन्य सभी पदार्थ । अन्य दर्शन में जहाँ
भगवान को अपने में रखा जाता है; वहीं जैनदर्शन में अरहंत और सिद्ध
भगवान को भी पर में रखा जाता है । इस स्व-परभेद के ज्ञान के बिना
अपना कल्याण संभव नहीं है, इसलिये ज्ञानतत्वप्रज्ञापन महाधिकार के
ज्ञानज्ञेयाविभागाधिकार में स्व-पर के विभाग की चर्चा की है ।

अब, 'पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म क्यों नहीं है' - ऐसे सन्देह
को दूर करनेवाली १८५वीं गाथा इसप्रकार है -

गेण्हदि णेव ण मुंचदि क्खेदि ण हि पोग्गलाणि कम्मणि ।

जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेषु ॥१८५॥

(हरिगीत)

जीव पुद्गल मध्य रहते हुए पुद्गलकर्म को ।

जिनवर कहें सब काल में ना ग्रहे-छोड़े-परिणमे ॥१८५॥

जीव सभी कालों में पुद्गलों के मध्य में रहता हुआ भी पौद्गलिक कर्मों को वास्तव में न तो ग्रहण करता है, न छोड़ता है और न करता है।

जीव हमेशा पुद्गलों के मध्य में रहता है। जब जीव का देह के साथ संयोग रहता है; उस समय भी जीव पुद्गलों के बीच रहता है तथा जब जीव सिद्ध हो जाता है; उस समय भी जीव पुद्गलों के बीच में ही रहता है; क्योंकि लोकाकाश में पुद्गल ठसाठस भरे हैं; चाहे वे जीव से संबंधित हो या असंबंधित। जीव पुद्गलों के बीच में रहता हुआ भी पुद्गल कर्मों को न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है। पुद्गल का परिणामन पुद्गल में होता है और जीव का परिणामन जीव में होता है

जीव के परिणामन में पुद्गल कुछ भी नहीं करता है।

यदि आत्मा पुद्गलों को कर्मरूप परिणामित नहीं करता है तो फिर आत्मा किसप्रकार पुद्गल कर्मों के द्वारा ग्रहण किया जाता और छोड़ा जाता है ? इसका निरूपण करनेवाली गाथा १८६ इसप्रकार है -

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।

आदीयदे कदाइं विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥१८६॥

(हरिगीत)

भवदशा में रागादि को करता हुआ यह आतमा।

रे कर्मरज से कदाचित् यह ग्रहण होता छूटता ॥१८६॥

वह अभी (संसारावस्था में) द्रव्य से (आत्मद्रव्य में) उत्पन्न होनेवाले (अशुद्ध) स्वपरिणाम का कर्ता होता हुआ कर्मरज से ग्रहण किया जाता है और कदाचित् छोड़ा भी जाता है।

इस गाथा में यह कहा है कि आत्मा कर्म के निमित्त से रागरूप नहीं परिणामता तथा आत्मा अपने आत्मद्रव्य में उत्पन्न होनेवाले स्वपरिणामों का कर्ता है, रागादिक का कर्ता है; लेकिन कर्मों का कर्ता नहीं है।

इसप्रकार आत्मा में उत्पन्न होनेवाले राग परिणामों के कारण आत्मा स्वयं कर्म से बंधता है तथा आत्मा में होनेवाले वीतराग परिणामों

से स्वयं कर्मों से छूटता है। इसप्रकार मूलतः राग परिणाम ही बंध के कारण हैं।

इसीप्रकार का भाव बनारसीदासजी ने नाटक समयसार के बंधा-धिकार के इस छंद में प्रकट किया है -

कर्मजाल-वर्गना सौं जग मैं न बंधै जीव,

बंधै न कदापि मन-वच-काय-जोग सौं।

चेतन अचेतन की हिंसा सौं न बंधै जीव,

बंधै न अलख पंच-विषै-विष-रोग सौं ॥

कर्म सौं अबंध सिद्ध जोग सौं अबंध जिन,

हिंसा सौं अबंध साधु ग्याता विषै-भोग सौं।

इत्यादिक वस्तु के मिलाप सौं न बंधै जीव,

बंधै एक रागादि असुद्ध-उपयोग सौं ॥

इसी संबंध में गाथा १८६ का भावार्थ भी द्रष्टव्य है -

“अभी संसारावस्था में जीव पौद्गलिक कर्म परिणाम को निमित्तमात्र करके अपने अशुद्ध परिणाम का ही कर्ता होता है, परद्रव्य का कर्ता नहीं होता।

इसीप्रकार जीव अपने अशुद्ध परिणाम का कर्ता होने पर जीव के उसी अशुद्ध परिणाम को निमित्तमात्र करके कर्मरूप परिणामित होती हुई पुद्गलरज विशेष अवगाहरूप से जीव को ग्रहण करती है और कभी स्थिति के अनुसार रहकर अथवा जीव के शुद्ध परिणाम को निमित्तमात्र करके छोड़ती है।”

तदनन्तर ‘पुद्गल कर्मों की विचित्रता (ज्ञानावरण, दर्शनावरणादिरूप अनेक प्रकारता) को कौन करता है ?’ इसका निरूपण करनेवाली गाथा १८७ की टीका इसप्रकार है -

“जैसे नये मेघजल के भूमिसंयोगरूप परिणाम के समय अन्य पुद्गलपरिणाम स्वयमेव वैचित्र्य को प्राप्त होते हैं; उसीप्रकार आत्मा के

शुभाशुभ परिणाम के समय कर्मपुद्गल परिणाम वास्तव में स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं।

वह इसप्रकार है कि जब नया मेघजल भूमिसंयोगरूप परिणमित होता है तब अन्य पुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त हरियाली, कुकुरमुत्ता (छत्ता) और इन्द्रगोप (चातुर्मास में उत्पन्न लाल कीड़ा) आदिरूप परिणमित होता है; इसीप्रकार जब यह आत्मा रागद्वेष के वशीभूत होता हुआ शुभाशुभ भावरूप परिणमित होता है, तब अन्य, योगद्वारों से प्रविष्ट होते हुए कर्मपुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप परिणमित होते हैं।”

इसी बात को समझाने के लिए टीका में यह उदाहरण दिया है कि जब नये मेघों का जल भूमि से संयोग में आता है; तब अजीव बीज फलने-फूलने लगते हैं, घास उग आती है, कड़वे-मीठे-कषायले-चरपरे रसवाले सभी प्रकार के पेड़-पौधे उगने लगते हैं।

उन बीजों को किसी ने कुछ भी नहीं किया है, आठ महीने से वे वैसे ही पड़े थे; किन्तु नये मेघजल का संयोग मिलते ही वे पुद्गल स्वयमेव वैचित्र्य को प्राप्त होते हैं। ठीक उसीप्रकार आत्मा के शुभाशुभ परिणामों के समय कर्मपुद्गल परिणाम स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं।

मैंने यह भी देखा है कि जबतक तालाब में पानी भरा रहता है, तबतक मेढक टरति रहते हैं; लेकिन जब धीरे-धीरे पानी सूख जाता है तो वे उसी मिट्टी में दब जाते हैं तथा आठ महीने मिट्टी में वैसे ही दबे रहते हैं। वे जिन्दा रहते हैं या मर जाते हैं - इस संबंध में तो मुझे ज्यादा जानकारी नहीं है; लेकिन जब पहली बरसात होती है, तो तालाब भरते ही मेढकों की टर्-टर् की आवाज आने लगती है।

अब यदि वे मेढक पैदा हुए हैं, तो उन्हें पैदा होने में कुछ समय तो लगना ही चाहिए; लेकिन वे पानी बरसने के घंटे-दो घंटे बाद ही बोलने लगते हैं। इसमें या तो यह हो सकता है कि वे आठ महीने से दबे रहने के

बाद भी जिन्दा रहे हों और पानी मिलते ही बाहर आकर टरनि लगे हो। अथवा यह हो सकता है कि वे उस समय मर गए हो और उनके शरीर सुरक्षित रहे हों तथा बरसात होते ही उनमें नये जीव आ गए हों और वे टरनि लगे हों। कुछ भी हो मैं तो यहाँ यह बताना चाहता हूँ कि यह सब परिवर्तन नये मेघजल के संयोग से स्वयं होता है।

जिसप्रकार नये मेघजल से यह परिवर्तन स्वयं ही होते हैं; उसीप्रकार आत्मा के शुभाशुभ परिणाम के समय कर्मपुद्गल परिणाम स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं।

यहाँ आचार्यदेव यह स्पष्ट कर रहे हैं कि यदि कोई मोह-राग-द्वेष के भाव करेगा तो कार्माण वर्गणाँ ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित होकर उसके साथ एकक्षेत्रावगाह हो ही जाएगी। जो भी कर्मों का बंध होता है; वह मोह-राग-द्वेष के कारण होता है। कर्मों का बंध न तो पर को जानने के कारण होता है और न ही पर के कारण होता है।

इसके बाद गाथा १८८ देखिए -

सपदेशो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं।

कम्मरएहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥१८८॥

(हरिगीत)

सप्रदेशी आत्मा रुस-राग-मोह कषाययुत।

हो कर्मरज से लिप्त यह ही बंध है जिनवर कहा ॥१८८॥

प्रदेश युक्त वह आत्मा यथाकाल मोह-राग-द्वेष के द्वारा कषायित होने से कर्मरज से लिप्त या बद्ध होता हुआ 'बंध' कहा गया है।

इस गाथा का अर्थ करते हुए टीका में लिखा है कि जिसप्रकार जगत में वस्त्र सप्रदेश होने से लोथ, फिटकरी आदि से कषायित होता है; जिससे वह मजीठादि के रंग से संबद्ध होता हुआ अकेला ही रंगा हुआ देखा जाता है; इसीप्रकार आत्मा भी सप्रदेश होने से यथाकाल मोह-राग-द्वेष के द्वारा कषायित होने से कर्मरज के द्वारा श्लिष्ट होता हुआ

अकेला ही बंध है; ऐसा देखना (मानना) चाहिये; क्योंकि निश्चय का विषय शुद्ध द्रव्य है।

देखो, यहाँ अकेले आत्मा को बंधरूप कहा है और इस गाथा के बाद वह गाथा आती है कि जिसकी टीका में यह लिखा है कि मोह-राग-द्वेषरूप परिणमन आत्मा का है और इन मोह-राग-द्वेष का कर्ता भी भगवान आत्मा है।

ध्यान देने की बात यह है कि सर्वत्र तो मोह-राग-द्वेष का कर्ता आत्मा को अशुद्धनिश्चयनय से कहा है और यहाँ इस गाथा की टीका में शुद्धनिश्चयनय से कहा है। मैंने आजतक जितनी भी जिनवाणी देखी है, उनमें मुझे यह एक ही प्रयोग मिला है; जिसमें मोह-राग-द्वेष का कर्ता आत्मा को शुद्धनिश्चयनय से कहा है।

वह गाथा इसप्रकार है -

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्धिद्वो ।

अरहंतेहिं जदीणं व्यवहारो अण्णहा भणिदो ॥१८९॥

(हरिगीत)

यह बंध का संक्षेप जिनवरदेव ने यतिवृन्द से।

नियतनय से कहा है व्यवहार इससे अन्य है ॥१८९॥

यह जीवों के बंध का संक्षेप निश्चय से अरिहंत भगवान ने यतियों से कहा है और व्यवहार अन्य प्रकार से कहा है।

इस गाथा की जिस टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा को राग-द्वेष का कर्ता शुद्धनिश्चयनय से कहा है, उस टीका का भाव इसप्रकार है-

“राग परिणाम ही आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है। आत्मा राग परिणाम का ही कर्ता है, उसका ही ग्रहण करने वाला है और उसी का त्याग करनेवाला है; यह, शुद्धद्रव्य का निरूपणस्वरूप निश्चयनय है।

और जो पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप

द्वैत है, आत्मा पुद्गल परिणाम का कर्ता है, उसका ग्रहण करनेवाला और छोड़नेवाला है - ऐसा जो नय वह अशुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप व्यवहारनय है।

यह दोनों (नय) हैं; क्योंकि शुद्धरूप और अशुद्धरूप - दोनों प्रकार से द्रव्य की प्रतीति की जाती है; किन्तु यहाँ निश्चयनय साधकतम (उत्कृष्ट साधक) होने से ग्रहण किया जाता है; क्योंकि साध्य के शुद्ध होने से द्रव्य के शुद्धत्व का द्योतक (प्रकाशक) होने से निश्चयनय ही साधकतम है; किन्तु अशुद्धत्व का द्योतक व्यवहारनय साधकतम नहीं है।”

‘शुद्धद्रव्य का निरूपण निश्चयनय है’ यहाँ शुद्धनिश्चयनय से इसलिए कहा है; क्योंकि शुद्धद्रव्य अर्थात् पर का नहीं है अर्थात् पर से इसमें कुछ गड़बड़ी नहीं होती। पर का संयोग नहीं है, यही इस शुद्धद्रव्य की शुद्धता है, इसलिए शुद्धद्रव्य का निरूपण निश्चयनय है।

टीका में जो यह कहा है कि ‘यह दोनों नय हैं’ इसका तात्पर्य यह है कि इन दोनों प्रकार के नयों की सत्ता है। इसप्रकार इस गाथा में रागादिक का कर्ता भगवान आत्मा को शुद्धनिश्चयनय से कहा है और द्रव्यकर्म का कर्ता अशुद्धनिश्चयरूप व्यवहारनय से कहा है।

अरे भाई ! ‘यह प्रवचनसार में ही लिखा है’ - ऐसा नहीं है। समयसार में भी अशुद्धनिश्चयनय से ही सही पर रागादि का कर्ता आत्मा को बताया है। लिखा है - ‘यः परिणमति स कर्ता’ अर्थात् जो जिसरूप परिणमित होता है, वह उस परिणमन का कर्ता होता है। आत्मा रागरूप परिणमित होता है तो आत्मा राग का कर्ता है। सम्यग्दृष्टि को रागरूप परिणमन है; लेकिन राग में कर्तृत्वबुद्धि नहीं है तथा उस राग में कर्तृत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि नहीं होने से समयसार में अकर्ता भी कहा है।

इसप्रकार यह परमागम की एक ही ऐसी गाथा है, जिसमें मोह-राग-द्वेष का कर्ता आत्मा को शुद्धनिश्चयनय से कहा है। ●

बीसवाँ प्रवचन

आचार्य कुन्दकुन्द की अमरकृति प्रवचनसार परमागम के ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन महाधिकार के ज्ञेयज्ञानविभागाधिकार पर चर्चा चल रही है, जिसमें गाथा १८९ की चर्चा आचार्य अमृतचन्द्र की टीका सहित हो चुकी है।

आचार्य अमृतचन्द्र के ३०० वर्ष बाद जब आचार्य जयसेन का इस बात पर ध्यान केन्द्रित हुआ; तब उन्होंने स्पष्ट किया है कि ऐसा उपचार से कह दिया है। 'उपचार से शुद्धनिश्चयनय कह दिया है' का तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय से शुद्धनिश्चयनय कह दिया है, अन्यथा उपचार तो निश्चयनय में लगता ही नहीं है। उपचरित-सद्भूतव्यवहार नय, उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय - ऐसे उपचार तो व्यवहारनय में ही लगते हैं, निश्चयनय में नहीं।

'आत्मा रागादि का कर्ता शुद्धनिश्चयनय से है' इसका विश्लेषण अच्छी तरह से किया जा चुका है। तदनन्तर 'अशुद्धनय से अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है' - ऐसा कथन करनेवाली गाथा १९० इसप्रकार है -

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु।

सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं ॥१९०॥

(हरिगीत)

तन-धनादिमें 'मैं हूँ यह' अथवा 'ये मेरे हैं' सही।

ममता न छोड़े वह श्रमण उनमार्गी जिनवर कहें ॥१९०॥

जो देह-धनादिक में 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' ऐसी ममता को नहीं छोड़ता, वह श्रमणता को छोड़कर उन्मार्ग का आश्रय लेता है।

इस गाथा में निहित सरल भाव यह है कि जो व्यक्ति धन सम्पत्ति में ममत्व नहीं छोड़ता है, वह श्रमण होकर भी उन्मार्ग में है अर्थात् सच्चे मार्ग में नहीं है।

यहाँ पर जो बातें ध्यान देने योग्य हैं, उसमें पहली तो यह है कि श्रमण के पास देह तो है; पर धन नहीं है; फिर भी धन के प्रति ममत्व कैसे हो जाता है ?

अरे भाई ! यह हो सकता है कि श्रमण को अपने धनादि से ममत्व नहीं हो; किन्तु संस्थादि के नाम पर या अन्य किसी रूप में उन्हें धनादि से ममत्व हो सकता है। इस चीज का नंगा नाच आजकल प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। यह भी संभव है कि इसी के थोड़े अंश आचार्य कुन्दकुन्द के समय रहे हों; इसीलिए गाथा में उन्हें धन के प्रति ममत्व छोड़ने का उल्लेख करना पड़ा।

इस गाथा के संबंध में दूसरी बात यह भी है कि इस गाथा में देह और धन के संबंध में लिखा; किन्तु राग-द्वेष-मोह के संबंध में नहीं लिखा।

अरे भाई ! गाथा में 'ममत्व' शब्द लिखकर ममत्व को भी छुड़ाया है। देह व धन जब अपने है ही नहीं, तब उन्हें छोड़ने और ग्रहण करने का मतलब ही क्या है? वास्तव में तो उन के प्रति जो मोह और राग है, उस मोह और राग को छोड़ना है।

आचार्य यहाँ यह कह रहे हैं कि यदि श्रमण होना है, तो ममत्व छोड़ना पड़ेगा और ममत्व छोड़ने का तात्पर्य ही मोह-राग-द्वेष छोड़ना है।

इस संदर्भ में इसी गाथा की टीका भी द्रष्टव्य है -

“जो आत्मा शुद्धद्रव्य के निरूपणरूप निश्चयनय से निरपेक्ष रहकर अशुद्धद्रव्य के निरूपणरूप व्यवहारनय से जिसे मोह उत्पन्न हुआ है और ऐसा वर्तता हुआ 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' इसप्रकार आत्मीयता से देह धनादिक परद्रव्य में ममत्व नहीं छोड़ता; वह आत्मा वास्तव में शुद्धात्मपरिणतिरूप श्रामण्यनामक मार्ग को दूर से छोड़कर अशुद्धात्म परिणतिरूप उन्मार्ग का ही आश्रय लेता है। इससे निश्चित होता है कि अशुद्धनय से अशुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है।”

यहाँ आत्मीयता का तात्पर्य अपनेपन की भावना है। 'यह मैं हूँ' इसप्रकार की अपनत्वबुद्धि का नाम ही आत्मीयता है। अपनेपन की

भावनारूप जो राग होता है, उसे भी दुनिया में ममत्व कहा जाता है। राग-द्वेष-मोह आदि अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा के कहे जाते हैं तथा अशुद्धनिश्चयनय से अशुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।

अरे भाई ! 'रागादिक जीव ने किये हैं' यदि इस कथन को अशुद्ध-निश्चयनय का कहेंगे, तब अशुद्धनिश्चयनय तो व्यवहार होता है एवं व्यवहार असत्यार्थ होता है; इसलिए वह जीव ऐसा मानेगा ही नहीं कि रागादि मैंने किये हैं, तथा वह रागादिक त्यागने की जिम्मेदारी भी महसूस नहीं करेगा; वह अपने अन्दर रागादिक होने की अपराधवृत्ति को स्वीकार ही नहीं करेगा। इसलिए आचार्य ने उन्हें शुद्धनिश्चयनय से कह दिया है।

'शुद्धनय से शुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है' - यह कथन करनेवाली अगली १९१वीं गाथा इसप्रकार है -

गाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को ।

इदि जो झायदि झाणे सो अप्पा णं हवदि झादा ॥१९१॥

(हरिगीत)

पर का नहीं ना मेरे पर मैं एक ही ज्ञानातमा ।

जो ध्यान में इस भाँति ध्यावे है वही शुद्धातमा ॥१९१॥

'मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं, मैं एक ज्ञान हूँ' - इसप्रकार जो ध्यान करता है, वह ध्याता ध्यानकाल में आत्मा होता है।

यदि कोई यह कहे कि जो देह-धनादिक को पर मानता है तथा निज शुद्धात्मा को अपना मानकर उसका ध्यान करता है, वही शुद्धात्मा का ध्याता है - ऐसा कहकर आचार्यदेव ने यहाँ रागादिक की बात नहीं की। अरे भाई ! 'देह-धनादिक के प्रति ममत्व छोड़ता है' यह कहकर ममत्व छोड़ने की बात कही है, ममत्व रखने की बात नहीं कही है।

स्त्री-पुत्र-धन तो जीव के नहीं हैं; क्योंकि ये असद्भूत हैं। स्त्री-पुत्रादि तो कभी जीव के हुए ही नहीं हैं, मिथ्यात्व की वजह से जीव उन्हें अपना मानता है। यदि मिथ्यात्व और राग छूट जाएगा, तो स्त्री-पुत्रादि अपने आप ही छूट जाएंगे। वास्तव में उनको नहीं छोड़ना है,

अपितु उन्हें अपना मानना छोड़ना है तथा यह भी करना है कि जो राग अपनी पर्याय में पैदा हो रहा है, वह पैदा न हो।

'स्त्री-पुत्रादिक में एकत्व-ममत्व छोड़ना है' इससे यह भी सिद्ध होता है कि एकत्व-ममत्व भी छोड़ना है। अरे भाई ! यहाँ छोड़ने की बात तो एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व की ही है। पर का कर्ता तो आत्मा कभी हुआ ही नहीं है, आत्मा रागादि का कर्ता है; इसलिए वास्तव में रागादिक ही छोड़ना है, स्त्री-पुत्रादिक का छोड़ना तो औपचारिक है।

एक आदमी को किसी दूसरे आदमी से १ लाख रुपए लेने थे; लेकिन देनेवाले की स्थिति अत्यंत खराब हो गई और वह देने में असमर्थ हो गया। लेनेवाले आदमी ने बहुत दबाव डाला; फिर भी पैसे नहीं मिले, तो उसने पंचायत बुलाई। अंत में कर्जदार आदमी उससे कहता है कि मेरे पास सिर्फ दस हजार रुपए हैं, यदि आप ये लेना चाहो तो ले लो; इससे ज्यादा पैसे मेरे पास हैं ही नहीं। पर ध्यान रखने की बात यह है कि यदि आप ये भी ले लो तो मेरे बाल-बच्चें भूखों मर जाएंगे। आप मान नहीं रहे हो एवं मेरी जान पे पड़ गई है, इसलिए जान छुड़ाने के लिए ये देने को तैयार हूँ।

अब यदि वह लेनेवाला आदमी यह कहता है कि मैंने तुम्हारे १० हजार छोड़े और ये १० हजार रुपए मुझे दे दो। फिर भी यदि वह १० हजार रुपए ले लेता है, तब मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या वास्तव में उसने १० हजार रुपए छोड़े हैं? अरे भाई ! १० हजार रुपए तो उसे किसी कीमत पर मिलनेवाले ही नहीं हैं; उन १० हजार को छोड़ने की बात ही क्या ?

यदि वह १० हजार रुपए छोड़ता है तो हम कह सकते हैं कि उसने १० हजार रुपए छोड़े। यदि उस लेनेवाले को इतना भरोसा होता कि इस आदमी का कुछ सामान बेचकर १० हजार रुपए मिल सकते हैं, तो वह ऐसा भी प्रयास करता; किन्तु उसने जब यह देख लिया कि इसके पास कुछ भी नहीं है, तो वह १० हजार रुपए छोड़ने का दम्भ भरने लगता है।

उसीप्रकार जीव स्त्री-पुत्रादिक को क्या छोड़े ? वे तो पुण्य-पाप के साथ बंधे हुए हैं। यदि पुण्य-पाप का उदय है, तो वे जीव के साथ रहेंगे और यदि पुण्य-पाप नहीं रहेंगे तो एक क्षण में ही चले जाएंगे। इसलिए स्त्री-पुत्रादिक को नहीं छोड़ना है; अपितु उनके प्रति ममत्व छोड़ना है, राग छोड़ना है।

अब यदि कोई कहे कि जैसे स्त्री-पुत्रादिक जीव के नहीं हैं; वैसे ही ममत्व भी जीव का नहीं है।

अरे भाई ! अध्यात्म के जोर में हम लोग ऐसा ही कह देते हैं; किन्तु राग और आत्मा में व मकान और आत्मा में एक-सा अंतर नहीं है। प्रवचनसार ग्रंथ में कहा जाय तो राग का जीव के साथ अतद्भाव नाम का अभाव है और मकान के साथ आत्मा का अत्यन्ताभाव नाम का अभाव है। हमने इन दोनों में अंतर नहीं समझा।

पर को छोड़ना और ग्रहण करना तो नाममात्र का ग्रहण करना और छोड़ना है; क्योंकि आत्मा के पर का ग्रहण और त्याग होता ही नहीं; उन्हें तो मात्र अपना मानना छोड़ना है; राग-द्वेष-मोह तो वास्तव में छोड़ना है; क्योंकि वे आत्मा में अतद्भावरूप से विद्यमान हैं। पर तो आत्मा के हैं ही नहीं; इसलिए पर को अशुद्धद्रव्य कहकर अशुद्धनय का विषय कहा तथा इसी कथन की अपेक्षा राग को शुद्धनिश्चयनय का विषय कहा।

तदनन्तर इसी संदर्भ में गाथा १९१ की टीका भी द्रष्टव्य है -

“जो आत्मा, मात्र अपने विषय में प्रवर्तमान अशुद्धद्रव्य निरूपणा-त्मक (अशुद्धद्रव्य के निरूपण स्वरूप) व्यवहारनय में अविरोधरूप से मध्यस्थ रहकर, शुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चयनय के द्वारा जिसने मोह को दूर किया है - ऐसा होता हुआ, “मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं” इसप्रकार स्व-पर के परस्पर स्व-स्वामी सम्बन्ध को छोड़कर, ‘शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ’ इसप्रकार अनात्मा को छोड़कर, आत्मा को ही आत्मरूप से ग्रहण करके, परद्रव्य से भिन्नत्व के कारण आत्मरूप ही एक अग्र में चिन्ता को रोकता है, वह एकाग्रचिन्तानिरोधक (एक विषय

में विचार को रोकनेवाला आत्मा) उस एकाग्रचिन्ता निरोध के समय वास्तव में शुद्धात्मा होता है। इससे निश्चित होता है कि शुद्धनय से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।”

टीका में पंक्ति में जो यह लिखा है कि ‘वास्तव में शुद्धात्मा होता है’, तो इससे अर्थ यह निकलता है कि पहले वास्तव में शुद्धात्मा नहीं था। अरे भाई! ऐसा नहीं है। यह ‘वास्तव’ शब्द संस्कृत के ‘साक्षात्’ शब्द का हिन्दी अनुवाद है। नयों में एक साक्षात्शुद्धनिश्चयनय है, उसका अर्थ यह है केवलज्ञानादि से सहित आत्मा को विषय बनाना। ‘साक्षात्’ शब्द का प्रयोग पर्याय से भी शुद्ध हो जाने के लिए होता है। वास्तव में अभी आत्मा स्वभाव से शुद्ध है और बाद में पर्याय से शुद्ध होगा। आचार्यदेव पर्याय से भी शुद्ध होने को साक्षात् शुद्ध होना कहते हैं। इससे हमें यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि अभी आत्मा स्वभाव से शुद्ध है। यहाँ ‘वास्तव में शुद्धात्मा होता है’ का तात्पर्य मात्र इतना है कि पर्याय में भी स्वभाव की तरह शुद्धता प्रकट होती है।

अब, ‘ध्रुवत्व के कारण शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य है’ ऐसा उपदेश करनेवाली गाथा १९२ इसप्रकार है -

एवं गाणप्पाणं दंसणभूदं अदिदियमहत्थं ।

ध्रुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१९२॥

(हरिगीत)

इसतरह मैं आत्मा को ज्ञानमय दर्शनमयी।

ध्रुव अचल अवलंबन रहित इन्द्रियरहित शुद्ध मानता ॥१९२॥

मैं आत्मा को इसप्रकार ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महापदार्थ, ध्रुव, अचल, निरालम्ब और शुद्ध मानता हूँ।

गाथा में आत्मा के लिए ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय, महा-पदार्थ, ध्रुव, अचल, निरालम्ब और शुद्ध - इन विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

शास्त्रों में अधिकांश जगह ऐसे कथन आते हैं, जिनमें हम द्रव्य (आत्मा) और पर्याय के विशेषणों में भेद नहीं कर पाते हैं। यदि पर्याय

शुद्ध है तो वह पर्याय ऐसा मानती है कि 'मैं शुद्ध हूँ'। वहाँ पर 'मैं' तो पर्याय है और अहं त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में होता है। जब भी आत्मा के विशेषण का कथन होता है, तब उन आत्मा के विशेषणों के लिए पर्याय ऐसा कहती है कि 'ये मैं हूँ'। वास्तव में वे विशेषण आत्मा के हैं; क्योंकि पर्याय का स्वर ऐसा होता है कि मैं शुद्धात्मा हूँ, मैं एक हूँ, मैं निर्मम हूँ, ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ।

जैसा कि समयसार की ७३वीं गाथा के पूर्वार्द्ध में भी कहा है -

'अहमेक्रो खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।' अर्थात् 'ज्ञानी विचारता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम हूँ और ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ।'

द्रव्य तो अकर्ता और अभोक्ता है ही; पर्याय का भी यही स्वर है कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम हूँ और ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ।

ये सभी विशेषण द्रव्य के हैं, पर्याय के नहीं। हमें हमेशा यह विवेक रखना पड़ेगा कि पर्याय का अहं उस द्रव्य में होने से ये विशेषण पर्याय में लगा देते हैं; किन्तु वास्तव में तो ये विशेषण द्रव्य के हैं।

यही समस्या लक्षण और लक्ष्य में भी है। आत्मा का लक्षण तो उपयोग है एवं लक्ष्य है उपयोगात्मा अर्थात् उपयोगस्वरूप आत्मा। शास्त्रों में कभी-कभी लक्ष्य को भी उपयोग कह देते हैं और कभी-कभी लक्षण को भी उपयोग कह देते हैं।

लक्षण से ही वह लक्ष्य लक्षित होता है; अतः जब भी आत्मा के विशेषण कहे जाते हैं; तब हम उन्हें उपयोग नामक पर्याय के विशेषण समझ लेते हैं; जबकि वे विशेषण हैं त्रिकाली ध्रुव आत्मा के।

इसके बाद १९२वीं गाथा की टीका में पथिक और छाया के उदाहरण द्वारा यह समझाया गया है कि जिसप्रकार अनेक वृक्षों की छाया थोड़े समय के लिए पथिक के संसर्ग में आती है; उसीप्रकार ये धनादिक अध्रुव पदार्थ भी पुण्य के संयोग से हमें थोड़े समय के लिए ही मिले हैं।

पहले के जमाने में जब लोग पैदल चलते थे, उस समय सड़क के दोनों ओर वृक्ष लगाए जाते थे। उन वृक्षों को लगाने के दो उद्देश्य होते थे। प्रथम उद्देश्य तो सड़क की सुरक्षा का है। सड़क की सुरक्षा का उद्देश्य इसप्रकार है - बरसात में पानी बहने से सड़क कट जाती है। यदि सड़क के किनारे पर दोनों ओर वृक्ष लगा दिए जाए, तो वृक्षों की जड़े फैल जाने से वे जड़ें सड़क की मिट्टी रोक लेती हैं; इसलिए सड़क सुरक्षित रहती थी।

दूसरा उद्देश्य पैदल चलनेवालों को छाया प्रदान करने का है; क्योंकि पुराने जमाने में लोग पैदल या बैलगाड़ी, घोड़े आदि पर चलते थे। उनको पूरे रास्ते भर धूप ही धूप न लगे अर्थात् थोड़ी धूप व थोड़ी छाया रहे; ताकि वे अपना रास्ता बिना थके पार कर सकें।

आचार्य अमृतचन्द्र के लिए यह उदाहरण अनुभूत प्रयोग था। वे नंगे पैर पैदल चलते थे तथा नंगे पैर चलनेवालों को धूप से गर्म जमीन और वृक्षों की छायावाली ठण्डी जमीन का बहुत अच्छा अनुभव होता है।

पूर्वोक्त उदाहरण में आचार्य अमृतचन्द्र यह कह रहे हैं कि यदि किसी व्यक्ति को अपने लक्ष्य पर जल्दी से जल्दी पहुँचना है तो वह छाया का लोभ नहीं करेगा। वह धूप में जिस तेजी से चलता था, उसी तेजी से छाया में भी चलेगा।

जिसप्रकार उन वृक्षों की वह छाया पथिक के साथ क्षणिक संयोग में आती है तथा वृक्षों के निकल जाने के बाद पथिक उसका विकल्प भी नहीं करता है। उसीप्रकार यह आत्मा तो अनादि-अनंत अपने रास्ते पर चल रहा है, उसके रास्ते में आनेवाले वे संयोग छाया के समान हैं अर्थात् स्त्री, पुत्र, मकान, जायदाद आदि सभी संयोग छाया के समान हैं।

जिसप्रकार उस पथिक के माथे पर पड़ने वाली छाया अगले समय बदल जाएगी; क्योंकि अगले पल अगले वृक्ष की छाया होगी। उसीप्रकार ये संयोग भी बदलते रहते हैं अर्थात् कोई भी संयोग पुनः प्राप्त नहीं होता।

यहाँ आचार्यदेव इस उदाहरण से यह स्पष्ट कर रहे हैं कि धनादि

संयोग से आत्मा को क्या लेना देना ? ये सभी संयोग तो पुण्य के उदय से प्राप्त हुए हैं, जो कि वृक्षों की छाया के समान क्षणभंगुर हैं।

अब, 'अध्रुवपने के कारण आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उपलब्ध करने योग्य नहीं है' ऐसा उपदेश देनेवाली गाथा १९३ इसप्रकार है-

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा ।

जीवस्स ण संति ध्रुवा ध्रुवोवओगप्पगो अप्पा ॥१९३॥

(हरिगीत)

अरि-मित्रजन धन्य-धान्य सुख-दुख देह कुछ भी ध्रुव नहीं।

इस जीव के ध्रुव एक ही उपयोगमय यह आत्मा ॥१९३॥

शरीर, धन, सुख-दुःख अथवा शत्रु-मित्रजन जीव के ये कुछ भी ध्रुव नहीं हैं; ध्रुव तो एक उपयोगात्मक आत्मा है।

मैं यहाँ प्रवचनसार की इस शैली पर विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि इस ग्रन्थ में बारम्बार शरीर, धनादिक को ही अध्रुव में गिनाया है, इन अध्रुव पदार्थों में राग-द्वेष की चर्चा तक नहीं की। राग-द्वेषादि को न तो ध्रुव आत्मा में ही लिया और न ही अध्रुव संयोगों में।

अरे भाई ! बात तो रागादिक छोड़ने की ही चल रही है। जिनसे हमें राग है - ऐसे स्त्री-पुत्र और धनादिक में एकत्व छोड़ने का तात्पर्य ही यही है कि इनसे राग छोड़ना है।

जिसप्रकार कोई बाप अपने बेटे को समझाता है कि बेटा ! 'वेश्या विष बुझी कटारी' अर्थात् वेश्या विष से बुझी हुई कटार है, बहुत स्वार्थी है, बर्बाद कर देगी, समाज में बदनाम कर देगी। बाप ने जो यह सब कहा, वेश्या की निन्दा की; वह वेश्या की निन्दा नहीं; अपितु बेटे के अन्दर वेश्या के प्रति जो राग है, आकर्षण है; उसकी ही निन्दा है। यह उपदेश वेश्या को छोड़ने का नहीं है; क्योंकि वेश्या तो पहले से ही छूटी हुई है। यह उपदेश तो वेश्या के प्रति राग छोड़ने का है। इसप्रकार भाषा तो होती है उस व्यक्ति को छोड़ने की और भाव होता है उनके प्रति राग छोड़ने का।

इसीप्रकार यहाँ पर आचार्यदेव ने देह, धनादिक के प्रति राग ही छुड़ाया है; क्योंकि ये देह, धनादि पदार्थ तो कभी जीव के हुए ही नहीं हैं। ये पदार्थ तो पुण्य के अस्त होने पर स्वतः ही छूट जाते हैं।

तदनन्तर 'शुद्धात्मा की उपलब्धि से क्या लाभ है ?' इस बात का निरूपण करनेवाली गाथायें प्राप्त होती हैं; जो इसप्रकार हैं -

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा ।

सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥१९४॥

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।

होजं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥१९५॥

(हरिगीत)

यह जान जो शुद्धात्मा ध्यावें सदा परमात्मा।

दुठ मोह की दुर्ग्रन्थि का भेदन करें वे आत्मा ॥१९४॥

मोहग्रन्थी राग-रुष तज सदा ही सुख-दुःख में।

समभाव होवह श्रमण ही बस अखयसुख धारण करें ॥१९५॥

जो ऐसा जानकर विशुद्धात्मा होता हुआ परम आत्मा का ध्यान करता है, वह - साकार हो या अनाकार - मोहदुर्ग्रन्थि का क्षय करता है।

जो मोहग्रन्थि को नष्ट करके, राग-द्वेष का क्षय करके, समसुख-दुःख होता हुआ श्रमणता (मुनित्व) में परिणमित होता है, वह अक्षय सुख को प्राप्त करता है।

इन गाथाओं में यह कहा गया है कि जो व्यक्ति स्वयं को 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ' ऐसा जानता है; वह व्यक्ति - चाहे साकार अर्थात् ज्ञान उपयोग वाला हो या अनाकार अर्थात् दर्शन उपयोग वाला हो अथवा चाहे मुनि हो या श्रावक हो - अपनी मोहरूपी गांठ को खोल देता है अथवा उसकी मोहरूपी गांठ खुल जाती है और जिसकी मोहग्रन्थि खुल जाती है, वह श्रमण राग-द्वेष का क्षय करके समताभाव को धारण करता हुआ अनंत सुख को प्राप्त करता है अर्थात् समस्त विकारों और दुखों से मुक्त हो जाता है।

मैं यहाँ इस बात की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि यह प्रकरण देह, धनादि से भिन्नता बतलानेवाला होने से स्थूल हो - ऐसा नहीं है। ऐसा भी नहीं समझना चाहिए कि प्रवचनसार में मात्र देह, धनादिक से भिन्नता बतलाई है, उसके बाद समयसार में रागादि से भिन्नता, केवलज्ञान से भिन्नता बताकर मोक्षमार्ग पूरा करेंगे।

अरे भाई! २००वीं गाथा तक पहुँचकर आचार्यदेव इसी प्रवचनसार ग्रन्थ में मोक्ष की बात बतलाएंगे। जिनकी स्त्री, पुत्र, देह से एकत्वबुद्धि छूटेगी, कर्तृत्वबुद्धि छूटेगी तो उनकी राग में एकत्वबुद्धि-कर्तृत्वबुद्धि भी छूटेगी ही।

राग जीव की पर्याय में होता है तथा 'यः परिणमति स कर्ता' के अनुसार जीव राग का कर्ता भी है; लेकिन जिसका देह, धनादिक में एकत्व छूट गया है; वह उस राग में ऐसी कर्तृत्वबुद्धि नहीं करेगा कि यह राग करने योग्य है। वह जीव यही समझेगा कि यह राग तो परद्रव्य के उदय की बलवत्ता से हुआ है अथवा वह यह समझेगा कि पर्यायगत योग्यता से हुआ है तथा पर्याय की कर्ता पर्याय है।

इसके बाद, आचार्यदेव ऐसा प्रश्न करते हैं कि जिनने शुद्धात्मा को उपलब्ध किया है ऐसे सकलज्ञानी (सर्वज्ञ) क्या ध्याते हैं ?

णिहदघणधादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।

णोयंतगदो समणो ज्ञादि कमट्टं असंदेहो॥१९७॥

(हरिगीत)

घन घातिकर्म विनाश कर प्रत्यक्ष जाने सभी को।

संदेहविरहित ज्ञेय ज्ञायक ध्यावते किस वस्तु को॥१९७॥

जिनने घनघातिकर्म का नाश किया है, जो सर्व पदार्थों के स्वरूप को प्रत्यक्ष जानते हैं और जो ज्ञेयों के पार को प्राप्त हैं, ऐसे संदेह रहित श्रमण किस पदार्थ को ध्याते हैं ?

इस गाथा का भाव यह है कि जो देह और धन से भिन्न अपने को

जानता है और अपनी आत्मा का ध्यान करता है, वह घातिया कर्मों का नाश कर देता है।

'मैं देह, धनादि नहीं हूँ तथा मैं इनका कर्ता भोक्ता नहीं हूँ' ऐसी मान्यता से मिथ्यात्व कर्म का नाश हुआ है और जब इन पदार्थों से राग छूटेगा तभी चारित्रमोहनीय कर्म का नाश होगा तथा जब दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय - इन दोनों का अभाव हो जाएगा, तब एक समय बाद निश्चितरूप से ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अंतराय कर्म का अभाव हो जाएगा तथा केवलज्ञान हो जाएगा।

इसप्रकार प्रवचनसार ग्रन्थ में कुन्दकुन्दाचार्य ने इसी शैली में मोक्ष तक पहुँचने की बात कह दी है।

इसके बाद, इसी गाथा की टीका इसप्रकार है -

“लोक को (१) मोह का सद्भाव होने से तथा (२) ज्ञानशक्ति के प्रतिबन्धक का सद्भाव होने से, वह तृष्णा सहित है तथा उसे पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं है; इसलिये अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ का ध्यान करता हुआ दिखाई देता है; परन्तु घनघातिकर्म का नाश किया जाने से मोह का अभाव होने के कारण तथा ज्ञानशक्ति के प्रतिबन्ध का अभाव होने से तृष्णा नष्ट की गई है तथा समस्त पदार्थों का स्वरूप प्रत्यक्ष है तथा ज्ञेयों का पार पा लिया है; इसलिये भगवान सर्वज्ञदेव अभिलाषा नहीं करते, जिज्ञासा नहीं करते और संदेह नहीं करते; तब फिर (उनके) अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ कहाँ से हो सकता है ? ऐसा है तब फिर वे क्या ध्याते हैं ?”

टीका में यह कहा गया है कि दुनिया के सारे लोग तीन तरह के पदार्थों का ध्यान करते हैं। वे तीन प्रकार के पदार्थ अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध हैं। अभिलषित पदार्थ वे हैं जिन्हें लोग चाहते हैं जैसे - स्त्री, पुत्र, धनादि। जिज्ञासित पदार्थ वे हैं, जिनको सिर्फ जानने की

इच्छा होती है; लेकिन प्राप्त करने की नहीं, जैसे - सुमेरुपर्वत चाहिए तो नहीं है, लेकिन देखना चाहते हैं; ताजमहल चाहिए तो नहीं है, लेकिन एक बार देखना है; अमेरिका में जाकर रहना तो नहीं है; लेकिन एकबार अमेरिका देखना जरूर है। इसप्रकार जिज्ञासित पदार्थ वे हैं, जिनको सिर्फ जानने की इच्छा है; संदिग्ध पदार्थ वे हैं, जिसमें संदेह हो कि पदार्थ इसप्रकार है, अन्यप्रकार।

इसप्रकार संसारी प्राणी इन तीनप्रकार के पदार्थों का ध्यान करते हैं तथा भगवान इन तीनों का ही ध्यान नहीं करते हैं, भगवान को अभिलाषा नहीं होने से वे अभिलषित पदार्थों का ध्यान नहीं करते हैं, सारा लोकालोक जानने में आ जाने से जिज्ञासा नहीं रहने के कारण जिज्ञासित पदार्थों का ध्यान नहीं करते हैं, किसी भी पदार्थ में संशय नहीं होने से संदिग्ध पदार्थों का ध्यान नहीं करते हैं। भगवान अपने सुखस्वरूप भगवान आत्मा का ही ध्यान करते हैं अथवा प्राप्त करने की अपेक्षा से सुख का ध्यान करते हैं अन्य किसी भी पदार्थ का ध्यान नहीं करते हैं।

पूर्वोक्त गाथा में आचार्य ने यह प्रश्न उपस्थित किया था कि 'जिनने घनघाति कर्म का नाश किया है, जो सर्व पदार्थों के स्वरूप को प्रत्यक्ष जानते हैं और जो ज्ञेयों के पार को प्राप्त हैं, ऐसे संदेह रहित श्रमण किस पदार्थ को ध्याते हैं?' और मुक्ति का मार्ग क्या है? - इसी प्रश्न के उत्तरस्वरूप गाथा १९८-१९९ हैं, जो इसप्रकार हैं -

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाण्ड्हो ।

भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं ॥१९८॥

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मगं समुट्टिदा समणा ।

जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ॥१९९॥

(हरिगीत)

अतीन्द्रिय जिन अनिन्द्रिय अर सर्व बाधा रहित हैं।

चहुँ ओर से सुख-ज्ञान से समृद्ध ध्यावे परमसुख ॥१९८॥

निर्वाण पाया इसी मग से श्रमण जिन

जि न द े व न े ।

निर्वाण अर निर्वाणमग को नमन बारंबार हो ॥१९९॥

अनिन्द्रिय और इन्द्रियातीत हुआ आत्मा सर्व बाधा रहित और सम्पूर्ण आत्मा में समंत (सर्वप्रकार के, परिपूर्ण) सौख्य तथा ज्ञान से समृद्ध वर्तता हुआ परम सौख्य का ध्यान करता है।

जिन, जिनेन्द्र और श्रमण को, (अर्थात् सामान्यकेवली, तीर्थकर और मुनि) जो कि इस (पूर्वोक्त ही) प्रकार से मार्ग में आरुढ़ होते हुए सिद्ध हुए हैं और उस निर्वाण मार्ग को नमस्कार हो।

'जिन' का तात्पर्य ऐसे भगवान हैं; जो कि अरहंत तीर्थकर हुए बिना मोक्ष गए हैं तथा 'जिनेन्द्र' अर्थात् तीर्थकर और श्रमण अर्थात् सामान्य केवली हैं। ये सभी पूर्वोक्त प्रकार मार्ग पर आरुढ़ होते हुए सिद्ध हुए हैं। यही मोक्ष जाने का रास्ता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि उस मोक्षमार्ग पर चलने की विधि क्या है? तथा उस पर कैसे चलना पड़ता है? - यह सब हम चरणानुयोग सूचक चूलिका में कहेंगे। इसप्रकार आचार्य ने अगले अधिकार की भूमिका भी कह दी। आचार्य स्पष्ट करते हैं कि हमने मोक्ष का मार्ग तो यहाँ बता दिया है तथा 'मोक्षमार्ग पर चलनेवाले क्या-क्या करेंगे?' इसका सारा वर्णन चरणानुयोगसूचक चूलिका में करेंगे।

इसी संबंध में इसी गाथा की टीका भी द्रष्टव्य है -

“सभी सामान्य चरमशरीरी, तीर्थकर और अचरमशरीरी मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षण विधि से प्रवर्तमान मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए; किन्तु ऐसा नहीं है कि किसी दूसरी विधि से भी सिद्ध हों।

इससे निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा नहीं। अधिक विस्तार से बस हो! उस शुद्धात्मतत्त्व में प्रवर्ते हुए

सिद्धों को तथा उस शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग को, जिसमें से भाव्य और भावक का विभाग अस्त हो गया है - ऐसा नोआगमभाव नमस्कार हो ! मोक्षमार्ग अवधारित किया है, कृत्य किया जा रहा है, अर्थात् मोक्षमार्ग निश्चित किया है और उसमें प्रवर्तन कर रहे हैं।”

टीका में यह कहा गया है कि इस मार्ग के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं है; केवल यही एक मोक्ष का मार्ग है। टीका में जो 'नोआगमभाव नमस्कार हो' कहा है उसका तात्पर्य यह है कि आचार्यदेव कहते हैं कि हम ऐसे ही नमस्कार नहीं कर रहे हैं, अपितु स्वयं उसी मार्ग पर चल रहे हैं। आचार्य २४ घंटे उन्हें नमस्कार कर रहे हैं; क्योंकि वे २४ घंटे उन्हीं के बताए मार्ग पर चल रहे हैं।

इसके बाद ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार की समापन की अंतिम गाथा इसप्रकार है -

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण ।

परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्हि ॥२००॥

(हरिगीत)

इसलिए इस विधि आत्मा ज्ञायकस्वभावी जानकर ।

निर्ममत्व में स्थित मैं सदा ही भाव ममता त्याग कर ॥२००॥

ऐसा होने से अर्थात् शुद्धात्मा में प्रवृत्ति के द्वारा ही मोक्ष होता होने से इसप्रकार आत्मा को स्वभाव से ज्ञायक जानकर मैं निर्ममत्व में स्थित रहता हुआ ममता का परित्याग करता हूँ।

इस गाथा की टीका का भाव इसप्रकार है -

“मैं यह मोक्षाधिकारी, ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व के परिज्ञानपूर्वक ममत्व की त्यागरूप और निर्ममत्व की ग्रहणरूप विधि के द्वारा सर्व आरम्भ से शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ; क्योंकि अन्य कृत्य का अभाव है।

प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ; केवल ज्ञायक होने से मेरा

विश्व समस्त पदार्थों के साथ ही सहज ज्ञेय-ज्ञायकलक्षण सम्बन्ध ही है; किन्तु अन्य स्वस्वामिलक्षणादि सम्बन्ध नहीं है; इसलिये मेरा किसी के प्रति ममत्व नहीं है, सर्वत्र निर्ममत्व ही है।

अब, एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का सद्भाव होने से, क्रमशः प्रवर्तमान, अनंत, भूत-वर्तमान भावी विचित्र पर्याय समूह वाले, अगाधस्वभाव और गम्भीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को मानों वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गए हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुए हों - इसप्रकार एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है, ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण संबंध की अनिवार्यता के कारण ज्ञेय-ज्ञायक को भिन्न करना अशक्य होने से विश्वरूपता को प्राप्त होने पर भी जो (शुद्धात्मा) सहज अनन्त शक्तिवाले ज्ञायकस्वभाव के द्वारा एकरूपता को नहीं छोड़ता, जो अनादि संसार से इसी स्थिति में (ज्ञायकभावरूप ही) रहा है और जो मोह के द्वारा दूसरे रूप में जाना-माना जाता है; उस शुद्धात्मा को यह मैं मोह को उखाड़ फेंककर, अतिनिष्कम्प रहता हुआ यथास्थित (जैसा का तैसा) ही प्राप्त करता हूँ।

इसप्रकार दर्शनविशुद्धि जिसका मूल है ऐसी, सम्यग्ज्ञान में उपयुक्तता के कारण अत्यन्त अव्याबाध (निर्विघ्न) लीनता होने से, साधु होने पर भी साक्षात् सिद्धभूत ऐसा यह निज आत्मा को तथा तथाभूत (सिद्धभूत) परमात्माओं को, उसी में एक परायणता जिसका लक्षण है ऐसा भाव नमस्कार सदा ही स्वयमेव हो।”

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि जब आत्मा को उपरोक्त प्रकार से माना; तब भाव नमस्कार स्वयमेव सदा ही रहा है। आचार्यदेव कहते हैं कि जब हमने नमस्कार किया, केवल तभी नमस्कार नहीं किया; अपितु जब हम नमस्कार नहीं करते हैं, तब भी हमारा नमस्कार है, हमारा नमस्कार निरन्तर ही रहा है।

तदुपरान्त इस गाथा के बाद जो इस अधिकार के अंत में कलश लिखे गए हैं, उनमें भी यही बात कही गई है।

इक्कीसवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकारों पर विस्तार से चर्चा हो चुकी है। इसके बाद चरणानुयोग सूचक चूलिका पर चर्चा करना है। इसी के अंत में परिशिष्ट के रूप में ४७ नयों का प्रकरण भी है।

यह चरणानुयोग सूचक चूलिका मन्दिर के शिखर और उस पर चढाये गये कलश के समान है। ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव के स्वरूप का निरूपणरूपी मंदिर तो बन चुका है; अब उस पर शिखर बनाना है और उसके भी ऊपर कलश चढाना है।

यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र इसे महाधिकार के रूप में स्वीकार नहीं करते; इसीकारण वे इसे चूलिका कहते हैं; पर आचार्य जयसेन इसे चारित्र महाधिकार कहते हैं।

जो कुछ भी हो; पर इसमें जो विषयवस्तु है; वह अपने आप में अत्यन्त उपयोगी और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

चरणानुयोग सूचक चूलिका की तत्त्वप्रदीपिका टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र मंगलाचरण के रूप में लिखते हैं कि -

(इन्द्रवज्रा)

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः, द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ ।

बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि, द्रव्याविरुद्धं चरणं चरंतु ॥१३॥

(दोहा)

द्रव्यसिद्धि से चरण अर चरण सिद्धि से द्रव्य ।

यह लखकर सब आचरो द्रव्यों से अविरुद्ध ॥१३॥

द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि है और चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है - यह जानकर, कर्मों से (शुभाशुभभावों से) अविरत दूसरे भी, द्रव्य से अविरुद्ध चरण (चारित्र) का आचरण करो।

द्रव्यानुयोग के अनुसार वस्तु का सही स्वरूप समझ में आने के बाद ही चारित्र की सिद्धि होती है अर्थात् द्रव्य की सिद्धि में ही चारित्र की सिद्धि विद्यमान है। अब यदि कोई द्रव्यानुयोग के माध्यम से तत्त्वज्ञान तो समझ लें; किन्तु उसे जीवन में नहीं उतारे, आचरण में न लावे तो उसका उसको कोई लाभ नहीं है; इसलिए ही यह कहा जा रहा है कि चारित्र की सिद्धि में ही द्रव्य की सिद्धि विद्यमान है।

इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने सर्वप्रथम तो ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार लिखकर द्रव्यानुयोग के माध्यम से मुक्ति के मार्ग का प्रतिपादन किया और ज्ञान तथा ज्ञेय के विभाग करने की प्रक्रिया बताई और अब आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि अभीतक मैंने जो तत्त्वज्ञान समझाया है, हे शिष्यगण ! तुम वह तत्त्वज्ञान समझकर जीवन में उतारो।

जीवन में वह तत्त्वज्ञान कैसे उतारे ? इसी प्रश्न का उत्तर देनेवाली यह चरणानुयोग सूचक चूलिका है।

चरणानुयोग सूचक चूलिका की प्रथम गाथा इसप्रकार है -

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।

पडिवज्जदु सामणं यदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥२०१॥

(हरिगीत)

हे भव्यजन ! यदि भवदुखों से मुक्त होना चाहते।

परमेष्ठियों को कर नमन श्रामण्य को धारण करो ॥२०१॥

हे शिष्यगण ! यदि दुःखों से मुक्त होने की इच्छा हो तो, पूर्वोक्त प्रकार से बारम्बार सिद्धों को, जिनवरवृषभ आदि अरिहंतों को तथा श्रमणों को प्रणाम करके, श्रामण्य को अंगीकार करो।

यहाँ पर 'एवं' शब्द कहकर आचार्य प्रवचनसार ग्रन्थ के प्रारम्भ की उन तीन गाथाओं की ओर संकेत करना चाहते हैं; जिनके माध्यम से पंचपरमेष्ठी को नमस्कार किया गया था।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार ग्रंथ के आरंभ में सिद्धों, अरहंतों और श्रमणों को नमस्कार किया है; उसीप्रकार यहाँ भी उन्हें नमस्कार करके मुनिपद अंगीकार करो।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में तो प्रतिज्ञावाक्य में यह कहा था कि मैं प्रवचनसार को कहूँगा और यहाँ इस गाथा में आचार्य कह रहे हैं कि 'श्रामण्यपने को अंगीकार करो'। 'श्रामण्यपने को किसप्रकार अंगीकार किया जाता है' - यह बात बताने की प्रतिज्ञा करके आचार्यदेव ने उसकी प्राप्ति करने का उपाय बताना भी आरंभ कर दिया है।

यहाँ पर २०१वीं गाथा की टीका की जो अंतिम पंक्ति है, वह ध्यान देने योग्य है -

“यथानुभूतस्य तत्प्रतिपत्तिवर्त्मनः प्रणेतारो वयमिमे तिष्ठाम इति - उस श्रामण्य को अंगीकार करने के यथानुभूत मार्ग के प्रणेता हम यह खड़े हैं न।”

इस पंक्ति को पढ़कर ऐसा लगता है कि जैसे किसी शिष्य ने आचार्यदेव से ऐसा प्रश्न किया हो कि - “आप जो श्रामण्य को अंगीकार करने की बात कर रहे हो, तो क्या यह संभव है? तन पर वस्त्र नहीं रखना, भोजन नहीं करना, भोजन करने में भी अपने हाथ से बनाने की बात ही नहीं; यदि कोई स्वयं के लिए बनाए तो उसमें से भी विधिपूर्वक लेना - यह सब संभव है क्या?”

तब आचार्यदेव ने इस पंक्ति के रूप में उत्तर दिया हो कि इस मार्ग के प्रणेता हम खड़े हैं न? स्वयं को 'प्रणेता' कहकर आचार्यश्री शिष्यों को हिम्मत दे रहे हैं। हमें ये शब्द सुनकर ऐसा लग सकता है कि ये अभिमान से भरे शब्द हैं; किन्तु ये अभिमान से भरे शब्द न होकर आत्मविश्वास से भरे शब्द हैं अर्थात् शिष्यों में आत्मविश्वास भरनेवाले शब्द हैं।

यह वह पंक्ति है, जिस पंक्ति को पढ़ने के बाद गुरुदेवश्री उछल पड़े थे। वे इन शब्दों पर इतने रीझ गये थे, इतने भावविह्वल हो गये थे कि

मानो अमृतचन्द्राचार्य साक्षात् ही उनसे यह कह रहे हों कि हम खड़े हैं न, क्यों चिन्ता करते हो?

इसके बाद श्रमण होने की प्रक्रिया में क्या-क्या है? इसका स्वरूप बतानेवाली गाथा इसप्रकार है -

आपिच्छ बंधुवर्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुतेहिं।

आसिज्ज गाणदंसणचरित्तवरीरियायारं ॥२०२॥

(हरिगीत)

वृद्धजन तियपुत्रबंधुवर्ग से ले अनुमति।

वीर्य-दर्शन-ज्ञान-तप-चारित्र अंगीकार कर ॥२०२॥

बंधुवर्ग से पूछकर और बड़ों से तथा स्त्री-पुत्र से छूटकर ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को अंगीकार करके....।

इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। जब कोई व्यक्ति दीक्षा लेता है या लेना चाहता है, तो वह क्या करता है या उसे क्या करना चाहिए - इस बात को उन्होंने बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है; जो मूलतः पठनीय है।

इस गाथा में कथित बंधुवर्ग से तात्पर्य कुटुम्बीजन से है और 'गुरुकलत्तपुतेहिं' में गुरु का अर्थ माता-पिता, कलत्र का अर्थ पत्नी और पुतेहिं का अर्थ पुत्र-पुत्रियाँ हैं।

इस गाथा में आचार्यदेव ने शब्दों का चयन बड़ी सावधानी एवं बुद्धिमानी से किया है। बंधुवर्ग के साथ तो 'पूछकर' और माता-पिता आदि के साथ 'छूटकर' शब्दों का प्रयोग किया है। दीक्षा के लिए यदि बंधुवर्ग से पूछा जाता है तो वे सहज ही आज्ञा दे देते हैं; लेकिन माँ-बाप, पत्नी-बच्चे आदि आसानी से छोड़ने को तैयार नहीं होते। वर्तमान में जिन्हें 'वन फैमिली' कहा जाता है और जो सबसे ज्यादा निकटतम होते हैं; उनमें माँ-बाप एवं पति-पत्नी और बच्चे ही आते हैं।

इसप्रकार कुटुम्बीजन अर्थात् बंधुवर्ग एवं माँ-बाप, पत्नी आदि के

विभाग से आचार्यदेव ने दो विभाग किए, जिसमें बंधुवर्ग के लिए तो 'पूछकर' एवं माता-पिता आदि के लिए 'छूटकर' शब्दों का प्रयोग किया।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि माँ-बाप ने दीक्षा लेने की अनुमति नहीं दी तो क्या होगा ? ऐसी स्थिति में उनकी अनुमति के बिना दीक्षा ले सकते हैं क्या ?

इस संबंध में आचार्य अमृतचंद्र कहते हैं कि माँ-बाप से पूछे बिना तो दीक्षा नहीं ले सकते; क्योंकि यदि बिना पूछे और बिना सूचना दिए ही दीक्षा ले ली गई तो माता-पिता अपने पुत्र को यहाँ-वहाँ खोजेंगे और पुत्र के नहीं मिलने पर पुलिसस्थाने में रिपोर्ट भी लिखाएंगे। तात्पर्य यह है कि माँ-बाप से बिना पूछे दीक्षा लेने पर कानूनी परेशानी उत्पन्न हो सकती है। इसलिए दीक्षा के लिए माँ-बाप से पूछना जरूरी है। अरे भाई ! मात्र पूछना ही जरूरी नहीं है; अपितु माता-पिता पुत्र की दीक्षा के समय आचार्यश्री के सामने उपस्थित होकर अनुमति देते हैं।

यद्यपि मुनिराज लोक की मर्यादा के बाहर होते हैं; लेकिन लोक की मर्यादाएँ उनके जीवन में बाधाएँ उत्पन्न नहीं कर दें; इसलिए सावधानी रखना जरूरी होता है। यदि असली माँ-बाप नहीं होते हैं तो दीक्षा के समय किसी को माँ-बाप तक बनाया जाता है और उनकी उपस्थिति में दीक्षा होती है।

फिर भी मूल प्रश्न तो खड़ा ही है कि यदि माँ-बाप अनुमति न दे तो क्या होगा ? अरे भाई ! माँ-बाप से आज्ञा लेना सूचना मात्र होती है; क्योंकि 'आज्ञा' शब्द 'आ' अर्थात् 'मर्यादा पूर्वक' और 'ज्ञा' माने 'ज्ञान करा देना'। 'आज्ञा' का तात्पर्य ही यही है कि सभ्य शब्दों में यह ज्ञान करा देना कि मैं दीक्षा लेने के लिए जा रहा हूँ।

लोक व्यवहार में भी 'आज्ञा' का यही अर्थ होता है। किसी ऑफिस में यदि १० आदमी काम करते हों, तो छोटा कर्मचारी तो बड़े साहब से आज्ञा लेकर जाता ही है; पर साहब भी अपने आधीनों से कहते हैं कि

मैं दो दिन के लिए छुट्टी पर जा रहा हूँ। तात्पर्य यह है कि यदि उच्चस्तर का कर्मचारी भी छुट्टी पर जाता है तो वह भी सूचना देकर जाता है। अन्तर मात्र इतना है कि दोनों की भाषा में पद के अनुरूप अन्तर हो जाता है।

'आज्ञा लेना' का तात्पर्य प्रकारान्तर से सूचना देना ही है। परिवार से आज्ञा लेने की एक भाषा है और उस भाषा को आचार्यदेव ने यहाँ पर प्रस्तुत किया है। वह भाषा इसप्रकार है कि दीक्षार्थी पुत्र माँ-बाप से कहता है कि शरीर की उत्पत्ति में निमित्तभूत हे माँ, हे पिता ! न तुम मेरे माँ-बाप हो और न मैं तुम्हारा बेटा। अब मैं आत्मकल्याण के लिए जा रहा हूँ। इस भाषा के रूप में 'आज्ञा लेना' का तात्पर्य मात्र सूचना देना ही तो हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री भी इस प्रकरण को बहुत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करते थे और कहते थे कि देखो! यहाँ निश्चय-व्यवहार की कितनी मनोरम संधि है। हे माँ, हे पिता ! - ऐसा कहकर तो व्यवहार की स्थापना की और शरीर की उत्पत्ति में निमित्तभूत माँ और पिता - ऐसा कहकर निश्चयनय की स्थापना की। 'हे माँ और हे पिताजी' से संबोधित कर व्यवहार की मर्यादा को भंग नहीं होने दिया और 'आपका और मेरा संबंध तो देह से है, आत्मा से नहीं' ऐसा कहकर तत्त्वज्ञान कराया। एक प्रकार से उस संबंध का निषेध कर निश्चय का प्रतिपादन किया।

निश्चय से तो आज्ञा लेने की आवश्यकता ही नहीं है, व्यवहार से ही दीक्षा के लिए आज्ञा माँगी जाती है। अरे भाई! माँ-बाप से दीक्षा लेने की आज्ञा लेने का तात्पर्य मात्र उन्हें इस संबंध में सूचना देना ही है; अतः अनुमति देने, नहीं देने का प्रश्न ही नहीं है। दीक्षा लेनेवाले कभी इसप्रकार से नहीं पूछते हैं कि 'मैं दीक्षा लूँ या नहीं ?' अपितु माँ-बाप से यह कहते हैं कि 'मैं दीक्षा लेने जा रहा हूँ'।

इसके बाद श्रामण्य के बहिरंग और अंतरंग दो लिंगों का उपदेश करनेवाली गाथाएँ इसप्रकार हैं -

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं ।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥२०५॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं ।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥२०६॥

(हरिगीत)

शृंगार अर हिंसा रहित अर केशलुंचन अकिंचन ।
यथाजातस्वरूप ही जिनवरकथित बहिलिंग है ॥२०५॥
आरंभ-मूर्छा से रहित पर की अपेक्षा से रहित ।
शुध योग अर उपयोग से जिनकथित अंतरलिंग है ॥२०६॥

जन्मसमय के रूप जैसा रूप वाला, सिर और दाढ़ी-मूँछ के बालों का लोंच किया हुआ, शुद्ध अकिंचन, हिंसादि से रहित और प्रतिकर्म (शारीरिक शृंगार) से रहित - ऐसा श्रामण्य का बहिरंग लिंग है ।

मूर्च्छा और आरम्भ रहित, उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त तथा पर की अपेक्षा से रहित - ऐसा जिनेन्द्रदेव कथित श्रामण्य का अंतरंगलिंग है, जो कि मोक्ष का कारण है ।

जैसा कि गाथा में कहा है कि श्रामण्य के दो लिंग हैं - एक का नाम बहिरंगलिंग है और दूसरे का नाम अंतरंगलिंग है; जिन्हें हम द्रव्यलिंग एवं भावलिंग भी कहते हैं ।

द्रव्यलिंग और भावलिंग के संबंध में हमारी बहुत गलत धारणाएँ हैं । 'द्रव्यलिंग' शब्द सुनते ही हमें ऐसा लगने लगता है जैसे मुँह में कड़वाहट सी आ गई हो । द्रव्यलिंग हमें बिल्कुल हेय लगता है और भावलिंग साक्षात् मोक्षस्वरूप ही प्रतीत होता है; लेकिन हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति द्रव्यलिंग और भावलिंग - दोनों के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता ।

सिद्धचक्रमहामण्डलविधान की जयमाला में भी कहा है -
भावलिंग बिन कर्म खिपाई, द्रव्यलिंग बिन मुनि शिवपद जाई ।
यो अयोग कारज नहीं होई, तुम गुण कथन कठिन है सोई ॥

द्रव्यलिंग के बिना कोई मोक्ष चला जाय और भावलिंग के बिना कर्मों का नाश हो जाय - ये सब असंभव कार्य हैं ।

जब मोक्ष के लिए दोनों ही अनिवार्य हैं, तब एक बुरा और दूसरा अच्छा - यह कैसे हो सकता है ?

अब यदि कोई कहे कि शास्त्रों में तो द्रव्यलिंगी मुनियों की बहुत निंदा की गई है ।

अरे भाई ! जहाँ द्रव्यलिंगी मुनियों की निंदा आती है, वह भावलिंग के बिना जो द्रव्यलिंग है, उसकी निंदा है; भावलिंग के साथ जो द्रव्यलिंग है, उसकी निंदा नहीं । वस्तुतः द्रव्यलिंग और भावलिंग तो साथ-साथ ही होते हैं ।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जिसप्रकार भावलिंग के बिना होनेवाले द्रव्यलिंग की निंदा होती है; उसीप्रकार द्रव्यलिंग के बिना भावलिंग की भी निंदा होनी चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता ।

इसका उत्तर यह है कि द्रव्यलिंग के बिना भावलिंग होता ही नहीं है; पर द्रव्यलिंग भावलिंग के बिना हो जाता है । जब हम किसी को भावलिंगी कहते हैं, तब उसका अर्थ यह है कि वह भावलिंगी तो है ही, द्रव्यलिंगी भी है । यही कारण है कि शास्त्रों में भावलिंग की निंदा नहीं है ।

इस संबंध में दूसरा विवेचनीय बिन्दु यह है कि द्रव्यलिंग बाह्यक्रिया का नाम है और श्रामण्य के लिए उसका होना भी अनिवार्य है । शरीर की नग्नता आदि क्रिया संबंधी भाव है, शुभभाव हैं और भावलिंग शुद्धोपयोगरूप है, शुद्धपरिणतिरूप है । यद्यपि द्रव्यलिंग के बिना मोक्ष नहीं होगा, तथापि द्रव्यलिंग से भी मोक्ष नहीं होगा; क्योंकि द्रव्यलिंग तो जड़ की क्रिया और शुभभावरूप है और मोक्ष जड़ की क्रिया और शुभभावों से नहीं होता ।

गाथा २०५ में द्रव्यलिंग का जो स्वरूप कहा है, उसमें जो 'यथाजातरूप' कहा है; उसका तात्पर्य यह है कि जैसा माँ के पेट से

जन्म लिया था, वैसा ही रूप। उस रूप के साथ एक लंगोट भी नहीं रख सकते तथा 'सिर और दाढ़ी-मूँछ के बालों का लोंच किया हुआ' होना चाहिए अर्थात् अपने केश अपने ही हाथ से उखाड़ने होंगे।

उन केशों को नाई से बनवाने में क्या दिक्कत है ?

अरे भाई ! यदि नाई से केश बनवाएंगे तो फिर उसके लिए पैसों की आवश्यकता होगी और पुनः सांसारिक चक्र प्रारम्भ हो जावेगा। नाई से केश बनवाना कोई स्वाधीन क्रिया नहीं है और उसमें शृंगार का भाव भी हो सकता है।

इन गाथाओं के बाद फिर वे गाथाएँ आती हैं, जिनमें यह बताया गया है कि गुरु दो प्रकार के होते हैं - एक तो दीक्षागुरु और दूसरे निर्यापक गुरु अर्थात् आचार्य और निर्यापक आचार्य।

आचार्य तो वे हैं जो दीक्षा देते हैं और निर्यापक आचार्यों को हम इसप्रकार समझ सकते हैं कि जैसे किसी आचार्य ने १००० शिष्यों को दीक्षा दी; लेकिन उन सभी की गलतियाँ आदि देखने का समय उन आचार्यदेव के पास न हो, तब वे अपने ही सहयोगी अन्य मुनियों को यह जिम्मेदारी दे देते हैं कि यदि किसी मुनिराज से गलती हो जाय, तो तुम उन्हें प्रायश्चित्त विधि से शुद्ध करना। ऐसे काम निपटाने वाले अर्थात् निभाने वाले आचार्य निर्यापक आचार्य कहलाते हैं।

इसी बात को गाथा २१० की टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया है -

“जो आचार्य लिंगग्रहण के समय निर्विकल्प सामायिक संयम के प्रतिपादक होने से प्रब्रज्यादायक हैं, वे गुरु हैं; और तत्पश्चात् तत्काल ही जो (आचार्य) सविकल्प छेदोपस्थापनासंयम के प्रतिपादक होने से छेद के प्रति उपस्थापक (भेद में स्थापित करनेवाले) हैं, वे निर्यापक हैं; उसीप्रकार जो (आचार्य) छिन्न संयम के प्रतिसंधान की विधि के प्रतिपादक होने से 'छेद होने पर उपस्थापक (संयम में छेद होने पर उसमें पुनः स्थापित करने वाले)' हैं, वे भी निर्यापक ही हैं।”

‘छेदोपस्थापक पर भी होते हैं’ का तात्पर्य यह है कि दीक्षा देनेवाले आचार्यों के अलावा दूसरे भी होते हैं। चाहे जैसे लोग दीक्षा न ले लें; इसलिए आचार्य ही पूरी परख करके दीक्षा देते हैं। इससे एक तो अपात्र जीव दीक्षा नहीं ले पावेंगे और नियन्त्रण भी रहेगा। जिन्होंने दीक्षा ले ली है, वे अनभ्यस्त हैं; अतः उनको निर्यापक आचार्यों की देखरेख में क्रियाओं में निष्णात कर दिया जाता है। इसप्रकार यहाँ पर आचार्यदेव ने सारी प्रक्रिया का वर्णन किया है।

इसके बाद इसी संबंध में गाथा २११-२१२ की टीका भी द्रष्टव्य है-

“संयम का छेद दो प्रकार का है - बहिरंग और अन्तरंग। उसमें मात्र कायचेष्टा संबंधी बहिरंग छेद है और उपयोग संबंधी छेद अन्तरंग छेद है। यदि भलीभाँति उपयुक्त श्रमण के प्रयत्नकृत कायचेष्टा का कथंचित् बहिरंग छेद होता है, तो वह अन्तरंग छेद से सर्वथा रहित है; इसलिए आलोचनापूर्वक क्रिया से ही उसका प्रतीकार (इलाज) होता है; किन्तु यदि वही श्रमण उपयोग संबंधी छेद होने से साक्षात् छेद में ही उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहारविधि में कुशल श्रमण के आश्रय से, आलोचनापूर्वक, उनके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान द्वारा संयम का प्रतिसंधान होता है।”

जिसप्रकार विद्यार्थियों की कई गलतियाँ तो ऐसी होती हैं कि उनके लिए डाँट-फटकार ही पर्याप्त है; कुछ गलतियों के लिए दंड भी दिया जाता है; कुछ गलतियों के लिए उन्हें संस्था से बाहर भी निकाला जा सकता है और पुनः भर्ती के लिए प्रवेश की पूरी प्रक्रिया से गुजरना पड़े तथा कुछ गलतियाँ ऐसी भी होती हैं कि यदि एक बार निकाल दिया तो दुबारा भर्ती ही नहीं हो।

उसीप्रकार मुनिराजों में भी इसीप्रकार की गलतियाँ होती हैं कि माफी माँगी और काम चल गया। कुछ गलतियाँ ऐसी होती हैं कि सुधार के लिए तीन दिन का उपवास करने के लिए कह दिया जाय, उससे

प्रायश्चित्त हो जाएगा, कुछ गलतियों के लिए मुनिराजों की दीक्षा ही छेद दी जाती है और बाद में पुनः पूरी प्रक्रिया पूर्वक दीक्षा दे दी जाती है एवं कुछ गलतियाँ ऐसी होती हैं कि संघ से ही निकाल दिया जाता है और पुनः नहीं लिया जाता है।

कायचेष्टा संबंधी बहिरंग छेद में आलोचना पूर्वक क्रिया से ही उसका प्रतिकार हो जाता है अर्थात् अंतरंग में तो छेद है नहीं और काया से गलती हो जाय तो अपनी आलोचना से उसका प्रतिकार हो जाता है।

विद्यार्थियों में कोई कक्षा में लेट आता है और वह यह कहता है कि मैं कल से समय पर आऊँगा तो उसको माफ कर दिया जाता है; लेकिन किसी अन्य विद्यार्थी की गलती इतनी ज्यादा होती है कि उसे कक्षा के समय बेन्च पर खड़े रहने के लिए कह दिया जाता है। जिसप्रकार विद्यार्थियों में भी दण्ड में भेद है; उसीप्रकार मुनिराजों में विभिन्न प्रकार से प्रायश्चित्त होता है।

अरे भाई ! कभी-कभी तो प्रायश्चित्त के लिए मुनिराजों को भी खड़ा कर दिया जाता है। अकंपनाचार्य ने श्रुतसागर को उस स्थान पर रात भर खड़े रहने के लिए कहा; जहाँ उन पर आक्रमण होने की सम्भावना थी। मैं अपने विद्यार्थियों से कहता हूँ कि तुम लोगों को तो ५-१० मिनट के लिए खड़ा किया जाता है, श्रुतसागर को तो रात भर खड़े रहने के लिए कहा गया था। अरे भाई ! मुनियों को भी अनुशासन में रहना पड़ता है। उन श्रुतसागर की क्या गलती थी ? वे सिनेमा देखने थोड़े ही चले गये थे, उन्होंने किसी के साथ मार-पीट थोड़े ही की थी; उन्होंने तो मात्र मंत्रियों के साथ तत्त्वचर्चा की थी। उनकी गलती यह थी कि उन्होंने रास्ते में खड़े-खड़े विधर्मियों से चर्चा की थी।

उन्होंने तत्त्वचर्चा राह चलते की थी। तत्त्वचर्चा एक जगह बैठकर शांति से करने की चीज है न कि राह चलते। दूसरी बात यह है कि तत्त्वचर्चा चाहे जिससे करने की चीज नहीं है।

मैं छात्रों से कहता हूँ कि जब तुम लोगों को ऐसा लगे कि हमें बहुत कठोर दण्ड दिया गया है; तब श्रुतसागरजी की घटना को याद कर लेना। तब वह दण्ड बहुत हल्का-फुलका लगने लगेगा।

शास्त्री अंतिम वर्ष के विद्यार्थी सोचते हैं कि हम 'शास्त्री' हो गए हैं और हमें इतना बड़ा दण्ड दे दिया गया।

अरे भाई ! श्रुतसागर मुनिराज का नाम श्रुतसागर नहीं; अपितु श्रुतसागर तो उनकी उपाधि थी। उनकी इतनी सामर्थ्य थी कि अवधिज्ञान से किसी का भी राह चलते पूर्व भव जान ले, वे कोई साधारण मुनिराज नहीं थे। जब श्रुत के सागर पर अनुशासनात्मक कार्यवाही हो सकती है तो शास्त्री तृतीय वर्ष के विद्यार्थियों पर क्यों नहीं हो सकती। यह विचार कर उसे स्वीकार भी करना चाहिए।

इसप्रकार श्रमण के कायिक चेष्टा से जो गलतियाँ हो जाती हैं; उनका प्रायश्चित्त आलोचना और प्रतिक्रमण से हो जाता है; लेकिन यदि भाव से गलती होती है तो आचार्य के समक्ष स्वयं मुनिराज अपना अपराध बताते हैं और आचार्य प्रायश्चित्त देकर शुद्धि करते हैं। इसप्रकार इन सारी विधियों का वर्णन यहाँ पर किया गया है।

तदनन्तर गाथा २१५ का भावार्थ भी द्रष्टव्य है -

“आगमविरुद्ध आहार-विहारादि तो मुनिराज ने पहले ही छोड़ दिये हैं। अब संयम साधने की बुद्धि से मुनिराज के जो आगमोक्त आहार, अनशन, गुफादि में निवास, विहार, देहमात्र परिग्रह, अन्य मुनियों का परिचय और धार्मिक चर्चा-वार्त्ता पाये जाते हैं; उनके प्रति भी रागादि करना योग्य नहीं है, उनके विकल्पों से भी मन को रंगने देना योग्य नहीं है; इसप्रकार आगमोक्त आहार-विहारादि में भी प्रतिबंध प्राप्त करना योग्य नहीं है; क्योंकि उससे संयम में छेद होता है।”

देखो ! भावार्थ में कितने स्पष्ट एवं साफ शब्दों में लिखा है कि निर्दोष आहार, अनशन, गुफादि में निवास, विहार, देहमात्र परिग्रह,

अन्य मुनियों का परिचय, धार्मिक चर्चा-वार्ता - इनमें राग रखना अच्छी बात नहीं है, इनके विकल्पों से भी मन को रंगने देना योग्य नहीं है। अरे भाई ! मुनिराजों को तत्त्वचर्चा का भी रंग नहीं लगना चाहिए। तत्त्वचर्चा के नाम पर प्रतिदिन घंटों गपशप लगाते रहना भी अच्छी बात नहीं है।

भावार्थ में जो यह लिखा है कि 'आहार-विहारादि में भी प्रतिबंध प्राप्त करना योग्य नहीं है', इसमें प्रतिबंध प्राप्त करने का तात्पर्य प्रतिबंधित होना है। यदि तत्त्वचर्चा के लिए २ बजे से ३ बजे तक का समय निश्चित कर दिया, उस समय फिर दूसरी जगह जाने का विकल्प आ गया तो लोग कहेंगे कि महाराजजी ने समय दिया था और उस समय पर महाराजश्री ने तत्त्वचर्चा नहीं की, इसलिए मुनिराज इन सब के लिए अपने को प्रतिबंधित नहीं करते हैं; क्योंकि उससे संयम में छेद होता है।

तदनन्तर गाथा २१६ की टीका भी द्रष्टव्य है -

“अशुद्धोपयोग वास्तव में छेद है; क्योंकि उससे शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का छेदन होता है और वही हिंसा है; क्योंकि (उससे) शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का हनन होता है। इसलिए श्रमण के, जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होती; ऐसी शयन-आसन-स्थान-गमन इत्यादि में अप्रयत चर्चा उसके लिये सदा ही संतानवाहिनी हिंसा ही है, जो कि छेद से अनन्यभूत है।”

टीका में अशुद्धोपयोग को छेद कहा है। वास्तव में शुद्धोपयोग से अशुद्धोपयोग में आते ही छेद हो जाता है। यह छेद तो मुनिराजों के अनिवार्य ही है; क्योंकि मुनिराजों के छटवाँ-सातवाँ गुणस्थान तो होता ही रहता है अर्थात् वे छटवें से सातवें और सातवें से छटवें गुणस्थान में झूलते ही रहते हैं। इसप्रकार छेद एवं उसकी उपस्थापना तो निरन्तर बनी रहती है।

टीका में अशुद्धोपयोग को हिंसा कहा है अर्थात् तीव्रतम शुभभाव भी हिंसा ही है; किन्तु आजकल इसे हिंसा कौन मानता है? आजकल जिस हिंसा को गृहस्थ भी नहीं करते हैं, उस हिंसा में मुनिराज प्रवृत्त दिखाई देते हैं।

मुझे याद है जब मैं छोटा था, तब मेरे पिताजी कहा करते थे कि बेटा! यदि बहुत पैसा भी हो जावे, तब भी मकान नहीं बनवाना, बना हुआ मकान ही खरीद हो लेना; क्योंकि मकान बनाने में बहुत हिंसा होती है। अभी प्रायः देखा जाता है कि नये-नये तीर्थ बनाने के लिए बड़ी-बड़ी पहाड़िया कट रही हैं, बुलडोजर चल रहे हैं।

अरे भाई ! जब मुनिराजों की चर्चा में होनेवाली हिंसा के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है; तब उपरोक्त कार्यों का निर्देशन कहाँ तक उचित है ? मुनिराज तो कायिक चेष्टा से होनेवाली छेद की भी पुनः उपस्थापना करते हैं एवं विशिष्ट गलती के लिए प्रायश्चित्त करते हैं।

इसके बाद प्रवचनसार ग्रंथ की वह २१७वीं प्रसिद्ध गाथा आती है, जिसके आधार पर पुरुषार्थसिद्धयुपाय में भी एक श्लोक लिखा गया है।

वह गाथा इसप्रकार है -

मरदुव जियदुव जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।

पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥२१७॥

(हरिगीत)

प्राणी मरें या ना मरें हिंसा अयत्नाचार से।

तब बंध होता है नहीं जब रहें यत्नाचार से ॥२१७॥

जीव मरे या जिये अप्रयत आचार वाले के (अंतरंग) हिंसा निश्चित है; प्रयत के, समितिवान् के (बहिरंग) हिंसामात्र से बंध नहीं है।

सारा जगत जीवों के मरने से हिंसा मानता है; लेकिन यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्द कह रहे हैं कि जीव मरे या नहीं मरे, उससे हिंसा नहीं होती; लेकिन अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले के हिंसा नामक पाप निश्चित रूप से होता है।

यहाँ आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि कोई ऊपर की ओर मुँह करके चल रहा हो, तब उसके पैर के नीचे आकर जीव मरे या नहीं मरे; लेकिन हिंसा का पाप अवश्य लगेगा और यदि कोई सावधानी पूर्वक चार हाथ आगे की जमीन देखकर चल रहा हो, उस समय यदि कोई सूक्ष्म जीव पैरों के नीचे आकर मर भी जाए, तब भी हिंसा नहीं होती; क्योंकि जीवों के मरने या नहीं मरने से हिंसा का कोई संबंध नहीं है।

हिंसा का संबंध अयत्नाचार से है, सावधानीपूर्वक आचरण करने वाले मुनिराज के निमित्त से यदि हिंसा भी हो, तब भी वे अहिंसक हैं और अप्रयत आचार वाले गृहस्थों के द्वारा हिंसा नहीं भी हो, तब भी वे हिंसक ही हैं।

इसी संबंध में गाथा २१७ की टीका इसप्रकार है -

“अशुद्धोपयोग अन्तरंग छेद है; परप्राणों का विच्छेद बहिरंग छेद है। इनमें से अन्तरंग छेद ही विशेष बलवान है, बहिरंग छेद नहीं; क्योंकि परप्राणों के व्यपरोपण का सद्भाव हो या असद्भाव, जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता ऐसे अप्रयत आचार से प्रसिद्ध होनेवाला (जानने में आनेवाला) अशुद्धोपयोग का सद्भाव जिसके पाया जाता है, उसके हिंसा के सद्भाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है; और इसप्रकार जो अशुद्धोपयोग के बिना होता है - ऐसे प्रयत आचार से प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोग का असद्भाव जिसके पाया जाता है, उसके परप्राणों के व्यपरोपण के सद्भाव में भी बंध की अप्रसिद्धि होने से, हिंसा के अभाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है।

अंतरंग छेद ही विशेष बलवान है, बहिरंग छेद नहीं - ऐसा होने पर भी बहिरंग छेद अंतरंग छेद का आयतन मात्र है; इसलिए बहिरंग छेद को स्वीकार तो करना ही चाहिये अर्थात् उसे मानना ही चाहिये।”

इस टीका में स्पष्ट कहा है कि अशुद्धोपयोग हिंसा ही है। हम सभी निरन्तर हिंसक हैं; क्योंकि हम लोग शुद्धोपयोग में नहीं हैं।

अरे भाई! जो प्रवचन सुनते हैं, जिन्होंने कभी चींटी को भी नहीं मारा, वे भी हिंसक ही हैं; क्योंकि वे अशुद्धोपयोग में हैं। जिनके शुद्धोपयोग नहीं है; वे हिंसक ही हैं, शुद्धोपयोगी ही एकमात्र अहिंसक है।

यद्यपि गृहस्थों को भी इस बात का विचार करना चाहिए; तथापि कदाचित् वे न भी करें; तब भी मुनिराजों को तो इस प्रकरण का गहराई से अध्ययन करके इस महासत्य को स्वीकार करना ही चाहिए और जितना भी संभव हो, जीवन में अपनाना चाहिए।

तदनन्तर अन्तरंग छेद सर्वथा त्याज्य है - ऐसा उपदेश करनेवाली २१८वीं गाथा इसप्रकार है -

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरोत्ति मदो।

चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥२१८॥

(हरिगीत)

जलकमलवत निर्लेप हैं जो रहें यत्नाचार से।

पर अयत्नाचारि तो षट्काय के हिंसक कहे ॥२१८॥

अप्रयत आचारवाला श्रमण छहों काय संबंधी वध करनेवाला मानने में आया है; यदि सदा प्रयतरूप से आचरण करे तो जल में कमल की भाँति निर्लेप कहा गया है।

इस गाथा में कहा है कि आचरण की शुद्धि बहुत जरूरी है। यद्यपि परवस्तु के कारण रंचमात्र भी हिंसा नहीं होती; तथापि परिणामों की विशुद्धि के लिए अप्रयत्नाचार को तो छोड़ना ही चाहिए।

इसी गाथा का भावार्थ इसप्रकार है -

“शास्त्रों में अप्रयत-आचारवान् अशुद्धोपयोगी को छह काय का हिंसक कहा है और प्रयत आचारवान् शुद्धोपयोगी को अहिंसक कहा है; इसलिए शास्त्रों में जिस-जिस प्रकार से छहकाय की हिंसा का निषेध किया गया हो, उस-उस समस्त प्रकार से अशुद्धोपयोग का निषेध समझना चाहिए।”

यहाँ अशुद्धोपयोग के निषेध से तात्पर्य अशुभोपयोग और शुभोपयोग

– दोनों का निषेध है; क्योंकि दोनों ही अशुद्धोपयोग हैं।

शुभोपयोग को धर्म मान कर उससे निर्जरा माननेवालों को इस प्रकरण पर ध्यान देना चाहिए।

इसी संदर्भ में गाथा २१९ का भावार्थ भी द्रष्टव्य है –

“अशुद्धोपयोग का असद्भाव हो, तथापि काय की हलन-चलनादि क्रिया होने से परजीवों के प्राणों का घात हो जाता है। इसलिए कायचेष्टापूर्वक परप्राणों के घात से बंध होने का नियम नहीं है।

अशुद्धोपयोग के सद्भाव में होनेवाले कायचेष्टापूर्वक परप्राणों के घात से तो बंध होता है और अशुद्धोपयोग के असद्भाव में होनेवाले कायचेष्टापूर्वक परप्राणों के घात से बंध नहीं होता; इसप्रकार कायचेष्टापूर्वक होनेवाले परप्राणों के घात से बंध का होना अनैकान्तिक होने से उसके छेदपना अनैकान्तिक है, नियमरूप नहीं है।

जिसप्रकार भाव के बिना भी परप्राणों का घात हो जाता है; उसीप्रकार भाव न हो; तथापि परिग्रह का ग्रहण हो जाय – ऐसा कभी नहीं हो सकता। जहाँ परिग्रह का ग्रहण होता है; वहाँ अशुद्धोपयोग का सद्भाव अवश्य होता ही है।

इसलिए परिग्रह से बंध का होना ऐकान्तिक-निश्चित-नियमरूप है। इसलिए परिग्रह के छेदपना ऐकान्तिक है। ऐसा होने से ही परमश्रमण ऐसे अर्हन्त भगवन्तों ने पहले से ही सर्व परिग्रह का त्याग किया है और अन्य श्रमणों को भी पहले से ही सर्व परिग्रह का त्याग करना चाहिये।”

यहाँ पर मैं परिग्रह और हिंसा में एक अंतर स्पष्ट करना चाहता हूँ। वह अंतर यह है कि ‘परप्राणों का घात हो जाय और हिंसा नहीं हो’ – ऐसा तो हो सकता है; किन्तु ‘परिग्रह हो और पाप न हो’ – ऐसा नहीं हो सकता है। भाव के बिना हिंसा तो हो सकती है अर्थात् प्राणों का घात तो हो सकता है; लेकिन भावों के बिना परपदार्थों का ग्रहण

नहीं हो सकता।

तदनन्तर आचार्य अमृतचंद्र कहने योग्य सब कहा गया है’ इत्यादि कथन श्लोक के माध्यम से कहते हैं –

(वसंततिलका)

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त,
मेतावतैव यदि चेतयतेऽत्र कोऽपि।

व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं,
निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ॥१४॥

(दोहा)

जो कहने के योग्य है कहा गया वह सब्ब।

इतने से ही चेत लो अति से क्या है अब्ब ॥१४॥

जो कहने योग्य था; वह अशेषरूप से कह दिया गया है, इतने मात्र से ही कोई चेत जाय, समझ ले तो समझ ले और न समझे तो न समझे; अब वाणी के अतिविस्तार से क्या लाभ है? क्योंकि निश्चेतन (जड़वत्, नासमझ) के व्यामोह का जाल वास्तव में अति दुस्तर है।

तात्पर्य यह है कि नासमझों को समझाना अत्यन्त कठिन है।

यह श्लोक अत्यंत मार्मिक है। आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार की आत्मख्याति टीका में तो २७८ श्लोक लिखे हैं; किन्तु प्रवचनसार की टीका में २२ छन्द ही लिखे हैं। उन्हीं में से एक छन्द यह भी है।

इस कलश में आचार्य कह रहे हैं कि जो समझाया जा सकता था, वह हमने समझा दिया। जिन्हें समझ में आना होगा, उन्हें इतने से ही समझ में आ जाएगा और जिन्हें समझ में नहीं आना है; उनके लिए कितना ही विस्तार क्यों न करें, समझ में नहीं आएगा; अतएव मैं इस चर्चा से अब विराम लेता हूँ।

बाईसवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम में समागत चरणानुयोग सूचक चूलिका पर चर्चा चल रही है; जिसमें अभी तक २१९वीं गाथा तक चर्चा हो चुकी है। गाथा २०१ से प्रारम्भ होनेवाली इस चरणानुयोगसूचक चूलिका में निम्नांकित अवान्तर अधिकार हैं। पहले अवान्तर अधिकार का नाम आचरणप्रज्ञापन है, जो गाथा २०१ से २३१ तक चलता है। दूसरे अवान्तर अधिकार का नाम मोक्षमार्गप्रज्ञापन है, जो गाथा २३२ से २४४ तक है, तीसरे अवान्तर अधिकार का नाम शुभोपयोगप्रज्ञापन है; जो गाथा २४५ से २७० तक है और अन्तिम पाँच गाथाओं के प्रकरण को पंचरत्न कहते हैं।

आचरणप्रज्ञापन में अबतक हुई चर्चा के संदर्भ में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब परद्रव्य के कारण आत्मा को रंचमात्र भी सुख-दुःख नहीं होता, बंध नहीं होता; तब परिग्रह तो परद्रव्य है, उसके त्याग की बात क्यों की जाती है ?

इसका उत्तर देते हुए आचार्यश्री ने कहा है कि यद्यपि परद्रव्य के कारण रंचमात्र भी सुख-दुःख नहीं होता; तथापि परद्रव्य की उपस्थिति इस बात की सूचक है कि हमारा परद्रव्य के प्रति एकत्व-ममत्व है; अतएव परद्रव्य का त्याग अत्यंत आवश्यक है। वस्तुतः यह त्याग परद्रव्य का नहीं; अपितु उसके प्रति होनेवाले एकत्व-ममत्व का त्याग है, उसके प्रति होनेवाले राग का त्याग है।

ण हि गिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी ।

अविसुद्धस्स य चित्ते कहां णु कम्मक्खओ विहिदो ॥२२०॥

(हरिगीत)

यदि भिक्षु के निरपेक्ष न हो त्याग तो शुद्धि न हो।

तो कर्मक्षय हो किसतरह अविशुद्ध भावों से कहो ॥२२०॥

यदि निरपेक्ष त्याग न हो तो भिक्षु के भाव की विशुद्धि नहीं होती और जो भाव में अविशुद्ध है; उसके कर्मक्षय कैसे हो सकता है ?

इस गाथा की टीका का भाव इसप्रकार है -

“जैसे छिलके के सद्भाव में चावलों में पाई जानेवाली रक्तारूप अशुद्धता का त्याग नहीं होता; उसीप्रकार बहिरंग संग के सद्भाव में अशुद्धोपयोगरूप अंतरंग छेद का त्याग नहीं होता और उसके सद्भाव में शुद्धोपयोगमूलक कैवल्य (मोक्ष) की उपलब्धि नहीं होती।

इससे ऐसा कहा गया है कि अशुद्धोपयोगरूप अंतरंग छेद के निषेधरूप प्रयोजन की अपेक्षा रखकर किया जानेवाला उपधि का निषेध अन्तरंग छेद का ही निषेध है।”

छिलके सहित चावल को धान कहते हैं। छिलके के नीचे और चावलों के ऊपर जो लाल-लाल भाग होता है; उसे धोकर, कूटकर हटाया जाता है। जबतक छिलका नहीं हटाया जाय, तबतक उस लाल हिस्से को भी नहीं हटाया जा सकता। उसीप्रकार जबतक परिग्रह का त्याग नहीं हो, तबतक शुद्धोपयोग संभव नहीं है।

मैं एक बात और स्पष्ट करना चाहता हूँ कि यह वही गाथा है जिसका आश्रय लेकर लोग कहते हैं कि शुद्धोपयोग मुनियों के ही होता है; क्योंकि इस टीका में लिखा है कि परिग्रह के त्याग के बिना शुद्धोपयोग संभव नहीं है। अरे भाई ! इसका समाधान यह है कि यह गाथा इस अर्थ में है कि मुनियों के योग्य जो शुद्धोपयोग होता है; वह रंचमात्र भी परिग्रह होगा तो नहीं होगा।

उपधि अर्थात् परिग्रह ऐकान्तिक अन्तरंग छेद है। यदि बाह्य में परिग्रह विद्यमान है तो वह अन्तरंग छेद है। उस परिग्रह को यह कहकर नहीं रखा जा सकता कि यह तो बाहर की चीज है, परद्रव्य है, पुण्य के उदय से मिली है।

इस सन्दर्भ में गाथा २२१ की टीका का भाव इसप्रकार है -

“उपधि के सद्भाव में, (१) ममत्व-परिणाम जिसका लक्षण है - ऐसी मूर्छा, (२) उपधि संबंधी कर्मप्रक्रम के परिणाम जिसका लक्षण है - ऐसा आरम्भ, अथवा (३) शुद्धात्मस्वरूप की हिंसारूप परिणाम जिसका लक्षण है - ऐसा असंयम अवश्यमेव होता ही है; तथा उपधि जिसका द्वितीय हो (अर्थात् आत्मा से अन्य ऐसा परिग्रह जिसने ग्रहण किया हो) उसके परद्रव्य में लीनता होने के कारण शुद्धात्मद्रव्य की साधकता का अभाव होता है; इससे उसके ऐकान्तिक अन्तरंग छेदपना निश्चित होता ही है - ऐसा निश्चित करके उसे सर्वथा छोड़ना चाहिये।”

इस टीका में कहा है कि जहाँ उपधि होगी; वहाँ मूर्छा भी रहेगी, आरम्भ भी होगा एवं तत्सम्बन्धी असंयम भी होगा; इसलिए उपधि अर्थात् परिग्रह का सम्पूर्ण त्याग करना चाहिए।

इसके बाद ग्रन्थ में यह चर्चा है कि पूरी उपधि तो त्यागी नहीं जा सकती; क्योंकि पीछी-कमण्डलु और शास्त्र तो रखने ही पड़ेंगे; पर उनका नाम उपकरण है, उपधि नहीं। अरे भाई ! जो करने योग्य कार्य है अर्थात् शुद्धोपयोग है, उसका नाम है करण और जो उस कार्य में सहयोगी होते हैं, उन्हें कहते हैं उपकरण।

उपकरणों में पीछी तो अहिंसक जीवन का उपकरण है, संयम की जरूरत है और जीव-जन्तुओं की रक्षा के लिए आवश्यक है। कमण्डलु शुद्धि का उपकरण है; क्योंकि मल-मूत्र का क्षेपण तो रोका नहीं जा सकता; उनकी शुद्धि भी आवश्यक ही है। तीसरा उपकरण शास्त्र या गुरु के वचन हैं।

जैसा कि गाथा २२२ में लिखा है -

छेदो जेण ण बिज्जदि गहणविसग्गोसु सेवमाणस्स ।

समणो तेणिह वट्टु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥२२२॥

(हरिगीत)

छेद न हो जिसतरह आहार लेवे उसतरह ।

हो विसर्जन नीहार का भी क्षेत्र काल विचार कर ॥२२२॥

जिस उपधि के (आहार-नीहारादि के) ग्रहण-विसर्जन में सेवन करनेवाले के छेद नहीं होता; उस उपधियुक्त कालक्षेत्र को जानकर इस लोक में श्रमण वर्ते।

अब, प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब मुनि को पीछी, कमण्डलु और शास्त्र रखने की अनुमति है; तब ये सब मार्ग के अन्तर्गत ही माने जाएंगे ? इसका समाधान करते हुए आचार्य ने कहा कि मार्ग दो प्रकार का होता है - पहला तो उत्सर्ग मार्ग और दूसरा अपवाद मार्ग। ये पीछी-कमण्डलु सहित मार्ग अपवाद मार्ग है।

उत्सर्ग का अर्थ त्याग होता है और यह उत्सर्ग मार्ग ही सर्वोत्कृष्ट मार्ग है, निश्चय मार्ग है। शुद्धोपयोग ही उत्सर्ग मार्ग है। पीछी-कमण्डलु रखना, शास्त्र रखना, गुरु के वचन सुनना - ये अपवाद मार्ग हैं और यह अपवाद मार्ग उत्कृष्ट मार्ग नहीं है। यह अपवाद मार्ग मार्ग थोड़े ही है, यह तो मजबूरी है; क्योंकि अशुद्धता आदि की परिस्थितियों में पीछी-कमण्डलु के बिना रहना संभव नहीं है। उपकरण रूप उपधि का ग्रहण अपवाद मार्ग है।

वे उपकरण भी अल्प, अनिन्दित और मूर्च्छा से रहित होने चाहिए। यदि कमण्डलु धातु का बना हो, तो धातु के कीमती होने से उसके चोरी होने की संभावना बनी रहती है और यदि चोरी हो जाय तो फिर किससे माँगा जाय ? यदि एक बार धातु के कमण्डलु रखने लगे तो फिर सेठ लोग हीरे जड़े सोने-चाँदी के कमण्डलु देना प्रारंभ कर देंगे। इसलिए कमण्डलु लकड़ी का रखते हैं; क्योंकि कोई इसे ले नहीं जाए।

मुनिराजों को ६ घड़ी सुबह, ६ घड़ी दोपहर, ६ घड़ी शाम सामायिक करनी है, कोई पीछी कमण्डलु को उठाकर नहीं ले जाए - यह चिन्ता यदि अन्दर में रही तो वे कमण्डलु आदि उपधि हो जाएंगे; क्योंकि वे सामायिक में बाधक होंगे।

पीछी-कमण्डलु तो ऐसे होने चाहिए कि कोई ले न जा सके और

उपलब्धि भी सहज हो। आजकल तो दोनों की उपलब्धि ही कठिन हो गई। पीछी भी हजार-हजार रुपए में बनने लगी है। कमण्डलु भी महंगा बनता होगा; लेकिन उसके चोरी जाने की संभावना नहीं है; क्योंकि जितना खर्चा उसके बनने में लगता है, उतना रुपया उसके बेचने पर नहीं आएगा। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि किसी चीज के बनने में पैसा लगना अलग बात है और बाजार में जाकर उसी वस्तु को बेचकर पैसा पैदा करना अलग बात है। सोने या चाँदी का कमण्डलु होगा तो उसको बेचकर तो पैसा प्राप्त किया जा सकता है; लेकिन लकड़ी के कमण्डलु को बेचकर पैसा प्राप्त नहीं किया जा सकता। किसी भी वस्तु के चोरी नहीं जाने का कारण उसको बेचकर पैसा प्राप्त नहीं होना है।

विदेशों में मैंने यह देखा कि अधिकांश मकान काँच के हैं, दरवाजे काँच के हैं, खिड़कियाँ काँच की हैं। एक बार मैंने एक सज्जन से कहा कि आपका यह मकान पूरा काँच का है, यहाँ कोई आकर पैर की ठोकर मारे तो टूट जाय और वह सामान वगैरह ले जा सकता है।

तब उन्होंने कहा कि हमारे पास है क्या, जो कोई ले जाएगा? हमारा सब कुछ बैंकों में रहता है, बीस डॉलर भी कोई नगद नहीं रखता है, सब बैंक से पेमेण्ट होता है।

तब मैंने कहा कि आपके यहाँ टी.वी. आदि महँगी-महँगी उपभोग की सामग्री तो है, तब उन्होंने कहा कि इनको कोई नहीं ले जाएगा; क्योंकि ये सैकण्ड हैण्ड हैं। यहाँ सैकण्ड हैण्ड कारों इतनी पड़ी हैं कि कोई इन्हें हिन्दुस्तान फ्री में भी ले जा सकता है, इन कारों की लाइन लग रही है। यहाँ हिन्दुस्तानी लोग आते हैं, सैकण्ड हैण्ड कार खरीदकर काम चलाते हैं, बाद में फिर वे भी नहीं लेते।

जिसप्रकार अमेरिका में सैकण्ड हैण्ड कारों को बेचने पर अधिक पैसा नहीं मिलता; उसीप्रकार कमण्डलु कितना भी महँगा बने; लेकिन उसको बेचने पर पैसा नहीं मिलता, इसीलिए उसकी चोरी होना

संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में वह शुद्धोपयोग में साधक ही है, बाधक नहीं।

जिसप्रकार कमण्डलु के चोरी होने की संभावना नहीं है; उसीप्रकार गुरु के वचन भी चोरी नहीं हो सकते। किताब चोरी हो सकती है; लेकिन गुरु के वचन नहीं; क्योंकि गुरु के वचन हृदय में जाकर बस चुके हैं। यही कारण है कि पुस्तक के स्थान पर गुरु वचनों को उपकरण माना है।

तदनन्तर 'उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं' – ऐसा उपदेश करनेवाली गाथा २२४ की टीका का भाव इसप्रकार है –

“श्रामण्यपर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं किया गया है – ऐसा शरीर भी परद्रव्य होने से परिग्रह है, अनुग्रह योग्य नहीं; किन्तु उपेक्षा योग्य ही है – ऐसा कहकर भगवन्त अर्हन्तदेवों ने अप्रतिकर्मपने का उपदेश दिया है, तब फिर वहाँ शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धि की संभावना के रसिक पुरुषों के शेष अन्य परिग्रह अनुग्रह योग्य कैसे हो सकता है? – ऐसा उन अर्हन्तदेवों का आशय व्यक्त ही है। इससे निश्चित होता है कि उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं। तात्पर्य यह है कि वस्तुधर्म होने से परम निर्ग्रथपना ही अवलम्बन योग्य है।”

टीका में स्पष्ट रूप से शरीर को भी उपधि अर्थात् परिग्रह ही कहा है, शरीर परद्रव्य होने से परिग्रह ही है। यह शरीर मुनिराजों द्वारा चिन्ता करने योग्य नहीं है। शरीर को त्यागना आत्महत्या है, अपराध है; यद्यपि मुनिराज आत्महत्या नहीं कर सकते; तथापि यह शरीर उपेक्षा योग्य ही है, अनुग्रह योग्य नहीं। शरीर बाहर की वस्तु होने से राग करने लायक नहीं है; क्योंकि यह भी बाह्य परिग्रह है।

मैं एक बात और स्पष्ट करना चाहता हूँ कि हम लोग तो इस ओर अग्रसर होते हैं कि राग अपना नहीं है, केवलज्ञान अपना नहीं है; किन्तु आचार्य तो शरीर से प्रारम्भ करके स्त्री, पुत्रादि अपने नहीं है – इस ओर अग्रसर हो रहे हैं और वह भी श्रमणों के संदर्भ में। यह बात मुमुक्षुओं को भी समझने योग्य है और श्रमणों को भी।

समस्या यह है कि इस बात की उपेक्षा कर हम सभी परिग्रह जोड़ रहे हैं। 'केवलज्ञान भी अपना नहीं है' - यह कहनेवाले भी सुबह से लेकर शाम तक बढिया खाना-पीना, कमाने में ही लग रहे हैं। इतना सब होने के बाद भी सभी को सम्यग्दर्शन चाहिए, सम्यक्चारित्रवंत भी बनना है, मोक्ष भी जाना है। किसी को छोटा तो बनना ही नहीं है, सभी को चक्रवर्ती बनना है - चाहे वे चारित्र के चक्रवर्ती हो या सम्यग्दर्शनादि के।

इसके बाद गाथा २२५ इसप्रकार है -

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं ।

गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्जयणं णिद्धिट्ठं ॥२२५॥

(हरिगीत)

जन्मते शिशुसम नगन तन विनय अर गुरु के वचन ।

आगम पठन हैं उपकरण जिनमार्ग का ऐसा कथन ॥२२५॥

यथाजातरूप नग्न लिंग भी जिनमार्ग में उपकरण कहा गया है और गुरु के वचन, सूत्रों का अध्ययन और विनय भी उपकरण कही गई है।

शरीर, गुरु के वचन, सूत्रों का अध्ययन और विनय - इन्हें उपकरण कहा है अर्थात् ये भी परिग्रह या उपधि है। ये अपवाद मार्ग है, उत्सर्ग मार्ग नहीं।

सर्वप्रथम तो शरीर को उपकरण कहा। वह शरीर भी जैसा माँ के पेट से पैदा हुआ था, वैसा शरीर। शरीर के ऊपर जो बाल उग आते हैं; उन्हें भी उखाड़ना पड़ेगा; क्योंकि जन्मजात शरीर में बाल नहीं थे। इसप्रकार शरीर को उपकरण कहने के बाद गुरु के वचन और सूत्रों के अध्ययन को भी उपकरण कहा। जो सूत्र गुरु ने अपने मुख से बताए, वे गुरुजी के वचन भी परिग्रह हैं और उन सूत्रों का चिंतन, अध्ययन भी परिग्रह है।

यहाँ पर उन्होंने गुरु के वचन और सूत्रों के अध्ययन को उपकरण कहा है न कि शास्त्र को। मुझे एक विकल्प हमेशा आता है कि मुनिराज किसप्रकार पीछी, कमण्डलु और शास्त्र - ये तीन चीजें रख सकते हैं; क्योंकि यदि पीछी-कमण्डलु पकड़ेंगे, तब शास्त्र कैसे पकड़ेंगे ?

दूसरी बात यह भी है कि दूसरों को पकड़ा नहीं सकते हैं। मान लो, यदि दूसरों को पीछी-कमण्डलु पकड़ाते हैं और यदि वे नहीं आते हैं तो फिर मुनिराज कैसे जा सकते हैं ? उनकी जाने की स्वतंत्रता कहाँ रही ? पीछी-कमण्डलु पकड़ने वाले कहे कि हम तो महाराज के पीछे-पीछे आ ही रहे हैं, तो भी महाराजजी को पीछे तो देखना ही पड़ेगा कि वे आ रहे हैं या नहीं ? ये उपकरण तो महाराजजी को २४ घण्टे ही चाहिए; क्योंकि यदि उन्हें कहीं बैठना हो, तो जीव-जन्तुओं को हटाने के लिए पीछी चाहिए। इसप्रकार जब मुनिराज एक हाथ में पीछी लेंगे और एक हाथ में कमण्डलु, तब शास्त्र किसप्रकार लेंगे ? इसलिए गुरु के वचन उपकरण हैं न कि शास्त्र।

गुरु की विनय को भी गाथा में उपकरण कहा है अर्थात् गुरु की विनय अपवाद मार्ग है। मन से, वचन से एवं काय से की गई गुरु की विनय शुभोपयोग है; क्योंकि यह परलक्ष्यी भाव है। इसलिए ये सभी उपकरण अपवाद मार्ग हैं, परिग्रह हैं।

इस संदर्भ में इसी गाथा की टीका का भाव इसप्रकार है -

“इसमें जो अनिषिद्ध परिग्रह है, वह श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारण के रूप में उपकार करनेवाला होने से उपकरणभूत है, दूसरा नहीं। उसके विशेष भेद इसप्रकार हैं - सहजरूप से अपेक्षित यथाजातरूपपने के कारण जो बहिरंग लिंगभूत हैं - ऐसे कायपुद्गल; जिनका श्रवण किया जाता है - ऐसे तत्कालबोधक, गुरु द्वारा कहे जाने पर आत्मतत्त्व-द्योतक, उपदेशरूप वचनपुद्गल तथा जिनका अध्ययन किया जाता है - ऐसे नित्यबोधक, अनादिनिधन शुद्ध आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने में समर्थ श्रुतज्ञान के साधनभूत शब्दात्मक सूत्रपुद्गल और शुद्ध आत्मतत्त्व को व्यक्त करनेवाली जो दार्शनिक पर्यायें, उनरूप से परिणमित पुरुष के प्रति विनीतता का अभिप्राय प्रवर्तित करनेवाले चित्रपुद्गल। यहाँ ऐसा तात्पर्य है कि काय की भाँति वचन और मन भी वस्तुधर्म नहीं है।”

उपरोक्त टीका में कहा है कि कायपुद्गल, वचनपुद्गल, सूत्रपुद्गल और चित्रपुद्गल - इन चार पुद्गलों की उपधि होती है अर्थात् चार पुद्गलों का ग्रहण होता है। कायपुद्गल तो शरीर हैं। गुरु के द्वारा कहे जाने पर आत्मतत्त्व द्योतक, सिद्ध उपदेशरूप वचनपुद्गल हैं। यहाँ वचनपुद्गल में गुरु के द्वारा कहे जानेवाले कहा है न कि लिखे जानेवाले।

मैं इस संबंध में कुछ अधिक नहीं कहना चाहता हूँ; क्योंकि मुनिराज तो शास्त्र रखते हैं, इसमें मुझे कुछ ऐतराज भी नहीं है; क्योंकि वे स्वाध्याय करेंगे तो बाह्य झंझटों से दूर रहेंगे। मैं तो यह बताना चाहता हूँ कि वचन तत्कालबोधक होते हैं, गुरु के द्वारा मुँह से जो वचन निकले, वे ही वचनपुद्गल हैं। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस रूप में शब्दात्मक सूत्रपुद्गल होते हैं। मन में जो नमस्कार करने के भाव आते हैं; विनीतता के भाव होते हैं; विनय के भाव होते हैं, वे चित्रपुद्गल हैं।

इसप्रकार इन पुद्गलों के परिग्रह को उपधि कहा है। यह उपधि भी अपवादमार्ग है, उत्सर्गमार्ग नहीं।

इस संबंध में मैं यह कहना चाहता हूँ कि हर मुनि उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग की मैत्रीवाले होते हैं। ऐसा नहीं होता है कि कोई मुनि उत्सर्गमार्गी हो और कोई मुनि अपवादमार्गी। हर मुनि उत्सर्गमार्गी भी है और पीछी-कमण्डलु, गुरु की विनय आदि के कारण अपवादमार्गी भी हैं।

जो मुनि एकल विहारी हो जाते हैं, उनके वचनपुद्गलरूप उपधि भी नहीं रहती; क्योंकि एकलविहारी होने से वे मौन ले लेते हैं, इसलिए बोलनेरूप वचनपुद्गल का परिग्रह नहीं रहता और आचार्यों के पास नहीं रहने से उपदेश नहीं सुनते हैं; अतः सुननेरूप वचनपुद्गल भी नहीं रहता। कई मुनि एकलविहारी हो जाते हैं। जो तद्भवमोक्षगामी होते हैं, वे एकलविहारी होते हैं। बाहुबली एकलविहारी थे; अतएव न वे बोलते थे, न सुनते थे। ऋषभदेव स्वयं भी एकलविहारी थे, उनके पास भी वचनपुद्गलरूप परिग्रह नहीं था, मात्र कायपुद्गल की उपधि थी।

तदनन्तर आचार्य ने उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग की मैत्री का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। उसी के अन्तर्गत उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री द्वारा आचरण के सुस्थितपने का उपदेश करनेवाली २३०वीं गाथा इसप्रकार है-
बालो वा बुद्धो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।

चरियं चरदु सजोगं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥२३०॥

(हरिगीत)

मूल का न छेद हो इस तरह अपने योग्य ही।

वृद्ध बालक श्रान्त रोगी आचरण धारण करें ॥२३०॥

बाल, वृद्ध, श्रान्त या ग्लान श्रमण मूल का छेद जैसे न हो; उसप्रकार से अपने योग्य आचरण करो।

इस गाथा में यह कहा है कि कोई मुनिराज बालक हों, वृद्ध हों, थके हुए हो या बीमार हों; तो वे मुनिराज मूल का छेद न हो जाए - इसप्रकार अपनी चर्या में आचरण करें अर्थात् कठोर आचरण नहीं करें; क्योंकि यदि कोई बाल, वृद्ध या बीमार मुनि ८-८ दिन का उपवास करेंगे तो धर्म में बाधा खड़ी होगी, इसलिए वे मुनिराज कोमल आचरण करें।

इस बात पर आचार्यदेव ने बहुत बढ़िया तर्क दिया है कि यदि बाल या वृद्ध साधु कठोर आचरण करेंगे तो देह छूट जाएगी और यदि देह छूटी तो स्वर्ग में जाएंगे। स्वर्ग में पहुँचते ही वे छटवें गुणस्थान से चौथे गुणस्थान में आ जाएंगे। मुनि-अवस्था में छटवें गुणस्थान के योग्य संयम पल रहा था; पर स्वर्ग में पहुँचते ही असंयमी हो जाएंगे। मुनिराज की मनुष्य देह का छूटना संयम का छूटना है। 'असंयमी न हो जाय' इसलिए मुनिराज मृत्यु भी नहीं चाहते और 'संयम भंग हो' इस कीमत पर जीवन को भी नहीं चाहते। अतएव उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग में मैत्री होनी चाहिए।

इसप्रकार आचार्यदेव ने कहा कि देह की स्थिति के अनुसार आचरण करना चाहिए। यह देह अनुग्रह योग्य भी नहीं है और देह छूट जाय - ऐसा आचरण भी योग्य नहीं है।

आचार्य के स्वरूप के संबंध में उनका कहना है कि आचार्य बालक भी न हों, वृद्ध भी न हों और बीमार भी न हों; आचार्य तो ज्ञानवृद्ध होना चाहिए। आचार्य वयविशिष्ट, ज्ञानविशिष्ट एवं देहविशिष्ट होना चाहिए। आचार्य यदि बालक होंगे तो अनुभवी नहीं होंगे और दूसरे साधुओं को भी उनकी बात मानने में संकोच होगा; इसलिए आचार्य को वयविशिष्ट होना चाहिए। आचार्य वृद्ध नहीं होना चाहिए। जब वे अपनी चर्या ही मुश्किल से निभा पाएंगे, तो दूसरों से क्या कहेंगे। जब वे स्वयं शिथिलता का अनुभव करेंगे तो कठोरता के पक्षपाती कैसे होंगे? इसप्रकार वे सबकी शिथिलता को भी आसानी से बर्दाश्त करेंगे।

अत्यधिक जवान व्यक्ति भी आचार्य नहीं बन सकते; क्योंकि यदि आचार्य जवान होंगे तो उनकी अधिकांश शक्ति यौवन के उद्रेक से संघर्ष करने में ही निकल जाएगी। इसीलिए आचार्य न तो बूढ़े हों, न जवान हों, न बालक हों। आचार्य प्रौढ़ होना चाहिए अर्थात् बालकपना निकल गया हो, गंभीरता आ गई हो, शरीर ज्यादा शिथिल न हुआ हो; जिससे उठने-बैठने में तकलीफ न हो - इसप्रकार प्रत्येक मुनिराज की शरीर और मन की स्थिति के अनुसार उत्सर्ग और अपवादमार्ग की मैत्री होनी चाहिए। 'मुनिराज को आचरण में क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए' इसका निर्धारण या तो मुनिराज स्वयं करते हैं या उनके आचार्य करते हैं।

शास्त्रों में तो यह भी आता है कि आचार्य एक ही गलती के लिए दो मुनिराजों को अलग-अलग प्रायश्चित्त देते हैं। किसी मुनिराज को उसी गलती के लिए ४ दिन का उपवास करने के लिए कहते हैं और अन्य मुनिराज को उसी गलती के लिए ४ दिन तक प्रतिदिन आहार लेने के लिए कहते हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है; क्योंकि जिन्हें ४ दिन का उपवास करने के लिए कहा गया, वे मुनिराज जवान थे; अतः प्रतिदिन आहार लेने से आलस्य आने से सामायिक में नींद आ गई थी एवं दूसरे मुनिराज थोड़े वृद्ध थे, उनकी कमर में दर्द होने से उठने-बैठने, चलने में

तकलीफ होती थी अर्थात् उनमें कमजोरी आ गई थी, जिससे उन्हें सामायिक में नींद आ गई थी; इसलिए उन्हें ४ दिन तक प्रतिदिन आहार लेने के लिए कहा गया। इसीलिए यद्यपि दोनों का अपराध एक-सा था; तथापि उन्हें दण्ड अलग-अलग दिया गया। इसप्रकार आचार्य ऐसा आचरण करवाते हैं, जिससे उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग की मैत्री बनी रहे।

देशकालज्ञ को भी, यह वह बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से आहार-विहार में मृदु आचरण में प्रश्न होने से अल्पलेप होता ही है, लेप का सर्वथा अभाव नहीं होता; इसलिए उत्सर्ग अच्छा है।

देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से, आहार-विहार में मृदु आचरण में प्रवृत्त होने से अल्प ही लेप होता है; इसलिये अपवाद अच्छा है।

देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से, जो आहार-विहार है, उससे होनेवाले अल्पलेप के भय से उसमें प्रवृत्ति न करे तो अति कर्कश आचरणरूप होकर अक्रम से शरीरपात करके देवलोक प्राप्त करके जिसने समस्त संयमामृत का समूह वमन कर डाला है; उसे तप का अवकाश न रहने से, जिसका प्रतीकार अशक्य है - ऐसा महान लेप होता है; इसलिये अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेयस्कर नहीं है।

देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से आहार-विहार से होनेवाले अल्पलेप को न गिनकर उसमें यथेष्ट प्रवृत्ति करे तो अपवाद से होनेवाले अल्पबन्ध के प्रति असावधान होकर उत्सर्गरूप ध्येय को चूककर अपवाद में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवर्ते तो, मृदु आचरणरूप होकर संयम विरोधी को जिसका प्रतीकार अशक्य है - ऐसा महान लेप होता है; इसलिए उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद श्रेयस्कर नहीं है।

उत्सर्ग और अपवाद के विरोध से होनेवाले आचरण का दुःस्थितपना

सर्वथा निषेध्य है; इसीलिए परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवाद से जिसकी वृत्ति प्रगट होती है - ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनुसरण करने योग्य है।

इस गाथा के साथ ही आचरणप्रज्ञापन नामक अधिकार समाप्त हो जाता है; तदनन्तर गाथा २३२ से मोक्षमार्गप्रज्ञापन अधिकार प्रारंभ होता है। इस अधिकार में गजब की बात तो यह है कि इस अधिकार का नाम तो मोक्षमार्गप्रज्ञापन है; लेकिन इसमें आचार्य ने जोर स्वाध्याय पर दिया है।

इस अवान्तर अधिकार की पहली गाथा इसप्रकार है -

**एयगगदो समणो एयगं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥२३२॥**
(हरिगीत)

स्वाध्याय से जो जानकर निज अर्थ में एकाग्र हैं।

भूतार्थ से वे ही श्रमण स्वाध्याय ही बस श्रेष्ठ हैं ॥२३२॥

श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है; एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान के होती है; पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है; इसलिए आगम में व्यापार मुख्य है।

इस गाथा में यह कहा है कि श्रमण एकाग्रतावाला होता है। एकाग्रता में 'एक' का अर्थ त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा है और 'अग्रता' का तात्पर्य जिसकी ओर उपयोग की मुख्यता है। इसप्रकार 'एकाग्रता' का तात्पर्य त्रिकाली ध्रुव आत्मा की ओर उपयोग करना है। एकाग्रता के बिना श्रमणता अर्थात् मुनिपना नहीं होता। एकाग्रता जिसने पदार्थों को अच्छी तरह जाना है, उसको ही होती है। जिसने वस्तु का स्वरूप ही नहीं समझा है, उसे एकाग्रता नहीं हो सकती। पदार्थों का निश्चय आगम से ही होता है।

इसप्रकार इस गाथा में आचार्य ने स्वाध्याय पर जोर दिया है। यह एक ऐसी गाथा है; जिसे दीवालों पर लिखा जाना चाहिए। मुझे भी यह गाथा इतनी प्रिय लगी कि मैंने इसका संकलन कुन्दकुन्दशतक में भी किया है।

इसके बाद "आगमहीन के कर्मक्षय नहीं होता" - ऐसा प्रतिपादन

करनेवाली गाथा २३३ इसप्रकार है -

**आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्मणि किध भिक्खू ॥२३३॥**
(हरिगीत)

जो श्रमण आगमहीन हैं वे स्व-पर को नहीं जानते।

वे कर्मक्षय कैसे करें जो स्व-पर को नहीं जानते ॥२३३॥

आगमहीन श्रमण आत्मा को (निज को) और पर को नहीं जानता। पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु कर्मों को किसप्रकार क्षय करे ?

इस गाथा में यह कहा गया है कि जो श्रमण आगमहीन है, वह सही रूप से न अपने आत्मा को जानता है और न ही पर को जानता है तथा जो आत्मा को नहीं जानता है, वह कर्मों का नाश कैसे करेगा ? इसलिए आगम का स्वाध्याय करना ही सर्वश्रेष्ठ है।

तदनन्तर, 'मोक्षमार्ग पर चलनेवालों को आगम ही एक चक्षु है' - ऐसा उपदेश करनेवाली २३४ वीं गाथा इसप्रकार है -

**आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खु ॥२३४॥**
(हरिगीत)

साधु आगमचक्षु इन्द्रियचक्षु तो सब लोक है।

देव अवधिचक्षु अर सर्वात्मचक्षु सिद्ध हैं ॥२३४॥

साधु आगमचक्षु हैं, सर्वप्राणी इन्द्रियचक्षु हैं, देव अवधिचक्षु हैं और सिद्ध सर्वतःचक्षु हैं।

इस गाथा में यह कहा है कि साधु आगमचक्षु हैं और सारी दुनिया इन्द्रियचक्षु है। सारा लोक तो आँखों से देखनेवाला है और साधु आगम से देखते हैं। यदि आगम में लिखा है कि आलू में अनन्त जीव होते हैं तो फिर आलू में अनन्त जीव होते ही हैं। साधु उसमें जाँच करने नहीं बैठते हैं। इसप्रकार साधु आगम के आधार से अपना आचरण करते हैं; इसलिए वे आगमचक्षु हैं।

इस गाथा की टीका की अंतिम पंक्ति में लिखा है कि मुमुक्षुओं को सब कुछ आगमरूप चक्षु द्वारा ही देखना चाहिए। मैं इस पंक्ति की ओर इसलिए ध्यान आकर्षित करा रहा हूँ; क्योंकि हम सब मुमुक्षु हैं। मुमुक्षु को आगम के आधार से निर्णय करना चाहिए।

इसके बाद, 'आगमरूप चक्षु से सब कुछ दिखाई देता ही है' - ऐसा समर्थन करनेवाली गाथा २३५ इसप्रकार है -

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं ।

जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥२३५॥

(हरिगीत)

जिन-आगमों से सिद्ध हों सब अर्थ गुण-पर्यय सहित ।

जिन-आगमों से ही श्रमणजन जानकर साधें स्वहित ॥२३५॥

समस्त पदार्थ अनेकप्रकार की गुण-पर्यायों सहित आगमसिद्ध हैं। उन्हें भी वे श्रमण आगम द्वारा वास्तव में देखकर जानते हैं।

इस गाथा में यह कहा है कि सभी पदार्थ - द्रव्य-गुण-पर्याय आगम से ही सिद्ध हैं। आगम के बिना हम यह भी निर्णय नहीं कर सकते हैं कि क्या खाद्य है और क्या अखाद्य।

अरे भाई ! विभिन्न खाद्य-अखाद्य पदार्थों की जानकारी हमें विभिन्न आगमों से ही प्राप्त होती है। हमें क्या खाना चाहिए और क्या नहीं खाना चाहिए - इसका निर्धारण हम अपने ज्ञान से नहीं कर सकते।

यदि हम आगम को नहीं मानेंगे तो फिर यह भी नहीं कह सकते कि २४ तीर्थकर हुए हैं। बहुत-सी बातें हम ऐसी भी मानते हैं, जो हमारे उन पूर्वजों ने बताई हैं, जिन्हें हमने देखा भी नहीं है। यदि हम आगम नहीं माने तो हम यह भी नहीं बता सकते कि हमारे बाप के बाप भी थे।

अरे भाई ! पूर्वजों के द्वारा बताई हुई बात को ही आगम कहते हैं। लौकिक मामले में भी आगम है। आगम से ही समस्त निर्णय होते हैं; अतः मुमुक्षुओं को भी आगमचक्षु होना चाहिए।

अब, आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व का युगपत्पना होने पर भी, आत्मज्ञान मोक्षमार्ग का साधकतम - यह समझानेवाली २३८वीं गाथा इसप्रकार है -

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।

तं णाणी तिहिं गुत्तो सवेदि उस्सासमेत्तेण ॥२३८॥

(हरिगीत)

विज्ञ तीनों गुप्ति से क्षय करें स्वासोच्छ्वास में।

ना अज्ञ उतने कर्म नाशे भव हजार करोड़ में ॥२३८॥

जो कर्म अज्ञानी लक्षकोटि भवों में खपाता है, वह कर्म ज्ञानी तीन प्रकार (मन-वचन-काय) से गुप्त होने से उच्छ्वासमात्र में खपा देता है।

इस गाथा का पद्यानुवाद छहढाला की चौथी ढाल के पाँचवें छन्द में इसप्रकार किया है -

कोटिजन्म तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरें जे ।

ज्ञानी के छिनमाँहि त्रिगुप्ति तै सहज टरें ते ॥

आगमज्ञानी आत्मज्ञानी तो होते ही हैं। वह आगमज्ञान भी आत्म-ज्ञान के लिए ही है; क्योंकि यदि आत्मज्ञान नहीं करना हो तो आगमज्ञान की भी क्या जरूरत है ? मोक्षमार्ग पर चलने के लिए आगमज्ञान अत्यंत आवश्यक है।

तदनन्तर आत्मज्ञानशून्य के सर्व आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयतत्व का युगपत्पना भी अकिंचित्कर है - यह उपदेश करनेवाली २३९वीं गाथा इसप्रकार है -

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो ।

विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥२३९॥

(हरिगीत)

देहादि में अणुमात्र मूर्च्छा रहे यदि तो नियम से।

वह सर्व आगम धर भले हो सिद्धि वह पाता नहीं ॥२३९॥

और यदि जिसके शरीरादि के प्रति परमाणुमात्र भी मूर्च्छा वर्तती हो

तो वह भले ही सर्वांगम का धारी हो, तथापि सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।

आगम की महिमा गाते-गाते आचार्यदेव सावधान करते हुए कहते हैं कि सर्वांगम का धारी होने पर भी यदि देहादि के प्रति परमाणुमात्र भी मूर्च्छा है तो वह सिद्धि को प्राप्त नहीं होगा। मूर्च्छा का अर्थ है ममत्व परिणाम - एकत्वबुद्धि-ममत्वबुद्धि।

यहाँ मैं एक बात पर ध्यान आकर्षित कराना चाहता हूँ कि यहाँ आचार्यदेव ने देहादि के प्रति मूर्च्छा की बात पर वजन दिया है। यहाँ तक कि रागादि के प्रति भी मूर्च्छा की बात नहीं की। यदि देहादिक में मूर्च्छा है, तो मूर्च्छा में भी मूर्च्छा है। यदि देह के प्रति मूर्च्छा का निषेध हो गया, तो विकारी पर्याय अर्थात् रागादि के प्रति मूर्च्छा का भी निषेध हो गया और पर का भी निषेध हो गया।

तात्पर्य यह है कि आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व के साथ-साथ आत्मज्ञान के होने की शर्त भी है।

समसत्तुबंधुवगो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।

समलोट्टकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥२४१॥

(हरिगीत)

कांच-कंचन बन्धु-अरि सुख-दुःख प्रशंसा-निन्द में।

शुद्धोपयोगी श्रमण का समभाव जीवन-मरण में ॥२४१॥

जिसे शत्रु और बन्धुवर्ग समान है, सुख और दुःख समान है, प्रशंसा और निंदा समान है, जिसे लोष्ट (मिट्टी का ढेला) और सुवर्ण समान है तथा जीवन-मरण के प्रति समानता का परिणाम है, वह सच्चा श्रमण है।

इसी गाथा का अनुवाद छहढाला की छटवीं ढाल के छटवें छन्द में इसप्रकार किया है -

अरि मित्र महल मसान कंचन काँच निंदन थुति करन ।

अर्घावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन ॥

तदनन्तर 'आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व के युगपत्पने के साथ आत्मज्ञान के युगपत्पने की सिद्धिरूप जो यह संयतपना है, वही मोक्षमार्ग है, जिसका दूसरा नाम एकाग्रता लक्षणवाला श्रामण्य है' इसका समर्थन

करनेवाली गाथा २४२ इसप्रकार है -

दंसणणाण चरित्तिसु तीसु जुगवं समुट्टिदो जो दु ।

एयग्गदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥२४२॥

(हरिगीत)

ज्ञानदर्शनचरण में युगपत् सदा आरूढ हो।

एकाग्रता को प्राप्त यति श्रामण्य से परिपूर्ण हैं ॥२४२॥

जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों में एक ही साथ आरूढ है; वह एकाग्रता को प्राप्त है - इसप्रकार शास्त्रों में कहा है। उसके ही परिपूर्ण श्रामण्य है।

तदनन्तर, 'अनेकाग्रता के मोक्षमार्गपना घटित नहीं होता' - यह दर्शानेवाली गाथा २४३ इसप्रकार है -

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज ।

जदि समणो अण्णाणी बज्जदि कम्महिं विविहेहिं ॥२४३॥

(हरिगीत)

अज्ञानि परद्रव्याश्रयी हो मुग्ध राग-द्वेषमय।

जो श्रमण वह ही बाँधता है विविध विध के कर्म सब ॥२४३॥

यदि श्रमण, अन्य द्रव्य का आश्रय करके अज्ञानी होता हुआ, मोह करता है, राग करता है, अथवा द्वेष करता है, तो वह विविध कर्मों से बंधता है।

इसके बाद, एकाग्रता वह मोक्षमार्ग है - ऐसा निश्चित करते हुए मोक्षमार्गप्रज्ञापन अधिकार का उपसंहार करते हैं -

अट्टेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि ।

समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥२४४॥

(हरिगीत)

मोहित न हो जो लोक में अर राग-द्वेष नहीं करें।

वे श्रमण ही नियम से क्षय करें विध-विध कर्म सब ॥२४४॥

यदि श्रमण पदार्थों में मोह नहीं करता, राग नहीं करता, और न द्वेष को प्राप्त होता है तो वह नियम से विविध कर्मों को खपाता है।

तेईसवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम में समागत चरणानुयोगसूचक चूलिका में शुभोपयोगप्रज्ञापन नामक अवान्तर अधिकार पर चर्चा हो रही है।

सर्वप्रथम, समझने की बात यह है कि हम लोग जो ऐसा समझते हैं कि मुनिराज दो प्रकार के होते हैं - एक शुद्धोपयोगी तथा दूसरे शुभोपयोगी, पर ऐसा नहीं है। एक ही मुनिराज के कभी शुद्धोपयोग होता है तथा कभी शुभोपयोग होता है। यह एक ही मुनिराज के दो उपयोग की बात है; क्योंकि इस गाथा में स्पष्ट लिखा है कि धर्म से परिणमित स्वरूपवाले आत्मा के ये भेद हैं। शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी - ये भेद धर्मात्माओं के हैं; धर्म से परिणमित मुनिराजों के हैं।

जो नग्न दिगम्बर हैं, अट्टाईस मूलगुणों का पालन करते हैं, प्रत्येक अन्तर्मुहुर्त में शुद्धोपयोग में जाते हैं - ऐसे मुनिराज जब शुद्धोपयोग में जाते हैं, तब शुद्धोपयोगी हैं तथा जब छटवें गुणस्थान में जाते हैं, तब शुभोपयोगी हैं।

यह बात बहुत स्पष्ट है कि चाहे वे शुद्धोपयोग में हो या शुभोपयोग में - तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप निर्मल परिणति सदा विद्यमान होने से वे धर्मात्मा ही हैं। शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी ये एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं तथा ये भेद तो समझाने के लिये किए गए हैं।

इस शुभोपयोगप्रज्ञापन नामक अधिकार में यही कहा गया है कि शुद्धोपयोग और शुभोपयोग - ये दोनों ही एक ही व्यक्ति में संभव है।

मैं तो यह भी बताना चाहता हूँ कि शुभोपयोगी मुनिराज तो वे कुन्दकुद भी थे, जिन्होंने समयसार लिखा तथा यदि आचार्य अमृतचन्द्र शुभोपयोग में नहीं आते, तो हमें आत्मख्याति भी उपलब्ध नहीं होती।

जो शुद्धोपयोगी हैं, वे मोक्ष को प्राप्त करेंगे तथा जो शुभोपयोगी हैं, वे स्वर्गसुख को प्राप्त करेंगे। गाथा में शुद्धोपयोगी को निरास्रव तथा

शुभोपयोगी को सास्रव कहा है अर्थात् शुद्धोपयोगी आस्रव से रहित हैं तथा शुभोपयोगी आस्रव से सहित हैं। यहाँ आचार्य यह बता रहे हैं कि भले ही शुभोपयोग शुद्धोपयोग के साथ हो; लेकिन वह शुभोपयोग बंध का ही कारण है और शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण है। तद्भवमोक्षगामियों का शुभोपयोग भी बंध का ही कारण है।

यहाँ आचार्यदेव इस बात का ज्ञान कराना चाहते हैं कि मुनिराज को शुभोपयोग में देखकर उनका निषेध कर दें - यह भी सही नहीं है तथा शुभोपयोग को मुक्ति का कारण मानना भी उचित नहीं है।

यद्यपि जिनवाणी में शुभोपयोग को परम्परा से मोक्ष का कारण कहा है, व्यवहारनय से मुक्ति का कारण कहा है; लेकिन उसका अर्थ यह है कि वास्तव में शुभोपयोग मुक्ति का कारण नहीं है। 'शुभोपयोग परम्परा से मुक्ति का कारण है' इसका तात्पर्य यह है कि यह जीव अगले भवों में मोक्ष जाएगा तथा इससे अर्थ यह निकलता है कि इस भव में मोक्ष नहीं जाएगा। 'शुभोपयोग से परम्परा से मोक्ष मिलेगा' अर्थात् साक्षात् नहीं मिलेगा अर्थात् इस भव में मोक्ष नहीं मिलेगा। 'शुभोपयोग परम्परा से मुक्ति का कारण है' यह निषेध करने की सभ्य भाषा है।

इस प्रकरण में अभीतक एक बात अच्छी तरह स्पष्ट हो चुकी है कि एक ही मुनि कभी शुभोपयोगी होते हैं तथा कभी शुद्धोपयोगी होते हैं तथा दोनों ही अवस्था में वे ३ कषाय चौकड़ी से रहित होते हैं। उनका शुभोपयोग बंध का कारण है तथा शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण है।

इसके बाद, शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण बतानेवाली अगली गाथा इसप्रकार है -

अरहंतादिसु भन्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्सेसु ।

विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥२४६॥

(हरिगीत)

वात्सल्य प्रवचनरतों में अर भक्ति अर्हत् आदि में।

बस यही चर्या श्रमणजन की कही शुभ उपयोग है ॥२४६॥

श्रामण्य में यदि अर्हन्तादि के प्रति भक्ति तथा प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य पाया जाता है तो वह शुभयुक्त चर्या (शुभोपयोगी चारित्र) है।

इस गाथा में आचार्य ने दो बातें ग्रहण की हैं - प्रथम तो अरहंतों के प्रति भक्ति और दूसरी प्रवचन में प्रेम रखनेवालों के प्रति वात्सल्य।

जिसप्रकार लौकिक क्षेत्र में कुछ लोग अपने से बड़े होते हैं, कुछ बराबरी के होते हैं तथा कुछ छोटे होते हैं। हमारे माता-पिता, मामा-मामी, बुआ-फूफा, बड़े भाई व गुरुजन अध्यापक आदि बड़े लोग हैं। मित्रजन बराबरी के और अनुज व पुत्रादि छोटे होते हैं। मित्रजनों में भी कुछ छोटे और कुछ बड़े होते हैं। इसप्रकार लौकिक व्यवहार के लिए हम उन्हें दो भागों में ही बाँटते हैं - छोटे और बड़े।

उसीप्रकार इस गाथा में आचार्य से लेकर अरहंतों तक को एक श्रेणी में लिया, उनके प्रति मुनिराज भक्ति करते हैं तथा अपनी बराबरी एवं छोटे लोगों से वात्सल्य रखते हैं। यह अर्हन्तादि के प्रति भक्ति और प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्यरूप शुभभाव है।

गृहस्थ दशा में यदि पिताजी और माताजी मिथ्यादृष्टि हो तथा बेटा सम्यग्दृष्टि हो; तब भी बेटा अपने माता-पिता के पैर छुएगा, उचित सेवा-सम्मान करेगा; लेकिन यह वह पारिवारिक संबंध की वजह से कर रहा है, धर्म के कारण नहीं कर रहा है। ऐसा करने से उसे पुण्य-पाप एवं धर्म कुछ नहीं होगा; परन्तु मुनि अवस्था में यह नहीं हो सकता; क्योंकि उन्होंने तो समस्त व्यावहारिक संबंधों का परित्याग करके दीक्षा ले ली है। जब उन्होंने दीक्षा ली थी; उसीसमय अपने माता-पिता से यह कह दिया था कि न तुम मेरे माँ-बाप हो और न मैं तुम्हारा बेटा। अतएव मुनिदीक्षा लेने के बाद माँ-बाप जैसा व्यवहार नहीं होगा। इसप्रकार जो चारित्र में तथा धर्म में बड़े हैं, उनके प्रति मुनिराज भक्ति करते हैं तथा अपने से छोटों के प्रति वात्सल्यभाव रखते हैं। - यही भक्ति और वात्सल्य शुभोपयोगरूप है।

तदनन्तर, शुभोपयोगी श्रमणों की प्रवृत्ति बतलानेवाली गाथा २४७ इसप्रकार है -

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्टाणाणुगमणपडिवत्ती।

समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रागचरियम्हि ॥२४७॥

(हरिगीत)

श्रमणजन के प्रति बंदन नमन एवं अनुगमन।

विनय श्रमपरिहार निन्दित नहीं हैं जिनमार्ग में ॥२४७॥

श्रमणों के प्रति वन्दन, नमस्कार सहित अभ्युत्थान और अनुगमनरूप विनीत प्रवृत्ति करने तथा उनका श्रम दूर करनेरूप रागचर्या निन्दित नहीं है।

इस गाथा में श्रमणों के प्रति वन्दन, नमस्कार, अभ्युत्थान एवं अनुगमनरूप प्रवृत्ति तथा उनके श्रम दूर करने को निंदा करने योग्य नहीं लिखा। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि भाषा ऐसी है कि 'निन्दित नहीं है' यहाँ ये सब अच्छी हैं, यह नहीं लिखा।

मुझे तो ऐसा लगता है कि यह गाथा सीधे मुमुक्षुओं के लिए लिखी गई हो तथा यदि स्पष्ट शब्दों में कहूँ तो यह गाथा शुभोपयोग के कारण मुनियों की निन्दा करनेवालों के लिए लिखी गई है। इन क्रियाओं से मोक्ष नहीं होगा, अपितु बन्ध ही होगा; लेकिन उस भूमिका में ये क्रियायें निन्दा योग्य भी नहीं हैं।

इसी संबंध में इसी गाथा की टीका का भाव इसप्रकार है -

“शुभोपयोगियों के शुद्धात्मा के अनुरागयुक्त चारित्र होता है; इसलिए जिन्होंने शुद्धात्मपरिणति प्राप्त की है - ऐसे श्रमणों के प्रति जो वन्दन, नमस्कार, अभ्युत्थान, अनुगमनरूप विनीत वर्तन की प्रवृत्ति तथा शुद्धात्म-परिणति की रक्षा की निमित्तभूत ऐसी जो श्रम दूर करने की वैयावृत्त्यरूप प्रवृत्ति है; वह शुभोपयोगियों के लिये दूषित (दोषरूप, निन्दित) नहीं है। अर्थात् शुभोपयोगी मुनियों के ऐसी प्रवृत्ति का निषेध नहीं है।”

‘शुभोपयोगियों के ही ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं’ - ऐसा प्रतिपादन करनेवाली गाथा २४८ इसप्रकार है -

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।

चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥२४८॥

(हरिगीत)

उपदेश दर्शन-ज्ञान-पूजन शिष्यजन का परिग्रहण ।

और पोषण ये सभी हैं रागियों के आचरण ॥२४८॥

दर्शन-ज्ञान का (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का) उपदेश, शिष्यों का ग्रहण, तथा उनका पोषण और जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश वास्तव में सरागियों की चर्चा है ।

गाथा में कथित शिष्यों के ग्रहण का तात्पर्य है दीक्षा देना, तथा पोषण करने का तात्पर्य रोटी-दाल खिलाना नहीं है; अपितु तत्त्वज्ञान में पुष्ट करना है; क्रियाओं में उनकी वृत्ति नहीं बिगड़े - इसप्रकार सम्हाल करना है । मुनिराजों के शुभोपयोग की सीमा उपदेश देना, दीक्षा देना, मुनियों का पोषण और जिनेन्द्र भगवान की पूजा के उपदेश तक ही है ।

इसके बाद आचार्यदेव शुभोपयोगी श्रमण के संयम के साथ विरोधवाली प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए - ऐसा कहते हैं -

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो ।

ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥२५०॥

(हरिगीत)

जो श्रमण वैयावृत्ति में छहकाय को पीड़ित करें ।

वह गृही ही है क्योंकि यह तो श्रावकों का धर्म है ॥२५०॥

यदि श्रमण वैयावृत्ति के लिये उद्यमी वर्तता हुआ छह काय को पीड़ित करता है तो वह श्रमण नहीं है, गृहस्थ है; क्योंकि वह छहकाय की विराधना सहित वैयावृत्ति श्रावकों का धर्म है ।

अब यहाँ आचार्यदेव मुनिराजों के शुभोपयोग की मर्यादा का वर्णन कर रहे हैं कि मुनिराज का शुभोपयोग किसप्रकार का हो सकता है तथा किसप्रकार का नहीं हो सकता ?

जैसे - कोई मुनिराज बीमार हो गए एवं उन्हें इलाज की जरूरत है ।

अब यदि कोई मुनिराज उनके लिए या अपने गुरु के लिए गृहस्थ से बातचीत करते हैं तो वे निंदित नहीं है; किन्तु अपने लिए करते हैं तो वे निंदित हैं । गृहस्थ से बातचीत इसलिए करनी पड़ेगी; क्योंकि मुनिराज को दवाई तो आहार में ही दी जा सकती है, वह भी २४ घंटे में एक बार बीमारी के हिसाब से दी जाएगी; लेकिन यदि पहले से व्यवस्था नहीं होगी या किसी अच्छे वैद्य को नहीं दिखाया गया तो यह सब सम्भव नहीं होगा । अतएव इस संबंध में यदि गृहस्थ से बातचीत की जाती है तो वह निंदित नहीं है; लेकिन यदि कोई मुनिराज इसी का ही आश्रय लेकर कल यह बना लेना, आज लौकी बना लेना, यह नहीं बनाना - ऐसी चर्चा होने लग जाए तो अनर्थ की बात हो जाएगी ।

हमें इस बात पर बहुत गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि वे मुनिराज भी मनुष्य हैं तथा ऐसी मनुष्यगत कमजोरियाँ हममें हैं; वैसी ही कमजोरियाँ उनमें भी हैं । वे मात्र मनुष्य ही नहीं हैं; अपितु हमसे महान भी हैं, गुरु भी हैं, ब्रती भी हैं । हमें तो यह समझना चाहिए कि सच्चे भावलिङ्गी हैं । यदि हम ऐसी कड़क निगाह रखेंगे तो वे भावलिङ्गी भी भूखों मर जाएंगे, मोक्ष नहीं जा पाएंगे ।

एक ओर जहाँ महाभ्रष्टता है, वही दूसरी ओर लोगों की वाणी और निगाह में इनके प्रति कड़कता आ गई है । मुझे तो कभी-कभी यह डर लगता है कि ऐसे में यदि आचार्य कुन्दकुन्द भी आ जाए, तो मुमुक्षुओं को वे भी पसन्द नहीं आयेंगे ।

इन सब बातों का विचार कर लोगों को भी एक बार यह विचार करना चाहिए कि मुझे सच्चा मुनिराज बनना है तथा ये सारी परिस्थितियाँ मेरे ऊपर आएँगी, तब मेरे परिणाम कैसे होना चाहिए ?

अरे भाई ? मुनिराज बने बिना तो कोई भी मोक्ष जानेवाला नहीं है; अतएव मुनिराज तो बनना ही होगा तथा सारी वस्तुस्थिति अपने ऊपर घटित करके देखना चाहिए । इन बातों को विचारने से हमारा दृष्टिकोण भी बदलकर संतुलित होगा ।

मैं जो भी इसमें लिख रहा हूँ, वह अपने मन से नहीं लिख रहा हूँ, आगम के आधार से लिख रहा हूँ, साथ में मूल गाथाएँ एवं उनकी टीकाएँ भी मूलतः दे रहा हूँ।

गाथा २५० की टीका का भाव इसप्रकार है -

“जो श्रमण दूसरे की शुद्धात्मपरिणति की रक्षा हो - ऐसे अभिप्राय से वैयावृत्य की प्रवृत्ति करता हुआ अपने संयम की विराधना करता है; वह गृहस्थधर्म में प्रवेश कर रहा होने से श्रामण्य से च्युत होता है। इससे ऐसा कहा है कि जो भी प्रवृत्ति हो, वह सर्वथा संयम के साथ विरोध न आये - इसप्रकार ही करनी चाहिए; क्योंकि प्रवृत्ति में भी संयम ही साध्य है।”

टीका में यह कहा है कि यदि एक मुनिराज को तकलीफ हो तथा दूसरे मुनिराज उनकी सेवा कर रहे हैं। अब यदि वे मुनिराज इस स्तर पर सेवा करने लग जाए कि स्वयं की सामायिक ही छूट जाए अथवा पैर दबाते-दबाते किसी गृहस्थ से बातें करने लग जाए - इसप्रकार संयम की विराधना जो श्रमण करता है, वह श्रामण्य से च्युत होता है। उनका चित्त संयम में स्थिर हो - इस भावना से की गई सेवा से स्वयं का संयम खो देना बुद्धिमानी नहीं है। अपना सारा काम छोड़कर मुनिराज की सेवा गृहस्थ ही करते हैं। यदि मुनिराज स्वयं के सब काम छोड़कर सेवा करने में लग जावें तो वे भी गृहस्थ ही हैं।

इसके बाद, प्रवृत्ति के विषय के दो विभाग बतलानेवाली गाथा २५१ की टीका भी दृष्टव्य है -

“जो अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्ति करने से यद्यपि अल्प लेप तो होता है, तथापि अनेकान्त के साथ मैत्री से जिनका चित्त प्रवृत्त हुआ है - ऐसे शुद्ध जैनों के प्रति - जो कि शुद्धात्मा के ज्ञान-दर्शन में प्रवर्तमान वृत्ति के कारण साकार-अनाकार चर्यावाले हैं, उनके प्रति, शुद्धात्मा की उपलब्धि के अतिरिक्त अन्य सबकी अपेक्षा किये बिना ही, उस प्रवृत्ति के करने का निषेध नहीं है; किन्तु अल्प लेपवाली होने

से सबके प्रति सभी प्रकार से वह प्रवृत्ति अनिषिद्ध हो - ऐसा नहीं है; क्योंकि वहाँ (अर्थात् यदि सबके प्रति सभी प्रकार से की जाय तो) उसप्रकार की प्रवृत्ति से पर के और निज के शुद्धात्मपरिणति की रक्षा नहीं हो सकती।”

इस टीका में आचार्य यह कहना चाहते हैं कि मुनिराज दूसरों की सेवा का ऐसा कोई काम न करें कि वे स्वयं अपने संयम से च्युत हो जाए।

अपने यहाँ एक कहावत है कि ‘दूसरों को जिमाने के चक्र में खुद ही भूखे रह गए’ लेकिन जैनदर्शन में खुद भूखे रहकर जिमाने की बात नहीं है अर्थात् दूसरों के संयम की रक्षा के लिए स्वयं का संयम छोड़ देने की बात जैनदर्शन में नहीं है।

इसप्रकार यहाँ तक यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि सेवा करनेवाले मुनिराज कैसे हो, तथा जिनकी सेवा की जाए वे मुनिराज कैसे हो।

इस संबंध में मैं यह बताना चाहता हूँ कि ऐसे गृहस्थ जो स्वयं भ्रष्ट हैं, उनके द्वारा की गई मुनियों की सेवा वैयावृत्ति नहीं है। आजकल तो लोग अस्पताल खोलने को भी वैयावृत्ति कहने लगे हैं, आज जितने भी अरबपति और करोड़पति हैं; वे सभी अस्पताल खोलने की तैयारी में हैं।

हिंसक दवाओं से सप्त व्यसनों में पारंगत लोगों का इलाज करना वैयावृत्ति नहीं है।

मैं यह सब इसलिए बता रहा हूँ कि लोग अस्पताल खोलने को भी वैयावृत्ति समझते हैं। हम यदि एक गोली खाए तो महाभ्रष्ट पंडित तथा जहाँ उन गोलियों का पूरा दवाखाना ही खुल रहा हो, वह वैयावृत्ति ?

जिनकी शुद्धात्मपरिणति है तथा जो धर्मात्मा हैं, वे धर्म में स्थिर रहें - इसके लिए सेवा करना वैयावृत्ति है; किन्तु जिनमें धर्म का अंशमात्र भी नहीं है, उनकी सेवा में जिन्दगी लगा देना वैयावृत्ति नहीं है।

इसी संबंध में गाथा २५१ का भावार्थ भी द्रष्टव्य है -

“यद्यपि अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्ति से अल्प लेप तो

होता है; तथापि यदि (१) शुद्धात्मा की ज्ञानदर्शनस्वरूप चर्यावाले शुद्ध जैनों के प्रति, तथा (२) शुद्धात्मा की उपलब्धि की अपेक्षा से ही, वह प्रवृत्ति की जाती हो तो शुभोपयोगी के उसका निषेध नहीं है; परन्तु यद्यपि अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्ति से अल्प ही लेप होता है; तथापि (१) शुद्धात्मा की ज्ञानदर्शनरूप चर्यावाले शुद्ध जैनों के अतिरिक्त दूसरों के प्रति तथा (२) शुद्धात्मा की उपलब्धि के अतिरिक्त अन्य किसी भी अपेक्षा से, वह प्रवृत्ति करने का शुभोपयोगी के निषेध है; क्योंकि इसप्रकार से पर को या निज को शुद्धात्मपरिणति की रक्षा नहीं होती।”

भावार्थ में यह लिखा है कि जो शुद्धात्मा के साधक हैं; उनकी शुद्धात्मा की प्रवृत्ति की सुरक्षा में साधनभूत सेवा करना ही वैयावृत्ति है।

अरे भाई ! यदि किसी को कुछ देना हो तो शास्त्र देना; जिसे वह पढ़ेगा तथा माथे पर रखेगा तथा जिनबिम्ब दो; जिनके सारी दुनिया दर्शन करेगी। देव-शास्त्र-गुरु आत्मकल्याण में निमित्त होते हैं।

पाँच इन्द्रियों के विषयों की सामग्री देने से क्या लाभ है; क्योंकि वह तो अपने लिए हर कोई जुटाता है, यदि हम भी वही सामग्री जुटाकर देंगे तो क्या फायदा है ?

इसके बाद, “शुभोपयोगी श्रमण को किस समय प्रवृत्ति करना योग्य है और किस समय नहीं” यह बतानेवाली २५२वीं गाथा इसप्रकार है-

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं ।

दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥२५२॥

(हरिगीत)

श्रम रोग भूखरु प्यास से आक्रान्त हैं जो श्रमणजन ।

उन्हें लखकर शक्ति के अनुसार वैयावृत्त करो ॥२५२॥

रोग से, क्षुधा से, तृषा से अथवा श्रम से आक्रांत श्रमण को देखकर साधु अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्यादि करो ।

इस गाथा की टीका का भाव इसप्रकार है -

“जब शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त श्रमण को, उससे च्युत करे ऐसा कारण - कोई भी उपसर्ग - आ जाय, तब वह काल, शुभोपयोगी को अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिकार करने की इच्छारूप प्रवृत्ति का काल है; और उसके अतिरिक्त का काल अपनी शुद्धात्मपरिणति को प्राप्ति के लिये केवल निवृत्ति का काल है।”

आचार्य इस संदर्भ में एक-एक बात पर विचार कर रहे हैं कि मुनियों की सेवा या वैयावृत्ति कब और कैसे करना ?

पहले तो आचार्यदेव ने यह बताया था कि किनकी सेवा करना, कैसे करना तथा अपने संयम का घात करके सेवा नहीं करना तथा धर्मवृद्धि के लिए सेवा करना। अब, इस गाथा में आचार्य सेवा का काल निर्धारण कर रहे हैं कि सेवा कब करना।

यहाँ काल का अर्थ सुबह ७ बजे या शाम को ६ बजे - इसप्रकार का समय नहीं है, अपितु यहाँ काल का अर्थ यह है कि जब कोई मुनिराज बीमार हो या तकलीफ में हो; जिससे उनका उपयोग अपनी आत्मा में नहीं लग रहा हो, तब उनकी सेवा करना, जिससे उनका उपयोग स्थिर हो जाय।

इसी गाथा का भावार्थ इसप्रकार है -

“जब शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त श्रमण के स्वस्थ भाव का नाश करनेवाला रोगादिक आ जाय; तब उस समय शुभोपयोगी साधु को उनकी सेवा की इच्छारूप प्रवृत्ति होती है, और शेष काल में शुद्धात्म-परिणति को प्राप्त करने के लिये निज अनुष्ठान होता है।”

भावार्थ में कथित स्वस्थभाव का तात्पर्य आत्मा में लीन होने का भाव है तथा उस स्वस्थभाव का नाश करनेवाली बीमारी के आ जाने पर शुभोपयोगी साधु उनकी सेवा करते हैं।

इसके बाद “शुभोपयोगी श्रमण को लोगों के साथ बातचीत की प्रवृत्ति किस निमित्त से करना योग्य है और किस निमित्त से नहीं।”

यह बतानेवाली अगली गाथा इसप्रकार है -

वेजावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवृद्धसमणाणं ।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥२५३॥
(हरिगीत)

ग्लान गुरु अर वृद्ध बालक श्रमण सेवा निमित्त से ।

निंदित नहीं शुभभावमय संवाद लौकिकजनों से ॥२५३॥

रोगी, गुरु, बाल तथा वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से, शुभोपयोग युक्त लौकिकजनों के साथ की बातचीत निन्दित नहीं है ।

गृहस्थ लौकिकजन कहलाते हैं तथा मुनियों को ऐसे लौकिकजनों के साथ बातचीत करना सर्वथा वर्जित है; किन्तु वैयावृत्ति के निमित्त से सुविधा जुटाने के लिए यदि मुनिराज लौकिकजनों से बात करते हैं तो वह निन्दित नहीं हैं ।

शुभोपयोगी मुनियों को शुभोपयोग के काल में बात करना निंदित नहीं है; किन्तु शुद्धोपयोग के काल को छोड़कर बात करना निंदित है ।

इसी संदर्भ में इस गाथा की टीका भी द्रष्टव्य है -

“शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त रोगी, गुरु, बाल और वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से ही शुभोपयोगी श्रमण को शुद्धात्मपरिणतिशून्य लोगों के साथ बातचीत प्रसिद्ध है, निषिद्ध नहीं है; किन्तु अन्य निमित्त से भी प्रसिद्ध हो - ऐसा नहीं है ।”

टीका में कथित शुद्धात्मपरिणतिशून्य लोगों से तात्पर्य मिथ्यादृष्टि लोगों से है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि तो शुद्धात्मपरिणतिवाले हैं । उन मिथ्यादृष्टि लोगों से भी रोगी, गुरु, बाल और वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से ही बातचीत कर सकते हैं तथा यदि अन्य कारण से बातचीत करें तो वह ठीक नहीं है ।

पंचकल्याणकों में जब केवलज्ञान कल्याणक होता है, उस दिन प्रसंग होने से मैं मुनियों की चर्चा पर थोड़ी चर्चा करता हूँ । उस दिन मैं यह भी बताता हूँ कि मुनिराज खड़े-खड़े आहार क्यों लेते हैं, बैठकर

क्यों नहीं लेते हैं, जब मुनिराज आहार करने जाते हैं तो मौन होकर क्यों जाते हैं । मुनिराज खड़े-खड़े आहार इसलिए लेते हैं; क्योंकि जिस जगह वे आहार लेने जा रहे हैं, वह गृहस्थ का घर है तथा गृहस्थ का घर मुनिराजों के बैठने लायक नहीं होता है । मुनिराज मौन लेकर इसलिए जाते हैं; क्योंकि भाषा दूसरों से जोड़ती है और मुनिराज को किसी से जुड़ना ही नहीं है । मुनिराजों को यदि आहार की मजबूरी न हो तो वे गृहस्थ के घर जाए ही नहीं; किन्तु आहार हेतु गृहस्थ के घर जाना पड़ता है, इसलिए वे पहले से ही मौन का कवच पहिनकर जाते हैं ।

इस संबंध में कुछ विशेष जानने की जिज्ञासा हो तो **पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव** नामक पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए ।

अब, आचार्य २५४वीं गाथा में यह बतलाते हैं कि किसके शुभोपयोग गौण होता है और किसके मुख्य होता है -

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ।

चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं ॥२५४॥

(हरिगीत)

प्रशस्त चर्या श्रमण के हो गौण किन्तु गृहीजन ।

के मुख्य होती है सदा अर वे उसी से सुखी हो ॥२५४॥

यह प्रशस्तभूत चर्या श्रमणों के (गौण) होती है और गृहस्थों के तो मुख्य होती है, ऐसा (शास्त्रों में) कहा है; उसी से (परम्परा से) गृहस्थ परमसौख्य को प्राप्त होता है ।

इस गाथा के ‘घरत्थाणं’ शब्द के संबंध में भाषा की दृष्टि से कुछ बताना चाहता हूँ । संस्कृत में घर को ‘गृह’ बोलते हैं । ‘घरत्थाणं’ अर्थात् घर में रहनेवाला । हिन्दी में जो यह ‘घर’ शब्द आया है, यह प्राकृत से आया है, संस्कृत से नहीं आया है । यह प्राकृत से अपभ्रंश में होता हुआ हिन्दी में आया है । संस्कृत में ‘गृह’ शब्द है तथा हिन्दी, अपभ्रंश और प्राकृत में ‘घर’ शब्द है ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि गृह से घर कैसे बन गया ? समझने की बात यह है कि गृह बोलने में कठिन है तथा 'घर' बोलने में उसकी अपेक्षा सरल है। लोकभाषा हमेशा सुविधामुखी होती है; अतएव 'गृह' की अपेक्षा घर बोलने में सरल होने से 'घर' का प्रचलन हो गया।

'गृह' से 'घर' में परिवर्तन कैसे हुआ ? यह भी समझने योग्य है। गृह में तीन अक्षर हैं - ग, ह, र तथा 'घर' में भी तीन अक्षर हैं - ग, र, ह। अंग्रेजी भाषा में रोमनलिपि में गृह को GRAH लिखा जाता है तथा घर को GHAR लिखा जाता है दोनों में GRH और A अक्षर हैं। बस इतना ही अन्तर है कि एक में H पहले है तथा एक में बाद में। इनका परस्पर स्थान परिवर्तन हो गया है। लोकभाषा में मुख सुख के लिए स्थान परिवर्तन कर दिया जाता है। जब 'G' और 'H' मिलते हैं तो 'घ' बन जाता है तथा 'घर' के 'घ' में ग और ह मिले हुए हैं। 'घ' वास्तव में मूल अक्षर नहीं है; अपितु संयुक्त अक्षर है। इसप्रकार स्थान परिवर्तन के कारण संस्कृत का गृह हिन्दी, अपभ्रंश और प्राकृत में घर बन गया।

गाथा में यह कहा है कि प्रशस्तभूतचर्या अथवा सेवा करने का काम मुख्यरूप से तो गृहस्थों का है और गौणरूप से मुनिराजों का है; क्योंकि मुनिराजों का ६ घड़ी सुबह, ६ घड़ी दोपहर और ६ घड़ी सायं का समय तो सामायिक का है तथा मुनिराज सेवा करने के लिये अपनी सामायिक नहीं छोड़ेंगे। इसलिए मुनिराजों को सेवा के लिए कम समय मिलने के कारण गौणरूप से उनका काम कहा है।

इसके बाद इसी में एक प्रकरण यह भी है कि लोग कहते हैं कि सेवा तो सेवा है, किसी की भी करो। अरे भाई ! ऐसा नहीं है। इसी संदर्भ में इसमें एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया है कि जैसे बीज एक होने पर भी जमीन के अंतर से फल में अंतर आता है; वैसे ही जिनकी सेवा की जा रही है, उनमें अंतर होने से सेवा एक सी करने पर भी फल में अंतर आता है।

जिसप्रकार अनार का एक बीज कश्मीर या अफगानिस्तान में बोने पर अनार का दाना इतना बढ़िया पकता है कि मुँह में रखते ही घुल जाता है तथा वही बीज राजस्थान में बोने पर एक तो वृक्ष उगेगा ही नहीं, उगेगा तो फल नहीं लगेंगे। यदि फल लगेंगे भी तो मुँह में रखने के काबिल नहीं होंगे।

इसीप्रकार अमेरिका और लंदन का भुट्टा इतना मीठा होता है कि और कुछ अच्छा ही नहीं लगता। भारत के भुट्टे के दानों से चार गुना बड़ा दाना होता है तथा अमेरिका में भुट्टे का तेल ही प्रयुक्त होता है। जैसे भारत में मूँगफली और सरसों का तेल ही प्रयोग करते हैं; वैसे ही अमेरिका में कॉर्न ऑइल अर्थात् भुट्टे का तेल प्रयोग करते हैं। अपने भारत में वैसे भुट्टा नहीं होता, जैसा अमेरिका में होता है। यह जमीन का अंतर है।

जिसप्रकार जमीन में अंतर होने से बीज एक होने पर भी फल में अंतर आता है; उसीप्रकार जिनकी सेवा की जा रही है, उनमें अंतर होने से सेवा एक-सी करने पर भी फल में अंतर आता है।

तदनन्तर एक प्रकरण यह भी है कि दो मुनिराज एक दूसरे को जानते नहीं हैं तथा यदि वे दोनों अचानक मिलें तो वे क्या करें ?

आजकल तो सभी महाराज प्रसिद्ध हो जाते हैं तथा एक-दूसरे को जानते हैं तथा लोग भी दौड़-दौड़ कर बता देते हैं। पहले तो ऐसी कोई योजना होती नहीं थी तथा मुनिराज तो किसी को बताते नहीं, उस समय हजारों मुनिराज थे, इसलिए एक-दूसरे को जानना संभव भी नहीं था। उनका आचरण इतना निर्मल होता था कि उनके द्रव्यलिंग और भावलिंग का भी बाहर की चर्या देखने से पता नहीं चलता था। ऐसी स्थिति में वे मुनिराज क्या करें ? - इसी का उत्तर देनेवाली गाथा २६२ इसप्रकार है -

अव्भुट्टाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं।

अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि ॥२६२॥

(हरिगीत)

गुणाधिक को खड़े होकर अंजलि को बाँधकर ।

ग्रहण-पोषण-उपासन-सत्कार कर करना नमन ॥२६२॥

गुणों में अधिक (श्रमणों) के प्रति अभ्युत्थान, ग्रहण (आदर से स्वीकार), उपासन (सेवा), पोषण (उनके अशन, शयनादि की चिंता), सत्कार (गुणों की प्रशंसा), अंजलि करना (विनयपूर्वक हाथ जोड़ना) और प्रणाम करना यहाँ कहा है ।

गाथा में कथित उपरोक्त कार्य मुनिराज अपने गुणों से अधिक गुणों वाले मुनिराजों के प्रति करते हैं तथा अपने गुणों से कम गुणोंवाले मुनिराजों को आशीर्वाद आदि देते हैं; लेकिन समस्या यह है कि जब पहली बार आपस में मिले तब क्या करें ? क्योंकि वे तो एक-दूसरों को जानते ही नहीं हैं कि किनमें गुण ज्यादा है और किनमें कम ।

इस संबंध में आचार्यदेव ने लिखा है कि जब वे सर्वप्रथम मिले, तब एक-दूसरे को गुणाधिक मानकर ही विनय-व्यवहार करें तथा बाद में जब परिचय हो जावे, तब यथोचित व्यवहार करें ।

इस संबंध में बहुत सारी बातें हैं, उनके बारे में यदि अधिक कहूँगा तो लोगों को अच्छा नहीं लगेगा । इसलिए इसके बारे में विस्तार से जानने के लिए प्रवचनसार की चरणानुयोगसूचक चूलिका ध्यान से पढ़ना चाहिए ।

अब यदि कोई कहे कि 'हमें ज्यादा पढ़ने की क्या जरूरत है ? हमें मुनि थोड़े ही बनना है ?'

अरे भाई ! ऐसा नहीं है । हमें मोक्ष जाना है तो मुनि बनना ही है । 'हमें मुनि नहीं बनना है' ऐसी कल्पना भी कभी दिमाग में नहीं लाना चाहिए । यदि इस भव में मुनि नहीं भी बन सके, तब भी देव-शास्त्र-गुरु का सच्चा स्वरूप समझे बिना सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की शुरुआत नहीं हो सकती; इसलिए भी देव-शास्त्र-गुरु का सच्चा स्वरूप समझने के लिए इस प्रकरण को पढ़ना चाहिए ।

चौबीसवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम की चरणानुयोगसूचक चूलिका पर चर्चा चल रही है । उसमें शुभोपयोगप्रज्ञापन नामक अवान्तर अधिकार के अन्तर्गत अभी तक यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि छटवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज जब शुभोपयोग में होते हैं, तब उनका व्यवहार कैसा होना चाहिए ?

अब, इसी संदर्भ में श्रमणाभासों की समस्त प्रवृत्तियों का निषेध करनेवाली गाथा २६३ की टीका भी द्रष्टव्य है -

“जिनके सूत्रों में और पदार्थों में विशारदपने के द्वारा संयम, तप और स्वतत्त्व ज्ञान प्रवर्तता है; उन श्रमणों के प्रति ही अभ्युत्थानादिक प्रवृत्तियाँ अनिषिद्ध हैं; परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभासों के प्रति वे प्रवृत्तियाँ निषिद्ध ही हैं ।”

इस टीका में इन अभ्युत्थानादिक प्रवृत्तियों को अनिवार्य किसी के लिए भी नहीं कहा है अर्थात् जो अपनी साधना में लगे हैं, उन्हें अपनी साधना छोड़कर ये प्रवृत्तियाँ करना आवश्यक नहीं है । जो स्वयं से हीन है, उनके प्रति तो ये प्रवृत्तियाँ निषिद्ध है तथा जो तत्त्वज्ञान से रहित हैं, उनके प्रति ये प्रवृत्तियाँ गृहीत मिथ्यात्व हैं ।

यहाँ प्रश्न अकेला काय की नमस्कारादि क्रिया का नहीं है; अपितु जिनके प्रति हमारे हृदय में श्रद्धा होगी, वह श्रद्धा अधिक खतरनाक है; क्योंकि हम उनका मार्गदर्शन भी स्वीकार करेंगे, उन्हें आदर्श मानकर उनके जीवन का अनुकरण भी करेंगे; तब उनके मिथ्यात्व की सारी प्रवृत्तियाँ हमारे जीवन में आने की संभावना बनी ही रहती है; इसलिए उनके प्रति समस्त क्रियाओं को निषिद्ध कहा है ।

तदनन्तर, 'कैसा जीव श्रमणाभास है ?' यह बतानेवाली गाथा २६४ की टीका का भाव इसप्रकार है -

“आगम का ज्ञाता होने पर भी, संयत होने पर भी, तप में स्थित

होने पर भी, जिनोक्त अनंत पदार्थों से भरे हुए विश्व को – जो कि अपने आत्मा से ज्ञेयरूप से पिया जाता होने के कारण आत्मप्रधान है, उसका जो जीव श्रद्धान नहीं करता, वह श्रमणाभास है।”

टीका में अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा है कि कोई मुनिराज आगम के ज्ञाता भी हैं, संयमी भी हैं और तपस्वी भी हैं; लेकिन उन्हें आत्मा का ज्ञान नहीं है, तो वे हमारे लिए पूज्य नहीं हैं; अपितु श्रमणाभास हैं।

इस संदर्भ में मैं यह बताना चाहता हूँ कि आजकल कोई भी व्यक्ति आत्मा के ज्ञान का प्रश्न नहीं उठाता है; अपितु क्रिया के आधार पर ही एक-दूसरे पर दोषारोपण करते हैं। वे एक-दूसरे पर महाभ्रष्ट होने का आरोप लगाते हैं तथा अपनी क्रियाओं को ठीक बताते हैं। ‘आत्मा का ज्ञान है या नहीं?’ यह तो मुद्दा ही नहीं है; बस सर्वत्र तप, संयम और आगमज्ञान की ही बात होती है।

जो लोग शिथिलाचार के विरोधी हैं; वे भी श्रद्धा का प्रश्न नहीं उठाते हैं। उन्हें सिर्फ आचार की शिथिलता की ही चिंता है। किसी को भी तत्त्वज्ञान के श्रद्धान का विकल्प ही नहीं है।

टीका में इस बात पर भी दृष्टिपात किया गया है कि जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि विश्व में अनन्तपदार्थ भरे हुए हैं। ‘ज्ञेयरूप से पिया जाता होने के कारण’ का तात्पर्य यह है कि सारी दुनिया अर्थात् सारे ज्ञेयों को आत्मा ने पी लिया है अर्थात् जान लिया है। यहाँ यह स्पष्ट किया जा रहा है कि कोई उन सारे लोकालोक को जाननेवाला हो, आचरण भी ठीक हो, शास्त्रज्ञान भी हो, तपस्वी भी हो; किन्तु यदि वह आत्मा को नहीं जानता हो तो वह श्रमणाभास है।

यहाँ आत्मा को ही प्रधान इसलिए कहा; क्योंकि आत्मा ने ही सारे ज्ञेयों को पिया है अर्थात् जाना है। सकलज्ञेय को जाननेवाला होने पर भी जो आत्मा को नहीं जानता हो; वह तपस्वी, संयमी और आगमज्ञानी होने पर भी श्रमणाभास है।

तदनन्तर, जो श्रामण्य से समान है; उनका अनुमोदन (आदर) न करनेवाले का विनाश बतलानेवाली गाथा २६५ की टीका का भाव इसप्रकार है –

“जो श्रमण द्वेष के कारण शासनस्थ श्रमण का भी अपवाद करता है और उसके प्रति सत्कारादि क्रियायें करने में अनुमत नहीं है; वह श्रमण द्वेष से कषायित होने से उसका चारित्र नष्ट हो जाता है।”

टीका के उपरोक्त कथन में अत्यधिक संतुलन है। इसमें आचार्यदेव यह कहते हैं कि कोई सर्वज्ञता को स्वीकार करता है, आत्मा को जानता है, आत्मानुभवी है; किन्तु उनके साथ किसी अन्य व्यक्ति का व्यक्तिगत मनमुटाव है तो वह कहता है कि उनसे हमारा कोई मतभेद नहीं है, बस वे हमें पसंद नहीं है – इसप्रकार मान के कारण यदि विरोध करता है तो वह गलत रास्ते पर है। ऐसा कहनेवाले भी बहुत लोग हैं कि उनकी सब बातें ठीक लगती है, कोई शिकायत नहीं है; लेकिन व्यवहार ठीक नहीं है, पोस्टकार्ड का भी जवाब नहीं देते हैं। इसप्रकार जो अपनी व्यक्तिगत अरुचि के कारण विनयमर्यादाओं को नहीं निभाता है, वह गलत है।

निरपेक्ष गुरु का तात्पर्य यह है कि उन्होंने हमारा व्यक्तिगत उपकार किया है या नहीं किया है – इसकी कोई अपेक्षा नहीं है; किन्तु वे २८ मूलगुणों के धारी हैं, छटवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में हैं। ऐसे निरपेक्ष गुरु यदि हमारे सामने आ जाए तो अभ्युत्थानादि विनय की क्रियाएँ करना ही चाहिए। उन निरपेक्ष गुरुओं के साथ ऐसा नहीं चलेगा कि हम तो देव-शास्त्र-गुरु की पूजन कर लेते हैं या णमोकार मंत्र में नमस्कार कर लेते हैं तो उनको भी नमस्कार हो ही जाता है। यदि वे निरपेक्ष गुरु सच्चे हैं और हमारे सामने आते हैं, उस समय यदि हम अन्य कारणों से अभ्युत्थानादि क्रियाएँ नहीं करते हैं तो यह सही नहीं है।

सापेक्ष गुरु वे होते हैं, जिन्होंने हमारा प्रत्यक्ष उपकार किया है, चाहे वे मुनि हो या सामान्य गृहस्थ। यद्यपि चौथे गुणस्थानवाले हमारे

देव-शास्त्र-गुरु जैसे गुरु नहीं है; किन्तु उन्होंने हमारा साक्षात् उपकार किया हो, उनसे देशना मिली हो तो वे सापेक्ष गुरु हैं। यद्यपि उनके साथ देव-शास्त्र-गुरु जैसा स्वागत-सत्कार व्यवहार नहीं होगा; फिर भी उनका यथोचित विशेष सम्मान तो होगा ही।

एक पत्नी जितना आदर-सत्कार अपने पति का करेगी, उतना दुनिया के किसी भी पुरुष का नहीं करेगी। उसीप्रकार सापेक्ष गुरुओं का जितना सम्मान होगा, उतना उनके गुरु के गुरु का भी नहीं होगा।

इसप्रकार सापेक्ष गुरु और निरपेक्ष गुरु के भेद से गुरु दो प्रकार के हैं। इस चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक प्रकरण में निरपेक्ष गुरुओं की चर्चा चल रही है। 'इन निरपेक्ष गुरुओं ने हमारा साक्षात् क्या उपकार किया है?' इससे हमें कुछ लेना-देना नहीं है; किन्तु यदि छटवें-सातवें गुणस्थान के योग्य उनका ज्ञान, चारित्र और आत्मानुभव है तो उनका अभ्युत्थान, अष्टद्रव्य से पूजन, विनय, सत्कारादि करना ही चाहिए।

इसके बाद 'सत्संग' विधेय हैं - यह बतलानेवाली गाथा २७० की टीका का भाव इसप्रकार है -

“आत्मा परिणामस्वभाववाला है; इसलिए अग्नि के संग में रहे हुए पानी की भाँति संयत के भी लौकिक संग से विकार अवश्यभावी होने से संयत भी असंयत ही हो जाता है। इसलिए दुःखमोक्षार्थी (दुःखों से मुक्ति चाहनेवाले) श्रमण को (१) समान गुणवाले श्रमण के साथ अथवा (२) अधिक गुणवाले श्रमण के साथ ही सदा निवास करना चाहिये। इसप्रकार उस श्रमण के (१) शीतल घर के कोने में रखे हुए शीतल पानी की भाँति समान गुणवाले की संगति से गुणरक्षा होती है और (२) अधिक शीतल हिम के संपर्क में रहनेवाले शीतल पानी की भाँति अधिक गुणवाली के संग से गुणवृद्धि होती है।”

इस टीका में यह कहा है कि यदि मुनिराज एकलविहारी हैं तो सर्वश्रेष्ठ हैं, उनका किसी के साथ रहना अनिवार्य नहीं है। आर्यिकाओं के संबंध में इसके विपरीत नियम है कि आर्यिकाओं को कभी भी

अकेले नहीं रहना चाहिए, कम से कम दो आर्यिकाओं को साथ-साथ रहना चाहिए। तदनन्तर आचार्यदेव ने टीका में यह मार्गदर्शन दिया है कि यदि मुनिराजों को किसी के साथ में रहना पड़े, तो किनके साथ रहे ?

इसके उत्तर में कहा गया है कि मुनिराजों को अपने से अधिक गुण वालों के साथ रहना चाहिए। यदि उनका समागम संभव नहीं हो, तो समान गुणवालों के साथ रहना चाहिए; किन्तु लौकिकजनों के साथ नहीं रहना चाहिए; क्योंकि लौकिकजनों के संयोग में भ्रष्ट हो जाने की संभावना है।

कई मुनिराज भक्तों से घिरे रहते हैं, वे अपने गुणों के समान गुणवालों के साथ भी नहीं रहते हैं तथा अधिक गुणों वाले अपने गुरु के पास भी नहीं रहते हैं तथा अन्य लौकिकजनों से घिरे रहते हैं; उनका भ्रष्ट होना निश्चित ही है।

जिस दिन गोविंदबल्लभ पंत का स्वर्गवास हुआ था; उस दिन नेहरूजी ने अपनी श्रद्धांजलि में एक वाक्य कहा था कि आज वह अंतिम व्यक्ति भी चला गया है जो मेरा हाथ पकड़कर यह कह सकता था कि 'नेहरू यह गलत है'। अब मेरी चिंता यह है कि यदि मेरे से कोई गलत काम होगा तो कोई उसे गलत कहनेवाला नहीं है।

इसके बाद टीका में उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि समान गुणवाले श्रमण के साथ निवास करने से शीतल घर के कोने में रखे हुए शीतल पानी की भाँति गुण रक्षा होती है और अधिक शीतल हिम के संपर्क में रहनेवाले शीतल पानी की भाँति गुणवृद्धि होती है।

यह तो मुनिराजों के संदर्भ में कथन हुआ; किन्तु यदि गृहस्थों के संदर्भ में बात करें तो जो गृहस्थ अपने से ज्यादा गुणवालों की संगति करेगा, उसे लौकिक दृष्टि से कदाचित् मान की हानि हो सकती है; क्योंकि सभी लोग अधिक गुणोंवाले का सम्मान करेंगे, उसका नहीं; अतएव लौकिक दृष्टि से कमगुणवालों को अपने से अधिक गुणवालों के साथ संगति करने में हानि ही हानि नजर आती है; पर बात ऐसी नहीं

है; क्योंकि यदि आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया जाय तो उसे लाभ ही लाभ है। अधिक गुणवालों के साथ रहने से उसे कुछ न कुछ सीखने को मिलेगा ही; अधिक गुणवाले को हानि ही हानि है; क्योंकि उसे तो कुछ नया सीखने मिलने वाला ही नहीं है तथा वह जितने समय तक अपने से कम गुणवालों को सिखाएगा; उसका उतना समय भी बर्बाद होगा।

यदि कोई टोडरमल स्मारक भवन में आकर रहे तो वहाँ पर तो दो सौ पण्डित हैं – ऐसी स्थिति में हो सकता है प्रवचन करने के लिए उसे अवसर ही न मिले; किन्तु ‘निरस्पादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते’ अर्थात् जहाँ वृक्ष नहीं होते हैं, वहाँ पर एरण्ड का वृक्ष भी बड़ा वृक्ष माना जाता है; उसीप्रकार यदि वह व्यक्ति ऐसे स्थान पर रहता है; जहाँ पण्डित नहीं है, तो वहाँ पर सबसे बड़ा पण्डित बन जावेगा; किन्तु सीखने की दृष्टि से हानि ही है।

इसप्रकार आचार्यदेव ने समानगुणवालों तथा अधिक गुणवालों के साथ रहने के लिए मार्गदर्शन दिया है।

अब समस्या यह है कि जो सबसे अधिक गुणवाला व्यक्ति है; वह किसके पास रहेगा ?

ऐसे लोग जिनकी बराबरी के या जिनसे उच्च गुणधर्मवाले व्यक्ति नहीं हों, उनके लिए उक्त सलाह नहीं है; क्योंकि वे स्वयं में इतने बड़े हैं कि स्वयं को भी सँभाल सकते हैं तथा अपने संयोग में रहनेवालों को भी सँभाल सकते हैं। वे तो एक अपवाद हैं; अतः यह नियम उन पर लागू नहीं होता।

इसप्रकार यहाँ शुभोपयोगप्रज्ञापन नामक अवान्तर अधिकार समाप्त होता है; जिसमें यह बताया गया है कि मुनिराजों का स्वरूप कैसा होता है तथा उनका आचरण कैसा होना चाहिए, उन्हें किनकी संगति में रहना चाहिए तथा किसको नमस्कार करना चाहिए ?

शुभोपयोगप्रज्ञापन अधिकार के बाद चरणानुयोगसूचक चूलिका में

वे अंतिम ५ गाथाएँ हैं; जिन्हें आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने पंचरत्न नाम दिया है। उन्हें ये गाथाएँ इतनी अधिक महत्वपूर्ण लगीं कि उन्होंने इन गाथाओं को पंचरत्न की ही संज्ञा दे दी।

वास्तविक बात यह है कि जब ग्रंथ का अंत करने लगते हैं या व्याख्यान का अंत करते हैं तो उपदेश की भाषा में करते हैं, प्रेरणा देते हैं। इसीप्रकार इस ग्रंथ में भी चरणानुयोगसूचक चूलिका में यह बताने के बाद कि ‘मुनि किसप्रकार बनना चाहिए तथा मुनि कैसे होने चाहिए ?’ आचार्यदेव इन पंचरत्न की पाँच गाथाओं में निष्कर्ष के रूप में यह बता रहे हैं कि कौन भ्रष्ट मुनि हैं तथा कौन सही मुनि हैं ?

न्यायशास्त्र के उद्भट विद्वान आचार्य विद्यानन्दजी ने चार तत्त्वों का वर्णन किया है – संसारतत्त्व, संसारोपायतत्त्व, मोक्षतत्त्व और मोक्षोपायतत्त्व। इन पंचरत्न गाथाओं में भी आचार्यदेव ने यह बताया है कि भ्रष्टमुनि ही संसारतत्त्व हैं तथा सही मुनि ही मोक्षतत्त्व हैं तथा अंतरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित ज्ञानी-ध्यानी मुनि ही मोक्षोपायतत्त्व हैं – यही इन पंचरत्न गाथाओं का सार है।

सर्वप्रथम, इन पंचरत्न गाथाओं में संसारतत्त्व को प्रकट करनेवाली २७१वीं गाथा इसप्रकार है –

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छदा समये ।

अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं ॥२७१॥

(हरिगीत)

अयथार्थग्राही तत्त्व के हों भले ही जिनमार्ग में।

कर्मफल से आभरित भवभ्रमे भावीकाल में ॥२७१॥

जो भले ही समय में हो (भले ही वे द्रव्यलिंगी के रूप में जिनमत में हों) तथापि वे ‘यह तत्त्व हैं (वस्तुस्वरूप ऐसा ही है)’ इसप्रकार निश्चयवान् वर्तते हुए पदार्थों को अयथार्थरूप से ग्रहण करते हैं (जैसे नहीं है, वैसा समझते हैं), वे अत्यन्तफल समृद्ध (अनन्तकर्मफलों से भरे हुए) ऐसे अबसे आगामी काल में परिभ्रमण करेंगे।

इस गाथा में यह कहा है कि जो तत्त्वों को सहीरूप से नहीं जानते हैं अर्थात् जिन्होंने तत्त्वों को गलतरूप से ग्रहण किया है, जिनमत में रहते हुए भी उन मुनिराजों को अनंत संसाररूप फल मिलेगा तथा वे कितने काल तक संसार में रहेंगे इसका कोई ठिकाना नहीं है अर्थात् वे अनंतकाल तक संसार में रहेंगे।

इसी गाथा की टीका का भाव इसप्रकार है -

“जो स्वयं अविवेक से पदार्थों को अन्यथा ही अंगीकृत करके ‘ऐसा ही तत्त्व है’ ऐसा निश्चय करते हुए, सतत एकत्रित किये जानेवाले महा मोहमल से मलिन मनवाले होने से नित्य अज्ञानी हैं, वे भले ही समय में अर्थात् द्रव्यलिंगी रूप से जिनमार्ग में स्थित हों; तथापि परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से वास्तव में श्रमणाभास वर्तते हुए अनन्त कर्मफल की उपभोग राशि से भयंकर ऐसे अनन्तकाल तक अनन्त भावान्तररूप परावर्तनों से अनवस्थित वृत्तिवाले रहने से, उनको संसार तत्त्व ही जानना।”

टीका में कथित ‘समय में स्थित है’ का तात्पर्य ‘जैनदर्शन में स्थित है’ अर्थात् जिन्होंने द्रव्यलिंग धारण कर लिया हो तथा मुनियों के वेश में रहते हो, समाज उन्हें मुनि स्वीकार करती हो। जिसप्रकार अष्टपाहुड़ में चलते-फिरते मुनिराज को साक्षात् जैनदर्शन कहा है; उसीप्रकार यहाँ भ्रष्ट मुनिराजों को संसारतत्त्व कहा है।

तदनन्तर मोक्षतत्त्व को प्रगट करनेवाली २७२वीं गाथा इसप्रकार है-

अजधाचारविजुत्तो जद्यत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा ।

अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥२७२॥

(हरिगीत)

यथार्थग्राही तत्त्व के अर रहित अयथाचार से।

प्रशान्तात्मा श्रमण वे ना भवभ्रमे चिरकाल तक ॥२७२॥

जो जीव यथार्थतया पदों का तथा अर्थों (पदार्थों) का निश्चयवाला होने से प्रशान्तात्मा है और अयथाचार (अन्यथा आचरण अयथार्थ

आचरण) रहित है; वह संपूर्ण श्रामण्यवाला जीव अफल (कर्मफल रहित हुए) इस संसार में चिरकाल तक नहीं रहता (अल्पकाल में ही मुक्त होता है।)

पूर्व गाथा में भ्रष्ट मुनि को असदाचार से युक्त कहा था तथा इस गाथा में सही मुनिराजों को असदाचार से वियुक्त अर्थात् रहित कहा है।

विगत गाथा में तत्त्वज्ञान से भ्रष्ट मुनियों को संसारतत्त्व कहा था और अब इस गाथा में तत्त्वज्ञ मुनिराजों को मोक्षतत्त्व कहा जा रहा है।

इसी गाथा की टीका का भाव इसप्रकार है -

“जो श्रमण त्रिलोक की चूलिका के समान निर्मल विवेकरूपी दीपिका के प्रकाशवाला होने से यथास्थित पदार्थ निश्चय से उत्सुकता निवर्तन करके स्वरूपमंथर रहने से सतत ‘उपशांतात्मा’ वर्तता हुआ, स्वरूप में एक में ही अभिमुखरूप से विचरता होने से ‘अयथाचार रहित’ वर्तता हुआ नित्य ज्ञानी हो; वास्तव में उस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना; क्योंकि पहले के सकल कर्मों के फल उसने लीलामात्र से नष्ट कर दिये हैं; इसलिए और वह नूतन कर्मफलों को उत्पन्न नहीं करता; इसलिए पुनः प्राण-धारणरूप दीनता को प्राप्त न होता हुआ द्वितीय भावरूप परावर्तन के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में अवस्थित वृत्तिवाला रहता है।”

तदनन्तर मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व प्रकट करनेवाली २७३वीं गाथा इसप्रकार है -

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं ।

विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धा त्ति णिद्दिट्ठा ॥२७३॥

(हरिगीत)

यथार्थ जाने अर्थ दो विध परिग्रह को छोड़कर।

ना विषय में आसक्त वे ही श्रमण शुद्ध कहे गये ॥२७३॥

सम्यक् (यथार्थतया) पदार्थों को जानते हुए जो बहिरंग तथा अंतरंग परिग्रह को छोड़कर विषयों में आसक्त नहीं हैं, वे ‘शुद्ध’ कहे गये हैं।

इसी गाथा की टीका का भाव इसप्रकार है -

“अनेकान्त के द्वारा ज्ञात सकल ज्ञातृतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व के यथास्थित स्वरूप में जो प्रवीण हैं, अन्तरंग में चकचकित होते हुए अनन्तशक्तिवाले चैतन्य से भास्वर (तेजस्वी) आत्मतत्त्व के स्वरूप को जिनने समस्त बहिरंग तथा अंतरंग संगति के परित्याग से विविक्त (भिन्न) किया है और (इसलिए) अन्तःतत्त्व की वृत्ति (आत्मा की परिणति) स्वरूप गुप्त तथा सुषुप्त (जैसे कि सो गया हो) समान (प्रशांत) रहने से जो विषयों में किंचित् भी आसक्ति को प्राप्त नहीं होते, ऐसे जो सकल महिमावान् भगवन्त ‘शुद्ध’ (शुद्धोपयोगी) हैं; उन्हें ही मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व जानना। (अर्थात् वे शुद्धोपयोगी मोक्षमार्गरूप हैं) क्योंकि वे अनादि संसार से रचित - बन्द रहे हुए विकट कर्मकपाट को तोड़ने-खोलने के अति उग्र प्रयत्न से पराक्रम प्रगट कर रहे हैं।”

टीका में ‘ज्ञात सकल ज्ञातृतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व’ कहकर आचार्यदेव ने समग्ररूप से प्रवचनसार को याद किया है। वे यहाँ यह कहना चाहते हैं कि ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार से सर्वज्ञता का तथा ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार से ‘उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्’, गुणपर्यवद् द्रव्यम्, स्वरूपास्तित्व व सादृश्यास्तित्व का स्वरूप समझ लेना चाहिए।

तदनन्तर टीका में शुद्धोपयोगी को मोक्षमार्गरूप कहा है। शुद्धोपयोगी भावरूप है; अतः वह मोक्षमार्ग है; किन्तु शुद्धोपयोगी मुनिराज साक्षात् मोक्षस्वरूप है। जिसप्रकार क्रोध तो भाव है; लेकिन कोई व्यक्ति यदि क्रोध से लाल-पीला हो रहा हो, तो उन्हें देखकर यह कहा जाता है कि यदि क्रोध के दर्शन करना हो तो इनके दर्शन कर लो। उसीप्रकार शुद्धोपयोगी तो भाव है; लेकिन यदि कोई साक्षात् मोक्षमार्ग देखना चाहता हो तो यह कह दिया जाता है कि इन शुद्धोपयोगी मुनिराज के दर्शन कर लो। इसप्रकार मुनिराज साक्षात् मोक्षमार्ग के पिण्ड हैं।

यहाँ मुनिराज को साक्षात् मोक्षमार्ग का पिण्ड कहा है। यह मुनियों

के आचरण का प्रकरण होने से सही मुनियों की महिमा बताने के लिए उन्हें मोक्षतत्त्व कहा, मोक्ष का साधन तत्त्व कहा तथा जो इन शुद्धोपयोगी मुनियों की शरण में जावेगा उसके अनन्त संसार का नाश हो जाएगा तथा अल्पकाल में ही मोक्ष चला जाएगा और गलत मुनियों की महिमा हमारे चित्त में से निकालने के लिए उन्हें संसारतत्त्व कहा तथा जो इन भ्रष्ट मुनियों का सेवन करेगा वह अनन्तकाल तक संसार में भटकेंगा।

चक्रवर्ती भी शुद्धोपयोगी मुनियों के पास घण्टों बैठकर चले जाए तो भी मुँह से आशीर्वाद के शब्द भी नहीं निकलें; क्योंकि वे शुद्धोपयोगी मुनिराज तो अपने में मग्न हैं, उन्हें जगत से कुछ लेना-देना नहीं है, उन्हें लोक का संग्रह करना ही नहीं है। अतएव शुद्धोपयोगी मुनियों को साक्षात् मोक्षतत्त्व कहा तथा भ्रष्ट मुनियों को संसारतत्त्व कहा।

इसी संदर्भ में, मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का (अर्थात् शुद्धोपयोगी का) सर्वमनोरथों के स्थान के रूप में अभिनन्दन (प्रशंसा) करनेवाली पंचरत्न की चौथी गाथा की टीका भी दृष्टव्य है -

“प्रथम तो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के युगपदूपनेरूप से प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है - ऐसा जो साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य, ‘शुद्ध’ के ही होता है; समस्त भूत-वर्तमान-भावी व्यतिरेकों के साथ मिलित (मिश्रित), अनन्त वस्तुओं का अन्वयात्मक जो विश्व उसके (१) सामान्य और (२) विशेष के प्रत्यक्ष प्रतिभास स्वरूप जो (१) दर्शन और (२) ज्ञान वे ‘शुद्ध’ के ही होते हैं; निर्विघ्न खिले हुए सहज ज्ञानानन्द की मुद्रावाला (स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द की छापवाला) दिव्य जिसका स्वभाव है ऐसा जो निर्वाण, वह ‘शुद्ध’ के ही होता है; और टंकोत्कीर्ण परमानन्द अवस्थारूप से सुस्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि से गंभीर ऐसे जो भगवान सिद्ध, वे ‘शुद्ध’ ही होते हैं (अर्थात् शुद्धोपयोगी ही सिद्ध होते हैं), वचनविस्तार से बस हो! सर्वमनोरथों के स्थानभूत, मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्वरूप, ‘शुद्ध’ को, जिसमें परस्पर

अंगअंगीरूप से परिणमित भावक-भाव्य के कारण स्व-पर का विभाग अस्त हुआ है - ऐसा भावनमस्कार हो।”

टीका में पहली बात तो यह बताई है कि भूत, भविष्यत् और वर्तमान - ये ऊर्ध्वतासामान्य है और इनका स्वभाव व्यतिरेकी है। यहाँ ‘व्यतिरेकी’ का तात्पर्य यह है कि एक में दूसरे का नहीं होना अर्थात् भूत की पर्याय में वर्तमान की पर्याय नहीं है तथा वर्तमान की पर्याय में भविष्य की पर्याय नहीं है। इसप्रकार इन भूत-भविष्य-वर्तमान की पर्यायों का व्यतिरेकी स्वभाव है तथा गुणों और प्रदेशों का अन्वयी स्वभाव है अर्थात् गुण व पर्याय एकसाथ रह सकते हैं, जैसे :- ज्ञान भी आत्मा के असंख्य प्रदेशों में है तथा सुख भी आत्मा के अनंत प्रदेशों में है। इसप्रकार भगवान आत्मा तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य का पिण्ड है अर्थात् भगवान आत्मा अन्वयों से भी सहित है और व्यतिरेकों से भी सहित है।

तदनन्तर टीका में अन्वय-व्यतिरेकीरूप तथा गुणपर्याययुक्त भगवान आत्मा को सामान्य और विशेष के प्रत्यक्षप्रतिभासस्वरूप कहा है। ‘सामान्य’ का अर्थ दर्शन और ‘विशेष’ का अर्थ ज्ञान है। इसप्रकार शुद्ध भगवान आत्मा के आश्रय से ही पर्याय में शुद्धता की प्राप्ति होती है, इसलिए वह भगवान आत्मा शुद्ध का साधन भी है और शुद्ध भी है।

इसके बाद टीका में यह कहा है कि सभी मनोरथों की पूर्ति आत्मा के आश्रय से ही होगी तथा मोक्षतत्त्व का साधनभूत भी वही शुद्ध आत्मा है, जिसमें परस्पर अंगअंगीरूप से परिणमित भावक-भाव्यता के कारण स्व-पर का विभाग अस्त हुआ है।

आचार्यदेव ने जो अंत में नमस्कार करने की बात कही है; उस संदर्भ में मैं यह कहना चाहता हूँ कि नमस्कार किसको किया जाय और कौन करे? क्योंकि नमस्कार करनेवाला तथा जिसको नमस्कार किया जाय - ये दोनों एक ही हैं। मेरे कहने का मतलब यह है कि द्रव्यनमस्कार की क्या

कीमत है ? मैं मेरे को ही नमस्कार करूँ; क्योंकि यदि दूसरों को नमस्कार करता हूँ तो दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करना पड़ता है; लेकिन अपने को नमस्कार करने के लिए हाथ जोड़ने की जरूरत नहीं है। इसलिए आचार्यदेव ने अपने को नमस्कार करने के लिए कहा है। अपने प्रति जो अपनापन है; वही नमस्कार है; अपनी महिमा के प्रति समर्पण ही नमस्कार है; अपने प्रति अपना जीवन लगा देना ही सबसे बड़ा नमस्कार है। आचार्यदेव ने यहाँ जिस नमस्कार की बात कही है; उसका अर्थ यही है कि अपने उपयोग को सारे जगत से हटाकर ‘शुद्ध’ पर लगाना।

तदनन्तर (भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव) शिष्यजन को शास्त्र के फल के साथ जोड़ते हुए शास्त्र समाप्त करते हैं -

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो ।

जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥२७५॥

(हरिगीत)

जो श्रमण-श्रावक जानते जिनवचन के इस सार को ।

वे प्राप्त करते शीघ्र ही निज आत्मा के सार को ॥२७५॥

जो साकार-अनाकार चर्या से युक्त वर्तता हुआ इस उपदेश को जानता है, वह अल्पकाल में ही प्रवचन के सार को (भगवान आत्मा को) पाता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा जिन दर्शन और ज्ञान उपयोग से जाना जाता है; उन दर्शन और ज्ञान उपयोग से जो मेरी बात समझेगा, वह भगवान की वाणी अर्थात् दिव्यध्वनि के सार को प्राप्त होगा।

इसी संदर्भ में इस गाथा की टीका भी द्रष्टव्य है -

“सुविशुद्ध ज्ञानदर्शन मात्र स्वरूप में अवस्थित परिणति में लगा होने से साकार-अनाकार चर्या से युक्त वर्तता हुआ, जो शिष्यवर्ग स्वयं समस्त शास्त्रों के अर्थों के विस्तार-संक्षेपात्मक श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक प्रभाव द्वारा केवल आत्मा को अनुभवता हुआ, इस उपदेश को जानता

है; वह वास्तव में भूतार्थस्वसंबंध दिव्य ज्ञानानन्द जिसका स्वभाव है, पूर्वकाल में कभी जिसका अनुभव नहीं किया, ऐसे भगवान आत्मा को प्राप्त करता है - जो कि (जो आत्मा) तीनों काल के निरवधि प्रवाह में स्थायी होने से सकल पदार्थों के समूहात्मक प्रवचन का सारभूत है।”

इसप्रकार यहाँ पर प्रवचनसार ग्रंथ की मूल गाथाएँ समाप्त होती हैं। इसके बाद आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने तत्त्वप्रदीपिका टीका के परिशिष्ट में ४७ नयों की चर्चा की है तथा बाद में आचार्यदेव ने कुछ श्लोकों और गद्य के माध्यम से इस प्रवचनसार नामक ग्रंथ के सार को बताया है। परिशिष्ट में आचार्य अमृतचन्द्र शिष्य की ओर से शंका उठाते हुए कहते हैं-

“ननु कोऽयमात्मा कथं चावाप्यत इति चेत्, अभिहितमेतत् पुनरप्यभिधीयते। - ‘यह आत्मा कौन है (कैसा है) और कैसे प्राप्त किया जाता है’ - ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर पहले ही कहा जा चुका है और यहाँ पुनः कहते हैं।”

यह परिशिष्ट की प्रथम पंक्ति है; जिसमें शिष्य शंका करते हुए पूछ रहा है कि यह आत्मा कौन है तथा इसको कैसे प्राप्त किया जा सकता है? आचार्यदेव इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि अरे भाई! इसके पहले समग्र प्रवचनसार में हमने इसी आत्मा को ही तो बताया है; लेकिन फिर भी तुम्हारी जिज्ञासा को देखकर हम इसके बारे में कहते हैं।

प्रवचनसार को समग्ररूप से पढ़ने के बाद यदि कोई यह कहता है कि आत्मा क्या है और कैसे मिलता है? तो यह वैसे ही है, जैसे कोई रातभर रामायण पढ़े और सुबह यह पूछे कि राक्षस कौन था - राम या रावण?

प्रवचनसार में समग्ररूप से आत्मा को समझाने के बाद यदि आचार्यदेव पुनः आत्मा के बारे में समझाते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि आचार्यदेव यह बात समझते हैं कि पूछनेवाला शिष्य कोई साधारण शिष्य नहीं है। जिसने पूरा प्रवचनसार पढ़ा हो; उसके बाद यदि वह पूछ रहा है, तो इसमें कुछ गहराई है।

जिस व्यक्ति ने रामायण सुनी हो, उसको पहले यह बताया गया था कि रावण बुरा आदमी था और राम बहुत अच्छे थे; इसलिए रामायण सुनने का लोभ उसे जागृत हुआ; किन्तु जब उसने रामायण सुनी; तब रामायण सुनने से उसे शक हो गया कि राक्षस कौन था, राम या रावण?

समग्र रामायण सुनने पर उसे शक इसलिए हुआ कि “रावण तो सीता का अपहरण करके ले गया था तथा उसने सीता को अपने घर बहुत आदर-सत्कार के साथ रखा था एवं सीता को रावण ने हाथ भी नहीं लगाया था तथा रावण उसके आगे हाथ ही जोड़ता रहा; किन्तु जब सीता राम के पास वापस आ गई, तब राम ने सीता को बिना बताये जंगल में पशु-पक्षियों के बीच अकेली छोड़ दिया तथा उस समय सीता गर्भवती थी, राम उसके पति थे तथा गर्भ में राम की ही संतान थी - ऐसी परिस्थिति में उस व्यक्ति को यह बात समझ में नहीं आई कि राक्षस राम था या रावण?

जब लक्ष्मण को शक्ति लग गई, तब राम ने रावण से युद्ध बंद करने के लिए कहा तो रावण ने उसी समय युद्ध बंद कर दिया। इसके बाद अष्टान्हिका पर्व में जब दोनों पक्षों से यह तय हो गया कि हम युद्ध नहीं करेंगे; क्योंकि ये आठ दिन धर्म की आराधना के दिन हैं। तदनन्तर जब रावण भगवान के चैत्यालय में बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करने के लिए ध्यान कर रहा था; तब लक्ष्मण आदि ने उसके ध्यान में बहुत विघ्न डाले तथा मायामयी मंदोदरी बनाकर उसकी चोटी पकड़कर रावण के सामने घसीटा तथा रावण से यह भी कहा कि हम तेरी मंदोदरी ले जा रहे हैं। इसप्रकार लक्ष्मणादि ने रावण के धर्मकार्य में विघ्न किये; किन्तु रावण की ओर से किसी ने भी विघ्न नहीं किये। ऐसी स्थिति में पूरी रामायण सुनने पर उस व्यक्ति को शंका हुई; क्योंकि रावण के घर तो सीता सुरक्षित रही; लेकिन राम के घर सुरक्षित नहीं रही। ‘सुरक्षित नहीं रही’ का तात्पर्य यह है कि राम ने सीता को वनवास दे दिया।

इसलिए जिसप्रकार पूरी रामायण सुनने पर उस व्यक्ति को शक हो

गया कि राक्षस कौन था – राम या रावण ? उसीप्रकार समग्र प्रवचनसार पढ़ने के बाद भी शिष्य आत्मा के अन्य धर्मों को भी जानना चाहता है; अतः शिष्य ने यह प्रश्न किया कि आत्मा कौन है तथा कैसे प्राप्त होता है?

एक वैज्ञानिक ने अपने घर में दो बिल्लियाँ पाल रखी थी, उनमें एक छोटी थी और एक बड़ी। जब उस वैज्ञानिक ने अपना मकान बनवाया तो उसने कारीगर से मकान के दरवाजे में दो छेद बनाने के लिए कहा, जिससे बिल्लियाँ आपातकाल में शीघ्रता से बाहर निकल सकें।

उस कारीगर ने दरवाजे में एक बड़ा छेद कर दिया। उस वैज्ञानिक से कहा कि इसमें से दोनों बिल्लियाँ निकल जाएगी। तब वैज्ञानिक ने उस कारीगर को डाँटा और पूछा कि इसमें से बड़ी बिल्ली तो आराम से निकल जाएगी; लेकिन छोटी बिल्ली कहाँ से निकलेगी, तुमने छोटी बिल्ली के निकलने के लिए दूसरा छेद क्यों नहीं बनाया ? तो कारीगर ने कहा कि इसमें से ही छोटी बिल्ली भी निकल जाएगी और वैज्ञानिक को समझाया कि जिसमें से बड़ी बिल्ली निकल सकती है, उसमें से छोटी क्यों नहीं निकलेगी? तथा उस कारीगर ने उन दोनों बिल्लियों को निकालकर भी बताया।

तब वैज्ञानिक उससे कहता है मुझे मूर्ख समझते हो, दोनों निकल तो गईं; किन्तु एक के बाद दूसरी निकली, आगे-पीछे निकलने में समय लगा न और समय का महत्त्व ज्यादा है, अन्य समय में तो बिल्ली को निकलने की आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि एयरकंडीशन और खाने-पीने की व्यवस्था तो अंदर ही है। यह छेद मैंने आपातकाल के लिए बनवाया है, यदि कभी अंदर आग लग जाए तो बिल्लियों को निकलकर भागने के लिए यह छेद बनवाया है। उस समय एक सैकण्ड की भी कीमत होती है; एक बिल्ली निकलेगी तथा उसके बाद दूसरी बिल्ली निकलेगी, तबतक तो दूसरी बिल्ली बेहोश हो जाएगी, अग्नि से जल जाएगी। इसप्रकार वह वैज्ञानिक बहुत दिमागवाला था; लेकिन लोगों ने उसे मूर्ख घोषित कर दिया कि उनको यह समझ में नहीं आया कि एक छेद में दो बिल्लियाँ निकल सकती हैं।

अरे भाई ! वह वैज्ञानिक समय का महत्त्व समझता था; इसलिए उसने दो छेद बनवाने के लिए कहा था। जो लोग अग्नि पर चलते हैं तथा जलते भी नहीं हैं, उसमें 'समय' का ही वैज्ञानिक कारण है। उसमें नियम यह है कि यदि कोई व्यक्ति इतने समय तक अग्नि पर रहेगा तो नहीं जलेगा; लेकिन इससे ज्यादा समय रहेगा तो जलेगा। मान लें कि एक सैकण्ड तक पैर अग्नि पर रहे तो खाल नहीं जलती है; लेकिन यदि एक सैकण्ड से अधिक देर तक पैर अग्नि पर रहेगा तो खाल जल जाएगी।

जो लोग नाचते हुए अग्नि के ऊपर से निकलते हैं तो वे अपना पैर कम समय तक ही अग्नि पर रखते हैं; फिर उठा लेते हैं, इसलिए उनका पैर नहीं जलता है; किन्तु यदि वे ज्यादा समय तक अपना पैर अग्नि पर रखे रहे तो उनके पैर जल जाएंगे। यदि कोई उन नाचनेवालों को देखकर अग्नि पर खड़ा हो जाय तो वह जल जाएगा; क्योंकि नाचने वाले तो समय से पहले ही पहला पैर उठा लेते हैं तब दूसरा रखते हैं। यदि अग्नि की लपट पर से जल्दी हाथ निकाल दिया जाय तो हाथ नहीं जलेगा; लेकिन यदि ज्यादा देर तक हाथ रखा जाएगा तो हाथ जल जाएगा। इसीप्रकार उस छेद में से बड़ी बिल्ली तो बच जाएगी; क्योंकि उसे समय मिल जाएगा; लेकिन छोटी बिल्ली नहीं बच पाएगी; क्योंकि उसे उतना समय नहीं मिलेगा।

इसलिए उस वैज्ञानिक ने जो यह पूछा कि दोनों बिल्लियाँ कैसे निकलेगी? यह प्रश्न मूर्खतापूर्ण नहीं है, अपितु इस प्रश्न में गहराई है। आचार्यदेव यह समझते हैं कि हमने अभी शिष्य को आत्मा के दो-चार धर्म ही बताए हैं, अनंत नहीं तथा शिष्य आत्मा के अनेक धर्मों को जानना चाहता है। अतएव आचार्यदेव परिशिष्ट में ४७ धर्मों के माध्यम से पुनः आत्मा को समझाते हैं।

पच्चीसवाँ प्रवचन

प्रवचनसार परमागम के परिशिष्ट पर चर्चा चल रही है। आत्मा के ४७ धर्मों को जाननेवाले ४७ नयों की चर्चा करते हुए परिशिष्ट में आचार्यदेव कहते हैं -

“यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है - यदि ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर पहले ही कहा जा चुका है और अब पुनः कहते हैं - प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता एक द्रव्य है; क्योंकि उन अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय हैं; उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञान-स्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से वह आत्मद्रव्य प्रमेय होता है।”

न तो अनन्त धर्म गिनाए जा सकते हैं और न ही अनन्त नय बताए जा सकते हैं; क्योंकि वाणी की मर्यादा अनन्त को व्यक्त करने में समर्थ नहीं है। अतः आचार्यदेव यहाँ ४७ नयों के माध्यम से आत्मा के ४७ विशिष्ट धर्मों को समझाते हैं।

एक बात समझने की यह भी है कि समयसार के परिशिष्ट में प्रतिपादित ४७ शक्तियाँ तो गुण, धर्म और स्वभावरूप हैं और प्रवचनसार के परिशिष्ट में प्रतिपादित ४७ नयों के विषय आत्मा के धर्म हैं। नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व आदि जोड़े से रहनेवाले गुणों को धर्म कहते हैं। गुणों की पर्यायें होती हैं और धर्मों की पर्यायें नहीं होतीं।

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा में ये परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्म एकसाथ कैसे रह सकते हैं ?

इसी शंका के समाधान के लिए तथा अनेकान्त की सिद्धि के लिए ४७ नयों का चयन किया; क्योंकि इन ४७ नयों का विषय आत्मा में रहनेवाले ४७ धर्म ही हैं।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, निश्चय-व्यवहार तथा नैगमादि सात नयों से इन ४७ नयों की शैली भिन्न है; क्योंकि द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिकनय का विषय समस्त लोक है। ये नय समस्त लोक को द्रव्य और पर्याय दो भागों में विभाजित कर वस्तुस्वरूप प्रस्तुत करते हैं और निश्चय और व्यवहारनय का विषय आत्मा है। ये नय सम्पूर्ण जगत को स्व और पर में विभाजित कर वस्तुस्वरूप स्पष्ट करते हैं।

नय दो प्रकार के होते हैं - एक तो सिद्धान्त के नय तथा दूसरे अध्यात्म के नय। सिद्धान्त के नय वे नय हैं, जो छहों द्रव्यों पर घटित होते हैं तथा अध्यात्म के नय वे नय हैं, जो मात्र आत्मा पर घटित होते हैं। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयों का विषय क्रमशः द्रव्य और पर्याय हैं तथा निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा अभेद तथा भेद अथवा असंयोग तथा संयोग का ज्ञान कराया जाता है; किन्तु इन ४७ नयों में ऐसा कुछ भी नहीं है। इन ४७ नयों में आत्मा के एक-एक धर्म को ग्रहण करनेवाला एक-एक नय है।

यदि समग्र आत्मा को ग्रहण करना हो, तो उसको एक धर्म से भी ग्रहण किया जा सकता है; क्योंकि आत्मा एक ‘अखण्ड वस्तु’ है।

जिसप्रकार एक किताब को पकड़ने के लिए यह जरूरी नहीं है कि पूरी किताब को पकड़ा जाय, उस किताब का एक कोना पकड़ कर भी पूरी किताब को पकड़ा जा सकता है; उसीप्रकार आत्मा का एक धर्म ग्रहण करने पर पूरे आत्मा का ग्रहण किया जा सकता है; लेकिन हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हमें आत्मा का एक धर्म अभीष्ट नहीं है; अपितु धर्मी आत्मा ही अभीष्ट है। धर्मी का तात्पर्य धर्मात्मा नहीं, अपितु अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता द्रव्य है।

हमें धर्मों को ग्रहण नहीं करना है, अपितु धर्मी को ग्रहण करना है। एक-एक धर्म तो नय का विषय है तथा सम्पूर्ण धर्मी प्रमाण का विषय हैं। हमें नय के विषय को नहीं, अपितु प्रमाण के विषय को ग्रहण करना है।

अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड भगवान आत्मा प्रमाण का विषय है। श्रुतज्ञान प्रमाण से जानी हुई वस्तु अनुभव का विषय है और अनुभव स्वयं प्रमाण है। धर्मी प्रमाण का विषय है तथा धर्म नय का विषय है।

गुरुदेवश्री के प्रवचनों के संग्रह नयप्रज्ञापन में उन्होंने कहा है कि धर्म को नहीं, अपितु धर्मी को ग्रहण करना है; क्योंकि धर्मी प्रमाण का विषय है।

४७ नयों की चर्चा में आचार्यदेव ने सबसे पहले द्रव्यनय और पर्यायनय को लिया; किन्तु ये द्रव्यनय और पर्यायनय द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय की भाँति नहीं है, उनसे एकदम भिन्न हैं।

आत्मा के अनन्त धर्मों में एक 'द्रव्य' नामक धर्म है तथा एक 'पर्याय' नामक धर्म है। यह 'द्रव्य' नामक धर्म गुणों के समूह वाला द्रव्य नहीं है; अपितु आत्मा के अनन्त धर्मों में से एक धर्म का नाम द्रव्य है।

'द्रव्य' शब्द का एक यह भी अर्थ है - यह बात बड़े-बड़े पण्डितों के ध्यान में नहीं है। लोग 'पर्याय' नामक धर्म और गुणों के परिणामनरूप पर्याय - इन दोनों को एक ही समझते हैं; जबकि यह बात प्रवचनसार में तो लिखी ही है, नयप्रज्ञापन में भी है तथा मैंने 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' में इस पर विशेष ध्यान आकर्षित किया है; फिर भी इस ओर लोगों का ध्यान जाता ही नहीं है।

वास्तव में आचार्यदेव ने ४७ नयों का नहीं, अपितु आत्मा के ४७ धर्मों का वर्णन किया है। नय तो उन ४७ धर्मों को विषय बनानेवाले ज्ञान के अंश हैं।

सर्वप्रथम द्रव्यनय और पर्यायनय को समझाने के लिए आचार्यदेव ने पट और तन्तु का उदाहरण दिया है। पट में अनेक ताने-बाने होते हैं। जब कपड़ा बुना जाता है, उस समय जो धागा लम्बाई में रहता है, उसे ताना कहते हैं तथा जो धागा चौड़ाई में रहता है, उसे बाना कहते हैं।

उस वस्त्र को यदि वस्त्रमात्र की दृष्टि से देखेंगे तो वस्त्र ही दिखेगा, ताना-बाना नहीं दिखेंगे। कपड़े में जो ताना-बाना हैं, वे वस्त्र के ही

अंश हैं। यदि कपड़े को ताने-बाने के रूप में देखा जाय तो ताना-बाना ही दिखेगा, कपड़ा नहीं दिखेगा।

उसीप्रकार द्रव्य में एक ऐसा धर्म है जो द्रव्य के तिर्यक् प्रचय और ऊर्ध्वता प्रचय को जोड़ता है, उस धर्म का नाम द्रव्य है। आत्मा को भी यदि द्रव्यनय से देखा जाय तो वह गुणपर्यायरूप नहीं; अपितु गुणपर्याय का अखण्ड पिण्ड दिखाई देगा; द्रव्यनय से न तो उसमें गुण दिखाई देंगे, न ही प्रदेश और न पर्यायें।

इसप्रकार यह द्रव्यनय और पर्यायनय का संक्षिप्त स्वरूप है। इस विषय को समझने के लिए 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' का निम्नांकित कथन उपयोगी है।

“यद्यपि वस्त्र में अनेक ताने-बाने होते हैं, विविध आकार-प्रकार होते हैं, विविध रंग-रूप भी होते हैं; तथापि सबकुछ मिलाकर वह वस्त्र वस्त्रमात्र ही है। ताने-बाने आदि भेद-प्रभेदों में न जाकर उसे मात्र वस्त्र के रूप में ही देखना-जानना द्रव्यनय है; अथवा द्रव्यनय से वह वस्त्रमात्र ही है। ठीक इसीप्रकार चेतनास्वरूप भगवान आत्मा में ज्ञान-दर्शनरूप गुण व पर्यायें भी हैं, तथापि गुणपर्यायरूप भेदों को दृष्टि में न लेकर भगवान आत्मा को एक चैतन्यमात्र जानना द्रव्यनय है; अथवा द्रव्यनय से भगवान आत्मा चिन्मात्र है।”

यहाँ द्रव्यनय और पर्यायनय का विशेष वर्णन करना संभव नहीं है; अतएव पाठकों को अपनी जिज्ञासा की पूर्ति लेखक की कृति 'परमभाव-प्रकाशक नयचक्र' के 'सैतालीस नय' वाले प्रकरण से करना चाहिए।

द्रव्यनय और पर्यायनय के बाद आचार्यदेव ने सप्तभंगी से संबंधित नयों का वर्णन किया है। मैं एक बात यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि ४७ नयों में ३६ नय तो युगल के रूप में हैं तथा ७ नय सप्तभंगी के हैं और ४ नय निक्षेपों के नामवाले हैं।

१. परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ २८०

सप्तभंगी संबंधी सात नय इसप्रकार हैं - (१) अस्तित्वनय, (२) नास्तित्वनय, (३) अस्तित्व-नास्तित्वनय, (४) अवक्तव्यनय, (५) अस्तित्व-अवक्तव्यनय, (६) नास्तित्व-अवक्तव्यनय तथा (७) अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय ।

इन नयों के विषयभूत सात भंगों में तीन भंग असंयोगी, तीन भंग द्विसंयोगी और एक भंग त्रिसंयोगी है ।

आत्मा में एक अस्तित्व नाम का धर्म है और एक नास्तित्व नाम का धर्म है; उस अस्तित्व नामक धर्म को विषय बनाने नय को अस्तित्वनय कहते हैं तथा नास्तित्व नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय को नास्तित्वनय कहते हैं ।

आत्मा में एक अस्तित्व-नास्तित्व नामक धर्म भी है, यह धर्म अस्तित्वधर्म तथा नास्तित्वधर्म का मिलाजुला रूप नहीं है, अपितु पृथक् ही है ।

जिसप्रकार एक 'बिहारी' नाम का व्यक्ति हो, दूसरा 'लाल' नामक व्यक्ति हो तथा तीसरा 'बिहारीलाल' नामक व्यक्ति हो, तो वह बिहारी लाल नामक व्यक्ति बिहारी और लाल नामक व्यक्तियों से भिन्न ही है, उन दोनों का मिला-जुला रूप नहीं । उसीप्रकार आत्मा का अस्तित्व-नास्तित्व नाम का धर्म अस्तित्वधर्म और नास्तित्वधर्म से पृथक् ही है । 'अस्तित्वधर्म और नास्तित्वधर्म का मिला-जुला रूप नहीं है ।'

इसीप्रकार आत्मा में एक 'अवक्तव्य' नामक धर्म है । यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि हम वाणी से बोल नहीं सकते, इसलिए अवक्तव्य है; क्योंकि नहीं बोल पाना हमारी कमजोरी है । उससे आत्मा के धर्म का कोई संबंध नहीं । वास्तव में आत्मा में ही एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण आत्मा को वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता है ।

इसीप्रकार अस्तित्व-अवक्तव्यनय को भी ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यह अस्तित्वनय और अवक्तव्यनय का मिलाजुला रूप है । यह एक

स्वतंत्र धर्म है; जिसे विषय बनानेवाले नय को अस्तित्व-अवक्तव्यनय कहते हैं । इसीप्रकार आत्मा में नास्तित्व-अवक्तव्य धर्म और अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य धर्म भी है और इन्हें विषय बनानेवाले नास्तित्व-अवक्तव्यनय और अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय भी हैं ।

आत्मा के अस्तित्वधर्म, नास्तित्वधर्म, अस्तित्व-नास्तित्वधर्म, अवक्तव्यधर्म, अस्तित्व-अवक्तव्यधर्म, नास्तित्व-अवक्तव्यधर्म और अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यधर्म - इन सात धर्मों को विषय बनानेवाले क्रमशः अस्तित्वनय, नास्तित्वनय, अस्तित्व-नास्तित्वनय, अवक्तव्यनय, अस्तित्व-अवक्तव्यनय, नास्तित्व-अवक्तव्यनय और अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय - ये सात नय हैं ।

उक्त सात नयों को समझाने के लिये आचार्यदेव ने बाण का उदाहरण दिया है । एक आदमी धनुष और बाण को लिये हुए है तथा वह आदमी धनुष के ऊपर बाण को खींचे हुए की अवस्था में है ।

इसमें आचार्यदेव ने द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव को समझाया है । वे कहते हैं कि लोहे का बाण तो द्रव्य है; वह बाण धनुष पर चढ़ा हुआ है - यह उसका क्षेत्र है; वह बाण संधानदशा में है - यह उसका काल है और वह बाण लक्ष्योन्मुख है - यह उसका भाव है ।

इस उदाहरण में बात मात्र बाण की नहीं है, अपितु लोहे के बाण की बात है, धनुष के मध्य में स्थित बाण की बात है, संधानदशावाले बाण की बात है एवं लक्ष्योन्मुख बाण की बात है ।

इसीप्रकार आत्मा भी स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से हैं एवं परद्रव्य क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है ।

आत्मा में जो अस्तित्व नामक धर्म है, उसका काम आत्मा के अस्तित्व को कायम रखना है । आत्मा के नास्तित्वधर्म के कारण पर का आत्मा में प्रवेश संभव नहीं है । इसी धर्म के कारण आत्मा के चारों ओर एक वज्र की सी दीवार बनी हुई है, जिसके कारण परद्रव्य आत्मा में

प्रवेश नहीं कर सकते। यह वज्र की दीवार मात्र बाहर-बाहर नहीं है, अपितु आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर खचित है अर्थात् भगवान आत्मा में ऐसी शक्ति विद्यमान है कि परद्रव्य उसमें प्रवेश नहीं कर सकते, उसी शक्ति का नाम नास्तित्व धर्म है। अस्तित्व-नास्तित्वधर्म आत्मा को ऐसी सामर्थ्य प्रदान करता है कि जिसके कारण आत्मा में अस्तित्व और नास्तित्व - दोनों धर्म एकसाथ रहते हैं।

आत्मा के अवक्तव्य धर्म के कारण आत्मा की स्थिति वाणी में पूरी तरह नहीं आ सकती, यह वाणी की कमजोरी नहीं है, अपितु आत्मा का ही एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण आत्मद्रव्य वाणी में पूर्णरूप से कहने में नहीं आ पाता।

‘अस्तित्वधर्म और अवक्तव्यधर्म’ - ये दोनों आत्मा में एकसाथ रहें - ऐसी सामर्थ्य को प्रदान करनेवाला अस्तित्व-अवक्तव्यधर्म है; इसीप्रकार ‘नास्तित्वधर्म और अवक्तव्यधर्म’ - ये दोनों आत्मा में एकसाथ रहें - ऐसी सामर्थ्य को प्रदान करनेवाला नास्तित्व-अवक्तव्यधर्म है और ‘अस्तित्वधर्म, नास्तित्वधर्म तथा अवक्तव्यधर्म’ - ये तीनों आत्मा में एकसाथ रहें - ऐसी सामर्थ्य को प्रदान करनेवाला अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यधर्म है।

विकल्पनय और अविकल्पनय का स्वरूप आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार लिखते हैं -

“विकल्पनयेन शिशुकुमारस्थविरैकपुरुषवत् सविकल्पम्, अविकल्पनयेनैकपुरुषमात्रवदविकल्पम्। - आत्मद्रव्य विकल्पनय से बालक, कुमार और वृद्ध - ऐसे एक पुरुष की भाँति सविकल्प हैं और अविकल्पनय से एक पुरुषमात्र की भाँति अविकल्प है।”

भगवान आत्मा में एक ‘भेद’ नामक धर्म है और एक ‘अभेद’ नामक धर्म भी है। भेद नामक धर्म को विकल्पधर्म कहते हैं और अभेद नामक धर्म को अविकल्पधर्म कहते हैं।

जिसप्रकार एक ही पुरुष बालक, जवान और वृद्ध - इन अवस्थाओं का धारण करनेवाला होने से बालक, जवान एवं वृद्ध - ऐसे तीन भेदों में विभाजित किया जाता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा भी ज्ञान, दर्शनादि गुणों एवं मनुष्य, तिर्यच, नरक, देवादि अथवा बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा आदि पर्यायों के भेदों में विभाजित किया जाता है।

जिसप्रकार बालक, जवान एवं वृद्ध अवस्थाओं में विभाजित होने पर भी वह पुरुष खण्डित नहीं हो जाता, रहता तो वह एकमात्र अखण्डित पुरुष ही है। उसीप्रकार ज्ञान-दर्शनादि गुणों एवं नरकादि अथवा बहिरात्मादि पर्यायों के द्वारा भेद को प्राप्त होने पर भी भगवान आत्मा रहता तो एक अखण्ड आत्मा ही है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक विकल्प नामक धर्म है, जिसके कारण आत्मा गुण-पर्यायों के भेदों में विभाजित होता है और एक अविकल्प नामक धर्म है, जिसके कारण आत्मा अखण्डित रहता है। भेद नामक धर्म को विषय बनानेवाला नय विकल्पनय है और अभेद नामक धर्म को विषय बनानेवाला नय अविकल्पनय है। इन विकल्प और अविकल्प नयों को क्रमशः भेदनय और अभेदनय भी कहा जा सकता है।

विकल्पनय और अविकल्पनय के बाद चार निक्षेपोंवाले नय हैं। जिनके नाम नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय हैं।

आत्मा में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव नामक धर्म हैं और इन नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव नामक धर्मों को विषय बनानेवाले नयों को क्रमशः नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय कहा जाता है।

नामकरण संबंधी समस्त व्यवहार नामनिक्षेप या नामनय से होता है और ये पंचकल्याणक महोत्सव आदि सब स्थापना निक्षेप से होते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि ‘मूर्तियाँ नहीं बनानी चाहिए; क्योंकि मुसलमान तोड़ देते हैं। अरे भाई ! यह तो तात्कालिक बात थी; किन्तु

वस्तुव्यवस्था तो त्रैकालिक है। संकट के काल में यदि किसी ने हमारा मकान तोड़ दिया, तो हम यह थोड़े ही कहेंगे कि मकान नहीं बनाना चाहिए अर्थात् बिना मकान के रहना चाहिए। कल कोई यदि हमारे कपड़े छीन लेगा तो फिर हम यह थोड़े ही कहेंगे कि कपड़े नहीं पहनना चाहिए; क्योंकि यदि हम कपड़े पहनेंगे तो लोग छीनेंगे।

आत्मा को भूत और भावी पर्यायों सहित जानना द्रव्यनय है और वर्तमान पर्यायसहित जानना भावनय है। सेठ के बालक को भविष्य में सेठ ही बनना है; इसकारण उसे वर्तमान में भी सेठ कहना द्रव्यनय का काम है और पूजन करते हुए मुनीम को भी पुजारी कहना भावनय का काम है। इसप्रकार के व्यवहार लोक और शास्त्रों में भी सर्वत्र देखे जा सकते हैं।

इसप्रकार नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय - ये चार निक्षेपसंबंधी नय हैं।

तदनन्तर सामान्यनय और विशेषनय का स्वरूप आचार्यदेव इसप्रकार बतलाते हैं -

“सामान्यनयेन हारस्रग्दामसूत्रद्वयापि, विशेषनयेन तदेकमुक्ता फलवदव्यापि। - आत्मद्रव्य सामान्यनय से हार-माला-कंठी के डोरे की भाँति व्यापक है और विशेषनय से उसके एक मोती की भाँति अव्यापक हैं।”

यहाँ आचार्यदेव ने सामान्यनय और विशेषनय को समझाने के लिए हार को उदाहरण बनाया है। हार मात्र डोरा और मोती का नाम नहीं है। ये दोनों तो उसमें हैं ही; लेकिन हार में दोनों का एक विशेष अवस्था में गुथा होना भी शामिल है। मोती यदि अलग रखे हो तथा डोरा अलग जगह रखा हो, तो उन्हें हम हार नहीं कह सकते। डोरे में व्यवस्थितरूप से मोतियों के गुथे होने का नाम हार है।

अब यदि उस हार को डोरा की तरफ से देखा जाय, तो हर मोती में डोरा है, इसलिये अखण्ड है; किन्तु यदि डोरा की ओर न देखकर एक-

एक मोती की ओर देखा जाय तो मोती जुदे-जुदे हैं। सामान्यनय से हार एक है और विशेषनय से अनेक। वस्तु में ये दोनों ही बातें एकसाथ हैं। हम जिस धर्म की ओर देखेंगे, हमें वही धर्म दिखाई देगा तथा जिसकी ओर नहीं देखेंगे, वह धर्म दिखाई नहीं देगा।

इसप्रकार जिस दृष्टि से वस्तु को देखा जाय; वस्तु वैसी ही दिखती है। ‘एक को गौण करके एक को देखना’ यह आत्मा की विशेषता है, दोष नहीं। हम वस्तु को जिस धर्म की ओर से देखेंगे, हमें वह वस्तु उसी धर्ममय दिखाई देगी और जिसकी ओर से उसे नहीं देखेंगे, उस धर्ममय नहीं दिखाई देगी।

इसप्रकार आत्मद्रव्य सामान्यनय से हार-माला-कंठी के डोरे की भाँति व्यापक है और विशेषनय से उसके एक मोती की भाँति अव्यापक है।

इसके बाद आचार्यदेव ने सर्वगतनय और असर्वगतनय की चर्चा की है। आत्मा सबको जानता है, इस दृष्टि से आत्मा सर्वगत है और सभी पदार्थों में जाता नहीं है तथा पदार्थ उसमें आते नहीं हैं, इसलिये वही आत्मा असर्वगत है।

यहाँ पर सर्वगतनय और असर्वगतनय, शून्यनय और अशून्यनय, ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय और ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय - ये तीन जोड़े हैं।

समयसार में आचार्यदेव ने ४७ शक्तियों में पहले दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति को कहने के बाद फिर सर्वदर्शित्वशक्ति और सर्वज्ञत्वशक्ति को भी कहा; क्योंकि ज्ञानशक्ति में तो यह बताया था कि जानना आत्मा का स्वभाव है; फिर सर्वज्ञत्वशक्ति में यह बताया कि सबको जानना आत्मा का स्वभाव है। इसीप्रकार दृशिशक्ति और सर्वदर्शित्वशक्ति के संबंध में भी समझना चाहिए।

इसीप्रकार सर्वगतनय और असर्वगतनय, शून्यनय और अशून्यनय, ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय और ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय - ये सभी जानने से अर्थात् जानने की प्रक्रिया से ही संबंधित हैं।

आत्मा सर्वगत है अर्थात् सबको जानने का उसका स्वभाव है; धर्म है। सबको जानना आत्मा का विकार नहीं है। पर को जानने का जो यह स्वभाव है, वह दृष्टि के विषय में शामिल है; क्योंकि यह स्वभाव आत्मा का गुण है, धर्म है।

आत्मा में एक असर्वगत नामक धर्म भी है, जिसके कारण आत्मा अपने में से निकलकर कहीं जाता नहीं है।

अशून्यनय के कारण आत्मा सबको जानता है, सभी ज्ञेय आत्मा के जानने में आते हैं अर्थात् आत्मा पर से शून्य नहीं है। शून्यनय के कारण पर को जानते हुए भी पर ने आत्मा में रंचमात्र भी प्रवेश नहीं किया।

जिनको ऐसा डर लगता है कि यदि आत्मा पर को जानेगा तो पर आत्मा में प्रविष्ट हो जाएंगे और आत्मा पर में प्रविष्ट हो जाएगा; उनको शून्यनय का स्वरूप समझना चाहिए। कितने ही पर जानने में आवें अथवा यह पर को कितना भी जाने; परन्तु शून्यनय से आत्मा पर से सदा शून्य ही रहेगा।

आत्मा में ज्ञानज्ञेय-द्वैत नामक एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण ज्ञान में ज्ञेय आते हैं; लेकिन मिलते नहीं हैं, उनमें द्वैतपना अर्थात् जुदाजुदापना बना रहता है। आत्मा में ज्ञानज्ञेय-अद्वैत नामक एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण ज्ञेय पूरीतरह जानने में आ जाते हैं अर्थात् एकाकार हो जाते हैं।

ज्ञेय आत्मा में पूरी तरह मिल भी जाते हैं और नहीं भी मिलते हैं - ऐसा आत्मा का अनेकान्तस्वभाव है।

सर्वगतादि नयों के संदर्भ में 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं -

“सर्वगत, असर्वगत, शून्य एवं अशून्य नयों के माध्यम से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह भगवान आत्मा ज्ञेयों को जानता तो है; पर उनमें जाता नहीं, उनमें प्रवेश नहीं करता। इसीप्रकार ज्ञेय ज्ञान द्वारा जाने तो जाते हैं, पर वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते।

ज्ञान ज्ञान में रहता है और ज्ञेय ज्ञेय में रहते हैं; दोनों के अपने-अपने में सीमित रहने पर भी ज्ञान द्वारा ज्ञेय जाने जाते हैं।

इसी वस्तुस्थिति को ये नय इसप्रकार व्यक्त करते हैं - सब ज्ञेयों को जानने के कारण आत्मा सर्वगत है और ज्ञेयों में न जाने के कारण असर्वगत हैं तथा ज्ञान में ज्ञेयों के अप्रवेश के कारण आत्मा ज्ञेयों से शून्य है, खाली है और ज्ञेयों को जानने के कारण ज्ञेयों से अशून्य है, भरा हुआ है।

इतना जान लेने पर भी यह जिज्ञासा शेष रह जाती है कि ज्ञान में ज्ञात होते हुए ज्ञेय ज्ञान से भिन्न हैं या अभिन्न हैं; वे ज्ञेय ज्ञान से अद्वैत हैं, एकमेक हैं या द्वैत हैं, अनेक हैं ?

इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए यहाँ कहा जा रहा है कि ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से ज्ञान में झलकते हुए ज्ञेयपदार्थ ज्ञान से अभिन्न हैं, अद्वैत हैं, एक हैं और ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय से ज्ञान में झलकते हुए ज्ञेयपदार्थ ज्ञान से भिन्न हैं, द्वैत हैं, अनेक हैं।^१”

तदनन्तर आचार्य स्वभावनय और अस्वभावनय का स्वरूप इसप्रकार समझाते हैं -

“स्वभावनयेनानिशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्यकारि ।
अस्वभावनयेनायस्कारनिशिततीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्यकारि ।
- आत्मद्रव्य, स्वभावनय से, जिसकी किसी के द्वारा नोक नहीं निकाली जाती, ऐसे पैसे काँटे की भाँति संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है और अस्वभावनय से, जिसकी नोक लुहार के द्वारा संस्कार करके निकाली गई है, ऐसे पैसे बाण की भाँति, संस्कार को सार्थक करनेवाला है।”

बहुत लोग ऐसा कहते हैं कि बच्चों में धार्मिक संस्कार डालना है तो आत्मा को संस्कारित किया जा सकता है या नहीं ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा को संस्कारित किया भी जा सकता है और नहीं भी किया जा सकता है। यह जैनधर्म का अनेकान्त है।

१. परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ३११, ३१२

जिसप्रकार काँटे की नोक किसी ने बनाई नहीं है, असंस्कारित है, अकृत्रिम है, काँटे का मूलस्वभाव है; उसीप्रकार भगवान आत्मा का मूलस्वभाव असंस्कारित है, अकृत्रिम है, किसी का बनाया हुआ नहीं है; उसमें किसी भी प्रकार का संस्कार संभव नहीं है। अतः वह भगवान आत्मा स्वभावनय से संस्कारों को निरर्थक करनेवाला कहा गया है।

तथा जिसप्रकार बाण की नोक लुहार द्वारा बनाई गई है; अतः संस्कारित है, कृत्रिम है; उसीप्रकार भगवान आत्मा के पर्यायस्वभाव में संस्कार किया जा सकता है; अतः अस्वभावनय से भगवान आत्मा संस्कारों को सार्थक करनेवाला कहा गया है।

आत्मा में एक धर्म तो ऐसा है कि जिसके कारण उसमें संस्कार नहीं डाले जा सकते और दूसरा धर्म ऐसा है कि जिसके कारण समस्त संस्कारों से वह अप्रभावित रहता है। 'चंदनविष व्यापै नहीं, लिपटे रहत भुजंग'। इस धर्म का नाम स्वभावधर्म है। आत्मा में एक ऐसा धर्म भी है कि उसे संस्कारित किया जा सकता है। जैसे कहा जाता है -

संगति ही गुण ऊपजे, संगति ही गुण जाय।

बाँस फाँस और मीसरी, एक ही भाव बिकाय ॥

इस धर्म का नाम अस्वभावधर्म है तथा आत्मा के इन स्वभावधर्म और अस्वभावधर्म को विषय बनाने वाले नयों को स्वभावनय और अस्वभावनय कहा जाता है।

यदि आत्मा को संस्कारित नहीं किया जा सकता होता तो देशना-लब्धि का कोई मतलब ही नहीं है तथा यदि संस्कार से ही काम होता तो निसर्गज सम्यग्दर्शन होता ही नहीं तथा यदि अन्दर में योग्यता हुए बिना मात्र देशना से ही सम्यग्दर्शन होता तो पत्थर को सम्यग्दर्शन हो जाता; क्योंकि उसे भी देशना सुनने मिल जाती है।

अरे भाई ! जिस कपड़े में स्वभाव से स्वच्छता है, वही कपड़ा साबुन से साफ हो सकता है; संस्कारित किया जा सकता है।

इसप्रकार भगवान आत्मा स्वभावनय से संस्कारों को निरर्थक करने

वाला कहा गया है तथा अस्वभावनय से भगवान आत्मा संस्कारों को सार्थक करनेवाला कहा गया है।

इसप्रकार यहाँ ४७ नयों में से कुछ नयों का नमूने के तौर पर स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया; किन्तु अभी अनेक ऐसे नय हैं, जिनका स्वरूप समझना आत्मकल्याण की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है; अतः जिज्ञासु पाठकों से मेरा विशेष अनुरोध है कि वे परमभावप्रकाशक नयचक्र के ४७ नयों संबंधी प्रकरण का गहराई से अध्ययन अवश्य करें।

प्रवचनसार में समागत उक्त ४७ नयों के संदर्भ में आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का संकलन 'नयप्रज्ञापन' का भी स्वाध्याय करना अत्यन्त उपयोगी है।

भगवान अरिहंत की दिव्यध्वनि के सारभूत इस प्रवचनसार ग्रन्थाधिराज में तीन महाधिकारों के माध्यम से यह समझाया गया है कि इस भगवान आत्मा का स्वभाव सबको जानने-देखने का है और सम्पूर्ण जगत का स्वभाव इस भगवान आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय बनने का है।

तात्पर्य यह है कि जगत का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है कि जो किसी न किसी के ज्ञान का विषय न बना हो, जाना नहीं गया हो और कोई आत्मा भी ऐसा नहीं है कि उसने किसी को आज तक जाना ही न हो।

उक्त महासत्य के प्रतिपादन के लिए इसके ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार समर्पित हैं।

उक्त अधिकारों में शुद्धोपयोग-शुभोपयोग, अतीन्द्रियज्ञान-अतीन्द्रियसुख और इन्द्रियज्ञान-इन्द्रियसुख का तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, महासत्ता-अवान्तरसत्ता, छहों द्रव्यों का स्वरूप आदि बताकर ज्ञान और ज्ञेयों के बीच भेदज्ञान कराने का सफल प्रयास किया गया है।

अन्तिम अधिकार चरणानुयोगसूचक चूलिका में श्रमणों के आचरण का सुन्दरतम विवेचन है।

इसप्रकार यह ग्रन्थाधिराज अपने में वह सबकुछ समेटे है कि जिसका आत्महित के लिए जानना अत्यन्त आवश्यक है। ●